मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन

(आलोचनात्मक, समीक्षात्मक तथा
सैद्धान्तिक निबन्धों)

लेखक
डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय



चिन्मय प्रकाशन

लेखक : डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

प्रकाशक : चिन्मय प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003

संस्करण : प्रथम 1986

मूल्य : एक सौ रुपये

मुद्रक : वी. के. कम्पोजिंग सेन्टर
809, रावों का चौक, जाट के कुए का रास्ता, चाँदपोल बाजार, जयपुर-1

प्रस्तुति

"मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन" के पूर्व "जलते और उबलते प्रश्न" तथा "बिन्दु प्रति बिन्दु" में मेरे आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए थे। उक्त दोनों पुस्तकों में संकलित आलोचनात्मक लेखन के बाद के कतिपय निबन्ध "मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन" में जा रहे है।

इनमें "साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन" और "आलोचना की आधुनिक प्रणालियों" में सिद्धान्त और उससे भी अधिक पद्धति या प्रणाली की गवेषणा है। इस खोज और मीमांसा मे सातत्य रहेगा क्योंकि यह लगातार साहित्यवेत्ताओं के चिन्तन-मनन और अन्वेषण-विश्लेषण का विषय है और साहित्यिक सृजन के लगातार बदलते रूपों एवम् प्रकारों से विश्लेषण की वस्तुगत पद्धतियो के आविष्कार की समस्या सदा बनी रहेगी, आविष्कृत पद्धति और प्रणालियों मे निरन्तर परिशोधन होते रहेंगे, विश्लेषण-अस्त्रों (एनालेटीकल टूल्स) में वृद्धि और परिष्कृति होती जाएगी।

अतः साहित्य की इस प्रकार की मीमांसा में द्वन्द्वात्मक दृष्टि की युक्तता के कारण पद्धतिनिर्धारण में किसी अन्तिम सत्य तक पहुँचने के दावे की जगह इन निबन्धों में एक सोचता हुआ और सोच-विचार के लिए पाठक को प्रेरित करता हुआ मस्तिष्क मिल सकता है। ज्ञान और विश्लेषण जिस गति से विकसित हो रहा है और वह जितनी शाखाओं मे बढ़ रहा है, आज उसकी अभिज्ञा, उसकी जानकारी रख पाना ही दुःसाध्य हो रहा है, उस पर अपने विश्वबोध के आलोक में सोचकर किसी प्रत्यय और पद्धति की युक्तता का निर्धारण और दृष्टान्तो का प्रस्तुतीकरण तो अत्यन्त कठिन है।

किन्तु "मीमांसा" का अर्थ और चुनौती यही है कि साहित्य के विश्लेषण के लिए नवीनतम प्रत्ययों और पद्धतियो का परिचय हो और अवधारणाओं और अभिमतो की टकराहट के साथ सुनिश्चित् वस्तुगत कृति और प्रवृत्ति–विश्लेषण की पद्धति सामने आये; विश्लेषण के नमूने पेश किए जाएँ।

मैं समझता हूँ, इस लक्ष्य की ओर बढ़ने मे इस पुस्तक की साहित्य मीमांसा से कुछ मदद मिल सकती है।

"मीमांसा और पुनर्मूल्यांकन" में शेष निबन्ध पुनर्व्याख्या और पुनर्मूल्याकन से सम्बन्धित है, जिनमें नए बिन्दु, तर्क और तथ्य प्रस्तुत किए गए है। इनमें "महाभारत में यथार्थ" तो वर्षो के पाठ-अध्ययन (टैक्स्टस्टडी) का परिणाम है। इसमें परम्परा को आधुनिक द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखकर, मिथकों-भ्रमों और फंतासियों को मथकर वास्तविकता का सधान किया गया है। दरअसल, ऐसे निबन्ध अपने मे स्वतन्त्र पुस्तक जैसे होते है और उनकी प्रस्तुति आलोचनात्मक होने पर भी वे विस्तृत शोध से उपजते है।

"भारतीय सस्कृति" के मूल बिन्दु भारतीय महाकाव्यो मे है, विशेषकर "महाभारत" मे धर्म या मानवमूल्य की मीमासा बहुत गहन और जटिल है। मैने

पाया है कि प्रधिदर्शनों में मानव मूल्य की समस्या जो निरपेक्ष सी हो जाती है, वह हमारे महाकाव्यों, विशेषकर महाभारत में सापेक्ष (रिलेटिव : रिलेशनल) रूप में मिलती है क्योंकि महाभारत मे मूल्य को मानवहित और परिस्थिति से निरपेक्ष रूपेण नही देखा गया। अत "भारतीय सस्कृति" की जो मानवातीत, अन्धविश्वास-परक व्याख्या करते हैं, वे दिग्भ्रमित है, भ्रामक भी।

"भक्ति के उदय" का भी यही महत्त्व है।

कबीर, सूरदास, सन्त चरणदास और बिहारी की प्रासंगिकता बार-बार प्रश्नचिह्नित की जाती रही है और अभी भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास के प्रभाव से, इन कवियो के विषय में दृष्टिसकोच और हृदयसंकोच प्रचलित है। इनकी कविता की मानवीय और सामाजिक भूमिका के विषय मे पाठक को यहा नए परिप्रेक्ष्य, नए तर्क और नुक्ते मिलेंगे, ऐसा मेरा विचार है।

आलोचना, एक सीमा तक, एक निरन्तर सचरणशील वाद-विवाद (जो वितडा भी बन जाया करती है पर उससे भी रोचक आलोचनात्मक गद्य की रचना होती है!) पालिमिक्स या शास्त्रार्थ की शक्ल मे विकसित होती है। प्रासंगिकता की खोज मे, इस पुस्तक के पुनर्मूल्यांकनपरक निबन्ध, इस बहस में भाग लेते है और प्रत्येक निबन्ध मे अब तक उपेक्षित, विस्मृत या नेपथ्यीकृत विचार बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

इनमे "भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य शुक्ल" जैसा निबन्ध भी है जो पाठ-अध्ययन और पाठाधारित पुनर्व्याख्या पर आधारित है।

मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द, महादेवी, डा. रांगेय राघव, हरिशकर परसाई इत्यादि के विषय मे एक नए प्रत्यक्षीकरण या परिप्रेक्ष्य से परिचय होगा और नया विचारोत्तेजन भी।

चिन्मय प्रकाशन, जयपुर के स्वत्वाधिकारी श्री ताराचन्द वर्मा ने मेरे आलोचनात्मक लेखन को दो जिल्दो मे प्रकाशित करने की पेशकश की और इतनी त्वरा और सुचारुता से पहली पुस्तक, 'मीमासा और पुनर्मूल्यांकन" प्रकाशित की, इसके लिए लेखक आभारी है। सह लेखक डॉ मंजुल उपाध्याय के बिना इन निबंधो का लेखन असम्भव था। मंजुल ने विविध प्रकार से लेखन मे सहयोग दिया है अतः उनका योगदान कम नही है।

श्री सुभाष वर्मा (पुत्र श्री ताराचन्द वर्मा, चिन्मय प्रकाशन) के कठिन परिश्रम के बिना यह पुस्तक छप नही सकती थी अत. वह मेरी प्रशंसा और शुभाशंसा के पात्र है।

—विश्वम्भर नाथ उपाध्य

समर्पण

आचार्य

डा० रमाकान्त पाठक

हिन्दी विभागाध्यक्ष,

एल. एन. मिथिला विश्वविद्यालय,

दरभंगा

को

सादर

क्रम

पृष्ठ

1 साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन

क्या साहित्य का समाजशास्त्र सम्भव है ? क्या वैयक्तिक और चेतना के अनिर्वचनीय, गूढ़ और अव्यख्येय से प्रतीत होने वाले आयामों, उद्गालों और अति-क्रमणशील या सर्वातीत (Transcental) आभासों या आलोको की समाजशास्त्रीय पद्धति पर व्याख्या हो सकती है ?

ज्ञान के समाजशास्त्र (Sociology of Knowledge) में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। संज्ञान (Cognition) संवेदन, सम्बोध, बोध या आभास या अन्तर्दृष्टि, ये सब ज्ञान के प्रकार है। जिसे साहित्य और कला द्वारा साक्षात्कृत या अनुभूत (Feeling or experience) कहा जाता है, वह भी संज्ञान या कागनीशन के व्यापक वृत्त के भीतर ही आ जाता है क्योंकि साहित्य और कला की चरम दशा में, तन्मयता की स्थिति में, एक क्षण के लिए, संबोधि-विस्मृति के पश्चात् और पूर्व, दोनो अनुभूति सोपानो में संज्ञान रहता है और साहित्य और कला के दर्शन या साक्षात्कार की प्रक्रिया में विचारणा चलती रहती है या चलती रह सकती है।

अतएव यदि संज्ञान का समाजशास्त्र बन सकता है तो व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यंजित साहित्य और कला का भी समाजशास्त्र बन सकता है। कारण यह है कि किसी भी प्रकार के मानव ज्ञान या अनुभूति-प्रत्यूह का एक सामाजिक सन्दर्भ होता है और संज्ञान या अनुभव की प्रकृति व्यक्तिगत होने पर भी, यदि उसमें प्रवाह होता है, यदि उसकी परम्परा बनती है तथा यदि वह एक व्यक्ति तक सीमित न रह कर अन्य व्यक्तियों में संक्रमित-सम्प्रेषित होती है तो उसमें एक विन्यास या प्रतिरूप (पैटर्न) दिखाई पड़ने लगता है। व्यक्ति अपने दिक्‌:काल और समाज से प्रभावित होता है। कभी-कभी प्रतिवर्तित और नियमित भी होता है और तब साहित्य, कला, धर्म साधना जैसी अनिवर्चनीय सी लगने वाली मानव-चेतना की गतियों का समाजशास्त्र बनने लगता है। तत्वमीमांसा के आधार पर कार्ल मार्क्स और कार्ल मैनहायम ने मनुष्य के ज्ञान या विचार-प्रवाह को विकासवादी दृष्टि से देखकर, अधिरचना और आधार सम्बन्ध (Structure and Super Structure) के बल पर ज्ञान-सोपानों और समाज के मूलाधार या आर्थिक सोपान की व्याख्या की।

कार्ल मैनहायम ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "विचारधारा और मनोराज्य"—आइडियालोजी एण्ड यूटोपिया—मे ज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या की है। इस दृष्टि से ज्ञान, योग, रहस्यवाद, साहित्य और कला आदि सभी की समाजशास्त्रीय व्याख्या हुई है और उसी से यह तथ्य सामने आया है कि भ्रमात्मक ज्ञान या मिथ्या-चेतना (धर्म, अविदर्शन आदि) और वास्तविक ज्ञान मे अन्तर किस तरह किया जाय। मानव सज्ञान और अनुभूति-प्रत्यूह को ऐतिहासिक-सामाजिक विकास के साथ ही, वैज्ञानिक या वस्तुगत पद्धति पर समझा जा सकता है मात्र विवेकवाद (रैशनलिज्म) और सत्वतर्क-मीमासा के आधार पर नही क्योंकि इस क्षेत्र में विश्वासों का वैविध्य, बाहुल्य और परस्पर विपरीतता है एव तर्क, विवेक या रीजन, विश्वासों के साधन बन जाते है जैसा कि ब्रह्म सूत्र मे कहा भी गया है—तर्कप्रतिष्ठा नाऽस्ति।

श्रीकृष्ण ने, महाभारत मे एक प्रसग में जिस प्रकार मानव सत्य को मानव-हित से स्वतन्त्र नही माना था, उसी प्रकार विश्लेषण पद्धति से, कार्ल मैनहायम ने विचारधाराओ के नेपथ्य मे मानवहित (interests) को देखा। हितों और सत्यो मे समानान्तरता स्थापित करने के प्रयत्न अमूर्तता की सृष्टि करते है। यानी जिन्हे दिव्यसत्य या "रिवील्ड ट्रुथ" कहा जाता है, वे भी हितों से विच्छिन्न करके नही देखे जा सकते। हित या स्वार्थ, व्यक्तिगत, जातीय, राष्ट्रीय, वैश्विक, आर्थिक और अर्थातीत या आध्यात्मिक हो सकते है।

योगज क्रियाओ की व्याख्या शरीरशास्त्रीय मनोविज्ञान का विषय है, यह सच है तथापि योग और रहस्यमय अनुभवों के युग-युगीन प्रवाह या परम्परा की प्रकृति को समाजशास्त्र ही समझा सकता है।

इसके समानान्तर अमरीकी समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति और समाज के बीच प्रकार्यात्मक (फन्क्शनल) सम्बन्ध प्रदर्शित किया। जॉन ड्यूई, एच. कूले, विलियम जेम्स और जार्ज हर्बर्ट मीड ने यही प्रकार्यात्मक पद्धति अपनाई है। जॉन ड्यूई कहता है कि शुद्ध विचार या शुद्ध विवेक की धारणा असम्भव है। इसका निहितार्थ यह है कि "शुद्धकला", "शुद्धकविता" जैसी संकल्पनाए मात्र कल्पनाप्रसूत है। वे सच नही है क्योंकि प्रत्यय (कन्सेप्ट्स) जीवनानुरंजित होते है।

ज्ञान के समाजशास्त्र मे आत्मा, परमात्मा जैसे प्रत्ययो की भी समाजशास्त्रीय व्याख्या की गई है। कूले, चार्ल्स मैंज तथा हर्बर्ट मीड के ग्रन्थो का इस दृष्टि से महत्व है। चार्ल्स मैंज ने, "सोसायटी इन माइण्ड" में लिखा है कि मस्तिष्क समाज ही है। ब्रूहल और दुरखीम के अनुसार आदिम या आर्कीटायप्स का अध्ययन हमारे विचारो की प्रक्रिया के रहस्य को प्रकाशित कर सकता है—

"जैसे बच्चे वस्तुओ से खेलते है, उन्हे जीवित मानते है, उसी तरह आदिम युग के मनुष्य चीजो से बोलते थे। तब प्रत्येक व्यक्ति कवि था। प्रकृति से नाता टूटने पर अब सब गद्यमय हो गया है।"

दुरखीम का मत है कि धर्म कविता का ही एक
ग्रौर भावना की भरमार होती है।

कूले ने लक्ष्य किया था कि मनुष्य में जो ग्रात्म
होती है वह प्रदत्त नही दिव्य ग्रौर ईश्वरीय नही,
है।[1] शिशु को मानव समाज से पृथक कर देने पर उस
नहीं होता। यह तो ठीक है कि मनुष्य मे प्रकृति प्रदत्त
उसका विकास, समाज मे ही सम्भव है[2] ग्रतः साहित्य हो
ग्रध्यात्म, सबका समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन सम्भव है।

साहित्य को जो ग्रात्माभिव्यक्ति, ग्रात्माभिव्यंजन
कहा गया है, वह ग्रसत्य नही है परन्तु इस प्रकार
"ग्रात्मा के समाजशास्त्र" से ही खुल सकती है।

इसी विधि पर लोक (folk) समाजशास्त्र मे "
प्रत्यय विकसित हुए है ग्रौर इसी पद्धति पर "सामूहिक
हुग्रा है। साहित्य की कोई वस्तुगत समझ इसके बिना ह
के लिए साहित्य मे जो साधारणीकरण या सम्प्रे
है, वह-ग्रुप समाजशास्त्र या "समूह-समाजशास्त्र" के वि
बल पर कभी पूर्णतः स्पष्ट नही हो सकती।[3] इसी त
माए मात्र शब्द शक्तियाँ नहीं समझा सकती। सच तो
रहस्य भी समाज मनोविज्ञान के सहयोग से ही खुल सक

कभी जर्मन-प्रत्ययवादी मानते थे कि संस्कृति का
"प्रतीक" ग्रत, वह उनके ग्रनुसार प्राकृतिक, ग्रार्थिक, स
होता है किन्तु ज्ञान का समाजशास्त्र इस संस्कृति
"ग्रनुपमता" का स्वरूप समझा सकता है। ग्रालोचक

1. The Sociology of Knowledge, Edited by
1970, Preface.
2. "मस्तिष्क" ग्रौर मन या ग्रात्मा, दूसरों के साथ
विकसित होती है—इसी प्रकार भाषा का भी वि
के सन्दर्भ में भाषा की व्याख्या निरर्थक लगती
शब्दों का ग्रर्थ निश्चित होता है। खेल खेलते समय
का ग्रान्तरिकीकरण करता है। यही ग्रान्तरिकीकरर
3. Elements of Social Psychology B. Kup
प्राप्त। विकास, दिल्ली।

रूप है क्योंकि उसमें कल्पना

चेतना (सेल्फ ग्रवेयरनेस)
विकास की परिणति होती
में "ग्रात्मा" का विकास
, बोधक्षमता होती है परन्तु
या ग्रात्मज्ञान, कला हो या

या चेतना का चमत्कार
के ग्रभिमतों की ग्रसलियत,

सामूहिक ग्रवचेतन" जैसे
मनोविज्ञान" का विकास
नही सकती।[3] उदाहरण
षण को जटिल समस्या
ता मात्र काव्यशास्त्र के
वह ग्रर्थमीमांसा की जटिल-
यह है कि शब्द शक्तियों का
ग है।
क्षेत्र "ग्रनुपम" होता है,
ामाजिक ग्राधार से स्वतन्त्र
ौर साहित्य, कलादि की
जहां विशेषणों की वर्षा

James Eeurtis, London

सम्पर्क ग्रौर सम्प्रेषण से
कास होता है। मात्र व्यक्ति
है, सामाजिक प्रकरण में हो
शिशु दूसरों की भूमिका
ग्रात्मा है।"
—जार्ज हर्बर्ट मीड

ouswancy. हिन्दी में भी

करके, अपने अभिमत प्रकट कर चुप रह जाते है, समाजशास्त्रीय पद्धति अपना कर विश्लेषक उन विशेषणों की वास्तविकता को आलोकित कर सकता है। अतः सवाल मात्र साहित्य, कलादि की रहस्यमयता के विमोचन का नही, उन पर आलोचना की भरमार के द्वारा भ्रामक अभिमतो का भी है। आलोचना के रहस्य-वाद का भजन भी, साहित्य के समाजशास्त्र से हो सकता है।

शूकिंग ने "रुचि के समाजशास्त्र" (Sociology of Taste) में प्रमाणित किया है कि साहित्य, कला आदि का अध्ययन, साहित्यिक-समुदायो या ग्रुपो के आधार पर होना चाहिये। इसका सारतत्व यह है कि जिसे "युगात्मा" (Spirit of the age) या "शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति" (आचार्य शुक्ल) आदि कहा जाता है, उसके मूल मे समुदाय या सामूहिक ग्रुप होते है तथा वीरगाथाकाल, चारण काल मे, भक्तिकाल मे भक्त-समुदाय एक विशेष प्रकार के समुदाय ही थे।

रीतिकाल मे "दरबारी कवि" और आधुनिक काल मे, शिक्षित मध्य वर्ग के विभिन्न समुदाय या ग्रुप्स थे। साहित्यिक-ग्रुपो की पहचान तो, साहित्य के इतिहासों और आलोचना की पुस्तकों मे हुई है पर उनका समाजशास्त्रीय अध्ययन अनेक रहस्यों को सामने ला सकता है। मसलन् भारतेन्दु मण्डल, द्विवेदी मण्डल, छायावादी, नई कवितावाले, नई कहानी वाले, अकविता, अकहानी, और आज के समकालीनो के विभिन्न ग्रुप, मार्क्सवादी क्रान्तिकारी, मार्क्सवादी प्रगतिशील और जनवादी आदि ग्रुपो और आन्दोलनों और संगठनों के वक्तव्यों, विचारधाराओं, मूल्यो-मान्यताओ और उनके वर्गीय जुड़ावो के समाजशास्त्रीय विश्लेषण से रुचियों, अभिमतो और मूल्यांकनो की हकीकत खुल सकती है। मूल्यांकनो की महामारी तथा सैद्धान्तिक समीकरणो को, व्यक्तिगत और वर्गीय हित, किस तरह प्रभावित करते है, इसके लिए नई कविता, नई कहानी के "समाजशास्त्र", प्रगतिशील-जनवादी सृजन और आलोचना का "समाजशास्त्र" जैसे विषयों पर काम होना चाहिये।

शूकिंग ने दिखाया है कि साहित्य के नियामक तत्व अनेक है, नाट्यगृह, प्रकाशक, पाठ्यक्रम समितियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, संचार माध्यम, पाठक मंच, साहित्यिक प्रतिष्ठान, अकादमी, विश्वविद्यालय आदि। यदि व्यावसायिक प्राध्यापकों, सम्पादको और पेशेवर आलोचकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन हो, तो रुचि, विचार और मूल्यांकन, शास्त्रार्थों, नियुक्तियो और रचनाओ की निन्दा प्रशंसा का राज खुल सकता है।

योरोप में पहले लेखक की स्थिति अच्छी नहीं थी। 1723 ई. स्टील (Steel) की कोमेडी इसलिए अधिक प्रचालित हुई क्योंकि स्टीलका वेतन अधिक था (शूकिंग पृष्ठ 16) एक नाटककार (Congreve) ने जब वोल्तेयर से कहा कि वह सिर्फ लेखक नहीं, एक "भद्र" व्यक्ति भी है तो वोल्तेयर ने कहा कि वह लेखक से मिलने आया है, "भद्र" व्यक्ति से नहीं। थामस ग्रे ने अपनी शोकगीति (Elegy)

ी रायल्टी प्रकाशक से नहीं ली थी क्योंकि यह अभद्रता मानी जाती थी। शेक्स-पियर अपने समय मे जनसाधारण में लोकप्रिय था, साहित्यिकों में नही।

शूकिंग ने किसी रचना को लोकप्रिय बनाने, उसके प्रति रुचि जानने के लिए मित्रों के प्रचार को सर्वाधिक कारगर माना है। रुचिनिर्धारक तत्व अब इतने अधिक है कि प्रसिद्ध वस्तु सबको प्रशसनीय लगने लगती है। हिन्दी आलोचना मे एक भी पुस्तक ऐसी नही है, जिसमे प्रसिद्धि का रहस्योद्घाटन हो या प्रसिद्धि के रौब से तटस्थ रह कर सिद्ध रचना और प्रसिद्ध रचना को अलगाया गया हो। प्रसिद्धि का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि मैक्स लिबरमन चिल्ला उठा था, "इस चित्र को हटाओ अन्यथा मैं पसद करने लगूंगा।" शूकिंग का कहना है कि "प्रतिभा" शब्द प्रचारमाध्यमों, प्रोत्साहकों की ग्रुपबाजी आदि से निरर्थक हो गया है। रचनात्मक प्रतिभा से अधिक उपयोगी अब जोड़-तोड़क प्रतिभा है, अतः रचनात्मक साधना की जगह, स्थापना की साधना अधिक महत्व पूर्ण हो गई है। इससे रुचि की तानाशाही स्थापित हो गई है। रचनाकार या लेखक चाहता है कि वह जो कहे, लिखे, उसे समाज नतशिर होकर मान ले अन्यथा उस पर नासमझी का लाछन लगा कर वह अपने को श्रेष्ठ मान लेता है और उसी श्रेष्ठता ग्रन्थि मे बँधा रहता है।

अतएव "रुचि के समाजशास्त्र" के प्रकाश में स्थापना और स्वीकृति, प्रोत्साहन और पहचान के ग्रुपों की पड़ताल हो तो 'धर्मयुग ग्रुप' 'अशोक वाजपेयी ग्रुप' 'आलोचना ग्रुप' (राजकमल प्रकाशन) 'राजनैतिक दलों के लेखक ग्रुप' 'स्वतन्त्र ग्रुप' आदि के तथ्य परक वास्तविक ब्योरों और बहसों में छिपाए गए स्वार्थों-पक्षपातों और ईर्ष्या-द्वेषों, प्रियताओं-अप्रियताओं आदि का तिलिस्म अनावृत हो सकता है।

यहाँ यह कह देना युक्तियुक्त होगा कि साहित्य का समाजशास्त्र "सर्वेक्षण प्रश्नोत्तर, वर्गीकरण, एक शब्द मे तथ्यवाद तक सीमित नही है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवृत्तियो, हृदयसवादों, सौन्दर्यानुभूतियों, रसों और मंशाओं, विधाओं, रूपों और कलात्मकताओं को भी व्यक्ति और संदर्भ के, व्यक्ति और वर्ग के, व्यक्ति और संस्कृति आदि के मध्य गत्यात्मक सम्बन्ध के तंतुजाल को भी स्पष्ट कर सकता है।

किसी मानववादी आदर्श के लिए वैज्ञानिकता या वस्तुगतता की बलि न देने के लिए, पैरेटो ने बताया है कि कोई सामाजिक व्यवस्था, गतिशील सतुलन के द्वारा, अपने विभिन्न अवयवों की कार्य परक पारस्परिकता से, अपने को चलाती है। पैरेटो कार्यकारणवाद की जगह, विभिन्न अवयवों की पारस्परिकता की खोज पर बल देता है।

इस सन्दर्भ मे यह समाज के बाह्य और आतरिक्त तत्वों की पारस्परिकता दिखाने के लिए "अवशेष" (Residue) और प्रसूत (Desivation) की कोटियाँ प्रस्तुत करता है। व्यक्तियो और समाजों में आन्तरिक स्तर पर भावनाओं, अता-

किक इच्छाग्रो, संवेगो, ग्रवचेतनात्मक विस्फोटो ग्रादि का राज्य है। यही ग्रवशेष है, ग्रौर इन्हें उचित ठहराने के लिए प्रसूतो या डेरीवेशंस का प्रयोग होता है वस्तुनः साहित्य मे ग्रवशेषो ग्रौर प्रसूतों की तो भरमार रहती है क्योंकि कला ग्रौर साहित्य मे ग्रान्तरिक तत्व या ग्रवशेप ही प्रधान उपकरण होता है ग्रौर उसके ग्रौचित्य के लिए जो तर्क दिये जाते है वे प्रसूत होते है। मसलन् कोई ग्रालोचक यदि ग्रपने ग्रवशेषो (भावना, पूर्वाग्रह, इच्छा ग्रादि) के कारण किसी कृति या कृतिकार को श्रेष्ठ या उत्कृष्ट सिद्ध करना चाहता है तो वह उस ग्रवशेप को "जस्टीफाई" करने के लिए तर्कजाल बुनता है, जिरह करता है (श्रीकान्त वर्मा की "जिरह"- नाम की पुस्तक उदाहरण है) ग्रौर वकालत मे बुद्धिवल से पाठको, श्रोताग्रो को प्रभावित कर, ग्रपनी वात मनवा लेता है किन्तु समाजशास्त्रीय विश्लेषण से उसके "ग्रवशेप" की खोज से, उसकी ग्रालोचना वकालत सिद्ध हो जाती है। यह जान मे भी होता है, ग्रनजान में भी यथा तुलसी के प्रति ग्राचार्य शुक्ल की स्वाभाविक श्रद्धा ग्रौर निराला के प्रति डॉ रामविलास शर्मा की वफादारी से ग्राकर्पक तर्क प्रसूत हुए हैं। श्री ग्रज्ञेय ग्रपने ग्रवशेप के कारण ग्रपने तथा ग्रपने ग्रुप के लेखको के पक्ष म नित नए तर्क ग्रौर तेवर गढते रहते है। "वत्सलनिधि" के सम्भागियो ग्रौर संघर्षशील लेखक संगठनो के द्वन्द्व की समझ के लिए "ग्रवशेपो" ग्रौर "प्रसूतो" को ग्रलगाना जरूरी है।

यह सच है कि पैरेटो की कोटियो को यथावत् नही ग्रपनाया जा सकता क्योकि वे ग्रवशेपो को ग्रधिक महत्व देती है ग्रौर विवेक मात्र "प्रसूत" या डेरीवेशन ठहरता है। ग्रवशेप पर ग्रधिक वल देने से, कोई ग्रसावधान विचारक नीत्शे को स्वीकृति दे सकता है जो ग्रवशेप के ग्रागे तर्कणा ग्रौर विचारणा को दुर्बल ठहराता था। नीत्शे मानता था कि सत्य, शक्ति है, ग्रहम् ही सब कुछ है ग्रौर धर्म तथा दर्शन, मात्र उदात्त ग्रहम् का परिचायक है, ग्रवशेपजन्य ग्रध ग्रहम्वाद, नस्लवाद ग्रौर "सुपरमैन" की धारणाग्रो से, नीत्शे नाजीवाद का प्रोत्साहक बनता है ग्रतः त्याज्य है।

साहित्य का समाजशास्त्र मार्क्स ग्रौर मार्क्सवादियो मे मूल परिवर्तन का शास्त्र बनता है ग्रत. मार्क्स, एंगिल्स, प्लेखानोव, लेनिन, माग्रोत्सेतुंग ग्रादि के लेखन मे ऐतिहासिक भौतिकवाद या इतिहासवाद के ग्राधार पर विकसित हुग्रा है जिसमे ग्राधार-ग्राधेय सम्बन्ध को ध्यान मे रख कर बदलते समाज म व्यक्ति ग्रौर समाज, व्यक्ति ग्रौर वर्ग, शोपित ग्रौर शोपक वर्ग के द्वन्द्व ग्रौर सहयोग तथा उसके साथ ऊपरी ग्राधार या धर्म, दर्शन, विधि ग्रौर साहित्य, कलादि के बदलते स्वरूप ग्रौर उसकी प्रगतिशीलता या प्रतिगामिता को खोजा जाता है ग्रौर वर्गहीन समाज की सरचना ग्रौर जनमुक्ति के लिये विचारधारात्मक सृजन की प्रेरणा दी जाती है।

इसके विपरीत, कार्ल पॉपर, पैरेटो ग्रौर ग्रन्य ग्रमरीकी व्यवहारवादी समाजशास्त्री परिवर्तन के समाजशास्त्र की जगह, प्रकार्यात्मक एप्रोच ग्रपना कर

पूंजीवादी जनतंत्रों के प्रतिष्ठित समाजों के भीतर सुधार और सामंजस्य (एडजस्टमेंट) तक अपने को सीमित रखते हैं और मार्क्सवादी समाजशास्त्र को, विशुद्ध वैज्ञानिक न मानकर, उसे नियमनवादी (Deterministic) मानते है परन्तु मार्क्सवादियों के मध्य साहित्य और कला की सापेक्ष स्वायत्तता मान्य होने पर भी मानवीयता के आधार पर, शोषित वर्गों की मुक्ति के लिए सृजन को "जनात्मा का अभियन्ता" माना जाता है अर्थात् साहित्य और कला, मानवीय मुक्ति की चुनौती को स्वीकार कर शोषित वर्ग-पक्षधरता अपना कर बदलाव की गति को तीव्र करें और वर्ग चेतना का प्रसारण, सघनीकरण या आन्तरिकीकरण करें।

"साहित्य के समाजशास्त्र" में यह द्वन्द्व बिल्कुल स्पष्ट है। दोनों शिविर मानते हैं कि साहित्य का अस्तित्व, सामाजिक अस्तित्व का अंश है। कर्मलोक (प्रेक्सिस) और भावलोक परस्पर आश्रित या सम्बन्धित हैं। कीर्केगार्ड की तरह, सामुदायिक भावना को मिथ्या न मानकर दोनों शिविर सत्य मानते हैं पर साहित्य को एक विचार व्यवस्था और सामाजिक संस्था के रूप में मार्क्सवाद ने ही देखा। लुकाच और लूसिएँ गोल्डमन ने, साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की सुनिश्चित प्रविधि विकसित की। इसके विपरीत नार्थोपफ्राय, सामाजिक नियमन वाद का विरोधी है।

लुकाच ने बूर्ज्वा देशों के उपन्यासों में यह देखा कि आधुनिक लेखक 'पतित' (Degenerate) नायक द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था और सभ्यता के ह्रास या पतन को दिखाते हैं। समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा के विकल्प को न मानने से बूर्ज्वा लेखक मात्र आलोचनात्मक यथार्थवादी होकर रह जाते है क्योंकि वे जनमुक्ति का विकल्प पेश नहीं कर पाते। इसी चिन्तन पद्धति पर चलकर लूसिएँ गोल्डमन ने, उत्पत्तिमूलक संरचनावाद[1] प्रस्तुत किया जो साहित्य की विवेचना का एक स्पष्ट आदर्श (माडल) सामने लाता है।

संरचनावाद पश्चिमी देशों में एक मान्य पद्धति है। वह भाषाशास्त्र से समाजशास्त्र तक सर्वत्र फैली हुई है। किन्तु पश्चिमी संरचनावाद और मार्क्सवादी संरचनावाद में अन्तर यह है कि मार्क्सवाद से प्रभावित संरचनावादी इतिहासवादी दृष्टि का, (संरचनाओं की पहचान और विवेचना में) प्रयोग करते है जबकि पश्चिम के गैरमार्क्सीय समाजशास्त्री ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से तटस्थ रह कर या तो प्राकृतिक विज्ञानी (Positivists) की तरह तथ्यवादी है या व्यवहारवादी।

"उत्पत्तिमूलक संरचनावाद" को पूर्ण विज्ञान का दर्जा देने के लिए लूसिएँ गोल्डमन ने कहा है कि विश्लेषक किसी पूर्व कल्पना को उसी तरह मानता है, जिस

1. Genetic Structuralism—Sociology of literature and drama—Edited by Elizabeth and Tom Burns.

तरह वैज्ञानिक मानता है । पूर्वकल्पना (हायपोथीसिस) प्रयोग और विश्लेषण की प्रक्रिया मे या तो सिद्ध होती है या अप्रमाणित हो जाती है । मेरा मत है कि किसी वाद से जन्य पूर्वकल्पना को, हमे हायपोथीसिस के रूप मे ही लेना चाहिये और यह देखना चाहिए कि वह परिप्रेक्ष्य और पूर्वकल्पना विश्लेषण में मंडित होती या खडित ? इस रूप मे मार्क्सवाद का ग्रहण, वैज्ञानिक होगा, मात्र प्रचारात्मक या विचारधारात्मक नही ।

सूसिएँ गोल्डमन ने यह पाया कि साहित्य के समाजशास्त्र मे मुख्य कठिनाई व्यक्तिगतता और सामूहिकता की है । इस कठिनाई को दूर करने के लिये उसने यह देखा कि लेखक जिसे व्यक्तिगत अनुपम, अद्वितीय, सर्वातीत और तीनों लोको से निराला कहता है क्या वह वस्तुतः वैसा ही है ?

गोल्डमन के अनुसार सत्य यह है कि कोई साहित्यिक कृति सामूहिक संरचना ही होती है क्योकि व्यक्ति के माध्यम से समूह या समाज अपनी इच्छा-आकांक्षा आदि को व्यक्त करता है । व्यक्ति विशेष की चेतना का अध्ययन करना कठिन है पर कृतियो मे उन व्यक्तियो की चेतना और विश्व दृष्टि अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है । अत. व्यक्ति (लेखक) समझता तो यह है कि वह मात्र आत्माभिव्यक्ति कर रहा है । परन्तु वह सामूहिक स्थितियों और सामाजिक चेतना या मानसिकता को व्यक्त करता है । Thus the work coustitute a collective achievement through the individual cosciousness of its creator, an achievement which will after wards reveal to the group what it was moving towards without kuowing it in its feeling, its ideas and its behaviour.[1]

यान्त्रिक भौतिकवादी और तथ्यवादी प्राकृतिक विज्ञानो की वस्तुनिष्ठ पद्धति को यथावत् लागू करने वाले, लेखकीय सृष्टि को सचेत सृष्टि मानते है जबकि साहित्य और कला मे चेतना और अवचेतना दोनों स्थितियां रहती है अतः यही ठीक है कि कला कृति मे ज्ञात या अज्ञात रूप से व्यक्त जो मनोलोक है, वह व्यक्तिगत सा लगने पर भी, वह किस तरह सामूहिक मनोलोक को व्यक्त करता है, समाजशास्त्रीय पद्धति यह दिखाए ।

लूसिएँ यह भी कहता है कि महत्त्वपूर्ण और महान लेखकों की रचनाओं मे विश्वदर्शन या वर्ल्डव्यू अवश्य व्यक्त होता है और यह प्रायः एक समुदाय का विश्वबोध होता है ।

गोल्डमन ने रेसीन के नाटकों में चुने हुए जैन्सीनिज्म (Jansenism) को खोजा और ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विधि पर उसमे फ्रान्स के एक वर्ग का विश्व बोध (World view) पाया ।

---

1. The Sociology of Literature, Page–115.

लूसिएँ गोल्डमन क्षणिक या छोटी रचनाओं को महत्व न देकर बड़े लेखकों की लेखन प्रवृत्तियों और संरचनाओं को सामुदायिक प्रवृत्तियों और संरचनाओं से संयुक्त करके विश्लेषण करता है। इस पद्धति से देखने पर स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय की व्यक्तिगत सी लगने वाली वाणी, भावनाएँ, अनुचिन्तन और विश्वबोध, वस्तुतः इस देश के यथास्थितिशील वर्ग का है जबकि मुक्तिबोध का अन्तर्द्वन्द्वात्मक साहित्य भी वैयक्तिक ऊहापोहपरक सा लगने पर भी मध्यवर्गीय अन्तश्चेतना के असन्तोष, जनसहानुभूति और जनक्रान्ति की व्यंजक होने से जनसमूह से सम्बन्धित है यों उसकी अभिव्यक्ति जटिल और दुरूह है और वह मात्र शिक्षित वर्ग तक ही सीमित है।

गोल्डमन संरचना शब्द को अव्यवस्था (Disorder) के विरुद्ध अर्थ में प्रयुक्त करता है और यह मानता है कि प्रत्येक संरचना या व्यवहार या रचना स्थिति विशेष के प्रति सार्थक प्रतिक्रिया होती है। आन्तरिक-मानसिक संरचना और बाह्य समाज में संतुलन न बन पाने से मानव समाज का पीड़ित वर्ग विश्व या समाज को बदल देता है और नये संतुलन और नई संरचना के लिए प्रयत्न करता है अतः मानव वास्तविकता पुरानी संरचना को नष्ट करती है तथा नई समाज संस्कृति का निर्माण करती है। अतः साहित्य-रचना, संस्कृति-रचना तथा समाज-संरचना में सम्बन्ध होता है।[1]

लूसिएँ गोल्डमन की पद्धति उन मार्क्सवादियों से भिन्न है जिन्हें वह अन्तर्वस्तुवादी साहित्यिक समाजशास्त्री कहता है। ऐसे मार्क्सवादी साधारण विवरणपरक रचनाओं में व्यक्त सामाजिक स्थितियों को कार्यकारण दृष्टि से दिखाते रहते हैं किन्तु बड़े और महान् कृतियों की जटिल संरचनाओं का विश्लेषण नहीं कर पाते। कारण यह है कि बड़ा कृतिकार जिस सामाजिक वास्तविकता से घिरा रहता है, उसे किन्हीं विशिष्ट (Striking) बिन्दुओं पर ही पकड़ता है और ऐसी रचनाएँ प्रायः संरचना में जटिल होती है, वर्णनात्मक नहीं अतः उत्पत्तिमूलक संरचनावाद का काम यह है कि वह कृतिविशेष में जिस संसार की संरचना है, जिस विश्वबोध को रचाया-बसाया गया है उसे लेखक के वर्ग या समुदाय की मानसिक संरचना से जोड़कर देखें तो वह लेखक मात्र अपना नहीं, किसी वर्ग या समुदाय का प्रतिनिधि या माध्यम प्रमाणित होगा और उसके कृतित्व का समाजशास्त्रीय अध्ययन हो सकेगा।

परन्तु यह मात्र विचारधारात्मक सहानुभूति से नहीं, ठोस अनुसन्धान और विश्लेषण से होगा क्योंकि महान कलात्मक, दार्शनिक या सैद्धान्तिक कृतियाँ अपने

---

1. Attempt to relate cultural works with Social group qua creative subjects proves much more effective then any attempt to regard the individual as the subject of creation.

भीतर एकान्वित (Coherent) और सार्थक सरचनाओं को विन्यस्त किये रहती हैं। अतः मनोविश्लेपण की पद्धति पर जो प्रत्येक तत्व को व्यक्ति के अन्तर्मन के भीतर खोला जाता है, वह अवैज्ञानिक है, अयुक्त और अपूर्ण भी। व्यक्तिगत प्रवृत्तिया अधिकार या इच्छापूर्ति की ओर बढ़ती है, सामाजिक प्रवृत्तियां सदैव अन्विति या संगति की ओर गतिशील होती है। महान कृतियों में विचार संरचना किसी अन्विति की तलाश मे रहती है। अत. मनोविश्लेपण की प्रवृत्ति अपर्याप्त है यों फ्रायड आदि से अन्तर्मन की समझ म सहायता ली जा सकती है।[1]

साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से कृतियो मे प्रयुक्त मिथकीय सरचना का बड़ा महत्व है। लेवीस्ट्रास (Levi Straus) ने इस पर बहुत लिखा है। हिन्दी मे डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने अपने ग्रन्थो मे मिथकीय सरचना के विश्लेषण के सभी प्रकार प्रस्तुत किये है और मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र के क्षितिज को विस्तृत किया है।

मिथक विश्लेपण म आधुनिक मिथको की ओर ध्यान जाना चाहिये। मसलन् आधुनिक पापुलर साहित्य, लोकप्रिय उपन्यास, दूरदर्शन, फिल्म, रेडियो आदि जनता को भ्रम में डालने के लिये हैं। अभी समकालीन मिथको, मिथकीय अभिव्यक्तियो, माध्यमो का समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं हुआ है। इससे भ्रान्तिया दूर होगी।

गैरमार्क्सीय विवेचको मे नार्थोपफ्राय महत्वपूर्ण है। "वह साहित्यिक आलोचना के सामाजिक सन्दर्भ" नामक लेख मे बताता है कि 19वी शताब्दी मे रचना को दस्तावेज मानकर उसका सन्दर्भ, समाज मे खोजा जाता था। जबकि रचना का सम्बन्ध जीवनगत घटना से जुड़ना चाहिये। नार्थोपफ्राय समाज मे साहित्य के स्रोत खोजने वाले मार्क्सवादियो क विपरीत यह धारणा व्यक्त करता है कि साहित्यकार प्रायः समाज से नही, साहित्यिक परम्परा से प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार वैज्ञानिक, विज्ञान परम्परा से नये आविष्कार करते है। अतः साहित्य का इतिहास साहित्यिक रूढ़ियो (Conventions) परम्पराओं और कलारूपों और भाषा तथा विधाओ का इतिहास होना चाहिए।[2]

नार्थोपफ्राय, साहित्य के भीतर इतिहास की चेतना के विकास का पक्षपाती है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि तो रहे पर वह साहित्य पर आधारित हो, साहित्येतर सामाजिक पृष्ठभूमियो के इतिहास पर नहीं। वह नियमनवादी दृष्टि से पूर्व निर्धारित इतिहासवादी कोटियों मे साहित्य को ठूंसने का विरोधी है। साहित्य उसके लिए विज्ञान की तरह एक एकान्वित इकाई है। स्वायत्त और स्वतः प्रेरित अतः साहित्यिक परम्परा का इतिहास लिखा जाए यथा आदिम समाज की कहानियां मिथक होती है जो लोककथाओं से भिन्न होती है। इसी तरह फ्राय नए युग में मार्क्सवाद को चिन्ता का मिथक—"मिथ ऑफ कंसर्न" बताता है।

1. The Genetic Structuralism.
2. Conventions seemed to be a force even stronger than history—
वही।

नार्थोपफ्राय में बौद्धिक उज्ज्वलता अवश्य है परन्तु वह व्यक्ति और समाज, साहित्य और समाज के सम्बन्ध को व्यक्तिवादी दृष्टि से ही देखता है। अतः इनके द्वन्द्वात्मक रिश्ते का विवेचन नहीं कर पाता। इसके विपरीत लुकाच और विशेषकर लूसिएँ गोल्डमन ने एक व्यवस्थित विश्लेषण प्रणाली का प्रयोग किया है। समाजशास्त्र विकासशील ज्ञानानुशासन है उसकी पद्धति एकान्वित या समन्वित दृष्टि का परिणाम है जो किसी भी रचना या संरचना को स्वयम्भू और निरपेक्ष नहीं मानती अतः वह मात्र स्रोतों की ही नहीं, पारस्परिक सम्बन्धों, व्यक्ति और कृति, व्यक्ति, कृति और सामाजिक सन्दर्भों के सम्बन्धों की गवेषणा है। व्यक्ति और कृति, जटिल और संकुल संरचनाएँ हैं। व्यक्ति प्राकृतिक सृष्टि होने पर भी उसकी प्रकृति सामाजिक इतिहास में निरन्तर रूपान्तरित होती आई है। अतः वह जो प्रकृति (Natur) या प्राकृतिक मनुष्य का समाज के गतिशील सन्दर्भ में रूपान्तरण की प्रक्रिया है, वही उसकी रचनाओं में व्यक्त होती है अतः सामाजिक संरचना और उसके परिवर्तन के प्रकरण से साहित्य की सृष्टि और उसकी सत्ता निरपेक्ष न होने से साहित्य के समाजशास्त्र की सम्भावना और अनिवार्यता सिद्ध होती है।

अतएव साहित्य के समाजशास्त्र के बिना, साहित्य का शिक्षण-प्रशिक्षण, आस्वादन और मूल्यांकन गतानुगतिक, अनुर्वर और जड़ बना रहेगा। इसलिए साहित्य के विभागों के पाठ्यक्रमों में साहित्य के समाजशास्त्र की व्यवस्था करना आवश्यक है। वस्तुतः आज समस्या और चुनौती साहित्य के छात्रों के शिक्षण की उतनी नहीं, साहित्य के शिक्षकों, लेखकों; सम्पादकों, आलोचकों आदि के शिक्षण की अधिक आवश्यकता है।

□□

2 | आलोचना की आधुनिक प्रणालियाँ

साहित्य और कला की आलोचना के क्षेत्र मे प्रारम्भ से ही दो दृष्टिबिंदु सक्रिय रहे है । एक, साहित्य और कला के अनुभावन और आलोचन के लिए, कलाकृतियो मे निहित रचना-मूल्य और मानव मूल्य के उद्घाटन के लिए अन्तर्दृष्टि (इण्ट्यूशन) की अपेक्षा है, प्रणालियों की नही । दूसरा, साहित्य और कलाकृतियों को निश्चित विश्लेषण सरणियो के बिना न समझा जा सकता हैं, न समझाया जा सकता है क्योंकि अन्तर्दृष्टि या अन्तरावलोकन की विधि रहस्यमय होती है उसमे एकरूपता, निश्चितता और प्रामाणिकता नही होती । अतएव इस अन्धी विधि के स्थान पर कृति के ज्ञान के लिए शास्त्रीय प्रणालिया अनिवार्य है ।

इस विषय पर पूर्वकाल मे रहस्यवादियों और योगियो ने शास्त्रीयता का सदा निषेध किया था और शास्त्रकारो ने सदा इस बात पर बल दिया था कि सृष्टि को मात्र अतर्दृष्टि से व्याख्यायित नही किया जा सकता । यही कारण है कि रहस्यवादी सिद्धो, नाथो और संत कवियो के पीठो मे शास्त्र का विकास नही हुआ, जबकि भरत, दण्डी, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ और रूप तथा जीव गोस्वामी के प्रयत्न से विराट भारतीय काव्य-शास्त्र का विकास हुआ, जिसने साहित्य सृष्टि को समझने-समझाने और उसके मूल्याकन करने की प्रणालियो और प्रतिमानो का विकास किया ।

यूरोप मे अरस्तू से लेकर आज तक लोंजाइनस, कोलरिज, वर्ड्सवर्थ, मैथ्यू-आर्नोल्ड, क्रोचे, टी. एस. इलियट, कालिंगवुड आदि ने साहित्य सृष्टि और कला संसार के मर्मोद्घाटन के लिए उदात्तता, सर्जनात्मक कल्पना, प्रतिभा, ज्ञान इत्यादि अवधारणाओ का आविष्कार किया और ज्ञानानुशासनो से सहायता लेकर साहित्य-ज्ञान को, उसके विश्लेषण को वस्तुगतता दी,

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से, रमेश कुंतल मेघ के निर्देशन मे, हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर ने उक्त विषय पर 10 से 30 जून, 1977 तक ग्रीष्म-शिविर का आयोजन किया । इस अखिल भारतीय ग्रीष्म-शिविर मे देश के अनेक साहित्य-शिक्षको और रचनाकारो एवम् सम्पादको ने भाग लिया ।

शिविर में प्रथम ध्रुवीकरण इसी बिंदु पर हुआ, क्या आलोचना की आधुनिक प्रणालियां और उनके पीछे सक्रिय जीवन दृष्टियां साहित्य की स्वतंत्र समझ के लिए जरूरी है ?

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अर्न्स्ट फिशर को उद्धृत करते हुए कहा कि प्रतिमानों, सिद्धांतो और प्रणालियों का सीमित महत्त्व है। कविता और कला द्वारा आदमी जो है, उससे कुछ अधिक होना चाहता है। फिराक ने भी कहा है कि कविता वजूद को ताजा रखती है, उससे जिंदगी को एक शऊर और सुकून मिलता है। अतः कविता और कला जैसी चीज को यांत्रिक पद्धतियों पर कसने की प्रवृत्ति उसकी गरिमा और मर्म को नुकसान पहुँचाती है। लारेंस डरेल को उद्धृत करते हुए डॉ. तिवारी ने बताया कि शब्द अपने में अधूरे हैं अतएव शैली विज्ञान जैसी यांत्रिक पद्धतियों से आलोचनात्मक विश्लेषण सिर्फ शब्द तक सीमित रह जाता है,

मुक्ता अजमानी ने कृतिपरक समीक्षा के संदर्भ में उठी बहस में भाग लेते हुए कहा कि सिद्धांतवादी आलोचनाओं से साहित्य-शिक्षक में पूर्वाग्रह आ जाता है और छात्र उलझन में पड़ जाते हैं कि किसी रचना को किस प्रतिमान से देखें परखें। परस्पर विरोधी प्रतिमानों और प्रणालियों में कौन किस सीमा तक वरेण्य है, यह तय कर पाना दुरूह कार्य है, अतः आलोचना में तटस्थ कृतिदर्शन ही काम्य है।

लखनऊ के सूर्यप्रकाश दीक्षित, कलकत्ता की पुलवन्त कौर, दिल्ली के बलदेव वंशी और नरेन्द्र मोहन भी प्रकारान्तर से सिद्धांतवादी आलोचना की अतियों और आग्रहों से असंतुष्ट थे। इन सबका मुख्य तर्क यही था कि सिद्धांतवादी, मुख्य रूप से मार्क्सवादी आलोचकों ने सैद्धांतिक पक्षधरता के आवेश में कृतिकारों के साथ न्याय नहीं किया। निराला और मुक्तिबोध अति प्रशंसा के शिकार हुए और अज्ञेय तथा असाम्यवादी नए कवि और नए कहानीकार तिरस्कार और उपेक्षा के। डॉ. दीक्षित ने निराला के विषय में डॉ. रामविलास शर्मा की तरफदार आलोचना का जिक्र किया कि किस तरह निराला के अध्यात्मवाद की [illegible] की गई जबकि उसी अध्यात्मवाद के लिए सुमित्रानंदन पंत को निन्दित किया गया। इसी तरह यह कहा गया कि मार्क्सवादियों को मुक्तिबोध में कोई न्यूनता नहीं मिलती।

इस संदर्भ में कर्णसिंह चौहान, रमेश कुंतल मेघ, बच्चनसिंह, गणपतिचन्द्र गुप्त, जोगेन्द्र सिंह राही, शिवकुमार शर्मा, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने आलोचना की आधुनिक प्रणालियों और सैद्धांतिक आलोचना का अपने-अपने ढंग से समर्थन किया।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इस विषय पर एक लेख पढ़ा जिसमें ये मुद्दे थे—

1. साहित्य को अन्य विषयों (समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि) की तरह ज्ञानानुशासन बनाया जाए।

2. इसके लिए ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय या शैली-वैज्ञानिक आदि प्रणालियों का पूर्ण विकास वांछनीय है।

3. साहित्य सृष्टि को समझने के लिए और उसमें निहित या उससे ध्वनित मूल्यों की खोज के लिए जीवन दर्शनों और विश्वबोधों का वैविध्य आवश्यक है परन्तु यह जरूरी है कि एक निश्चित विश्वदृष्टि रखने वाला आलोचक अपने चिंतन-वृत्त या फ्रेमवर्क के भीतर विभिन्न विश्लेषण-प्रणालियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे। इस संबंध में हेमन के ग्रन्थ "द आर्म्डविजन" का उल्लेख किया गया।

शिविर के अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत से लगे कि साहित्य को ज्ञानानुशासन बनाने के लिए आलोचना की आधुनिक प्रणालियों का उपयोग करना होगा। यह भी संगत लगा कि विभिन्न विचारधाराओं के लोग अपने-अपने चिंतन-वृत्त के भीतर रह कर भी इन प्रणालियों का उपयोग कर सकते हैं।

इस प्रकार शिविर का मूल मंतव्य यह रहा कि आलोचना बहु-प्रणालीपरक हो जो आलोचक की मूल दृष्टि से संग्रथित (इंटीग्रल) हो। संग्रथित या इंटीग्रल आलोचना से चयनवाद (एक्लेक्टीसिज्म) के दोषों से बचा जा सकता है। चयनवाद का शिकार आलोचक इधर-उधर से परस्पर विरोधी दृष्टियों और प्रणालियों का मनमाना प्रयोग करता है और इस आपाधापी में अवधारणाओं का ऐसा मिश्रण हो जाता है कि पता ही नहीं चलता कि आलोचक की मूल चिंतन-दृष्टि या विचार वृत्त क्या है। बहु-प्रणालीय आलोचना के अपनाने में चयनवाद का खतरा है।

यह विचार स्वीकृत हो जाने पर भी शिविर में प्रणालियों को लेकर अस्वीकृत चिंतन जारी रहा। बच्चनसिंह ने सिद्धांततः संग्रथित आलोचना (सिस्टम-बिल्डिंग) का समर्थन किया। उन्होंने स्वयं कृति की रचनात्मकता की खोज को आलोचक का मुख्य कर्त्तव्य घोषित किया और कलावादियों के उदाहरण देते हुए प्रतिपादित किया कि आलोचना कृतिपरक होनी चाहिए, विचारधारापरक नहीं। प्रामाणिकता का पता कृति से चलेगा, कृति के बाहर की किसी चीज या ज्ञान से नहीं, यह उनका वक्तव्य था। रचनात्मकता और संरचना पर इतना जोर देने के बावजूद बच्चनसिंह ने शैली विज्ञान को रद्द कर दिया। उनके तर्क ये थे—

1. शैली विज्ञान को सर्जनात्मक समीक्षा नहीं कह सकते (जैसा कि विद्यानिवास मिश्र ने कहा है)।
2. शैली विज्ञानात्मक विधि नहीं यान्त्रिक विधि है।
3. इससे अर्थ का अनर्थ होता है।
4. इससे सौंदर्यशास्त्र और मूल्यों का बहिष्कार हो जाता है।
5. विद्यानिवास मिश्र के "रीतिविज्ञान" में न आलोचना है, न शैली विज्ञान है।
6. काव्यशास्त्र की शब्दावली का उपयोग हो, शैली विज्ञान से बचो।

इस सम्बन्ध में दूसरा ध्रुव डा० शशिभूषण शीतांशु ने प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि भाषिक-विश्लेषण के बिना कृति का न अर्थ ज्ञात होगा, न कलात्मक प्रभाव। उन्होंने निराला की कविताओं पर रामविलास शर्मा, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, बच्चनसिंह और रमेश कुन्तल मेघ की अर्थ-व्याख्याओं को रद्द करते हुए बताया कि भाषाशास्त्रीय औजारों के अज्ञान से उक्त आलोचकों ने निराला की कविता के गलत अर्थ कर डाले है। अपने व्याख्यानों में श्री शीतांशु ने भाषाशास्त्रीय और शैली वैज्ञानिक औजारों पर विस्तार से प्रकाश डाला और भाषिक-प्रणाली के अलावा अन्य विश्लेषण-प्रणाली को डटकर नकारा।

श्री कर्णसिंह चौहान ने काव्य और साहित्य के मात्र भाषा-शैली के विश्लेषण को ही महत्व देने वालों को आग्रही और एकांगी सिद्ध किया। शिवकुमार ने कहा कि कविता के कई अर्थ हो सकते हैं। अनेकअर्थात्मकता कविता का गुण है, दोष नहीं। अतएव निराला की कविता के जो अर्थ किए गए है, वे गलत नहीं है। शीतांशु उन्हे गलत सिद्ध कर अपनी क्षीरता सिद्ध कर रहे है। डॉ. उपाध्याय ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'गीतिका' (निराला) के गीतों के अर्थ नन्द-दुलारे वाजपेयी ने किये थे, उन्ही अर्थों को मानकर, निराला के काव्य सौन्दर्य की पहचान पर हमारा ध्यान था। इसके सिवा यह कहना भी असंगत है कि भाषा-शास्त्रीय विधि न जानने से आलोचक किसी कवि की कविता का सही अर्थ नहीं कर सकते। मल्लिनाथ शैली-विज्ञान नही जानते थे पर उन्होने कालिदास की कविता के अर्थ करने मे भूल नही की। रामविलास शर्मा या हमने जहां निराला की कवि-ताओं के सही अर्थ किए है, वहां सहीपन, भाषिक विधि जाने बिना कैसे आ गया यह भी सोचा जाना चाहिए। सत्य यह है कि शैली-विज्ञान काव्यार्थ और मूल्यांकन से बचता है। उसका मुख्य काम है, काव्यभाषा के विश्लेषण द्वारा कलात्मक प्रभावों का अन्वेषण।

कर्णसिंह चौहान ने कहा कि आलोचक की भूमिका को सीमित करने के अमेरिकी प्रयत्नों से सावधान रहना चाहिये। आलोचक टीकाकार नहीं, दार्शनिक और विचारक होता है। कृति-जीवन उसके लिए कच्चा माल है। वह कृति और उसमें प्रतिबिम्बित जीवन को परखता है और कृति के मूल्यों की खोज करता हुआ वह सम्पूर्ण सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा-प्रवाह मे कृति विशेष की स्थापना करता है। आलोचक को मात्र काव्यभाषा का विश्लेषक बना देना प्रतिक्रियावादी विचारधारा का षड्यन्त्र है।

कृति की प्रामाणिकता की परख, उस जीवन के आधार पर होगी, जिसे कृति ने व्यक्त किया है। कृति के मूल्यांकन के लिए मनुष्य और समाज को समझना होगा, सिर्फ पदविन्यास को नहीं। आज का सृजन आदमी की भूख से सम्बन्धित है, मात्र भाषा के रचाव से नहीं अतएव भाषाशास्त्रीय प्रणाली सहायक तो हो सकती है, मूल्य-निर्धारक नहीं।

गणपतिचन्द्र गुप्त ने साहित्य और इतिहास के वैज्ञानिक विश्लेषण पर बल दिया। उनके अनुसार कृतियों के सामान्य तत्वों को खोजने से साहित्य के वैज्ञानिक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। कृति भाषिक सरचना कम है, मानसिक संरचना अधिक है। मनोविश्लेषणात्मक विधियों से इस मानसिक संरचना का ज्ञान हो सकता है। कृति की शैली में रूपान्तरण की प्रक्रिया काम करती है।

डॉ. गुप्त ने शैली की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए बताया कि बिम्ब और अलंकार में यह अन्तर है कि अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो पक्ष होते हैं जबकि बिम्ब में यह अनिवार्य नहीं है। बिम्ब प्रस्तुत का भी हो सकता है।

रसायनशास्त्र की अवधारणा के सहारे गुप्त ने बताया कि शैली में द्रव्य का रूपान्तरण हो जाता है अतः सश्लेषण, विच्छेदन, विस्थापन और विनिमय द्वारा इस द्रव्य रूप परिवर्तन को स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना शक्ति द्रव्य या कण्टेण्ट में परिवर्तन करके या उसे रूपान्तरित कर नई सर्जना करती है। डॉ. गुप्त ने जुंग के आधार पर अवचेतन-उपचेतन के रूपान्तरणों को समझाने की कोशिश की और इस प्रकार उन्होंने साहित्य की वैज्ञानिक भाषा में प्राकृतिक विज्ञानों के साथ मनोविश्लेषण को भी शामिल कर लिया।

शैली द्रव्य का रूपान्तरण है, यह स्थापना स्वीकार करते हुए भी डॉ. उपाध्याय ने कहा कि मनोविश्लेषण को "विज्ञान" नहीं माना जा सकता। क्योंकि विज्ञान सर्वेक्षण और प्रयोगों पर आधारित होता है। साहित्य में जो आन्तरिकता (सब्जैक्टीविटी) होती है, उसे समझने के लिए पावलोव अधिक काम का है, फ्रायड, एडलर और जुंग नहीं। क्योंकि इन मनोविश्लेषकों में अप्रमाणित पूर्व कल्पनाओं और कल्पनाशीलता (स्पैकुलेशन) का अधिक प्रयोग है। जुंग तो रहस्यवादी हो जाता है।

बिम्ब और अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट है, क्योंकि सादृश्यमूलक अलंकारों में ही द्विपक्षता होती है, विरोधमूलक अलंकारों में यह अनिवार्य नहीं है। विभावना में एक ही पक्ष होता है। डॉ. उपाध्याय के अनुसार बिम्ब, अलंकार से बृहत्तर अवधारणा है। उसमें मात्र अतिशयता या वाग्वैदग्ध्य नहीं, सौन्दर्य और इन्द्रिय संवेदन का नैरन्तर्य रहता है। बिम्बों की दूसरी विशिष्टता यह है कि वे सर्वदा ऐन्द्रीयता (सैंसुयस एक्सपीरियेंस) जगाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को रूपायित या बिम्बित करना बिम्बों का काम है। "अलंकार" शब्द की सौन्दर्यपरक व्याख्या करने पर (सौन्दर्यमलंकारः) बिम्ब, अलंकार के वृत्त में आ जाते हैं। अतः इस अर्थ में अलंकारशास्त्र शब्द काव्यशास्त्र के लिए आज भी संगत है।

गणपतिचन्द गुप्त ने अपने "साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास" की स्थापनाओं को पुनः रेखांकित किया और शिकायत की कि हिन्दी के आलोचकों और आचार्यों ने, उनकी स्थापनाओं की उपेक्षा की है। इस विषय पर चर्चा तक नहीं होती, यह स्थिति दुःखद है।

बच्चनसिंह ने एक व्याख्यान में आलोचना के मूल धर्म की तलाश की। उनका मत है कि कृति में अनुभूति की प्रामाणिकता तलाशी जानी चाहिये, विचारधारा नहीं। प्रामाणिकता का आधार रचना है, बाहरी जीवन नहीं क्योंकि कृति मे जीवन का गुण और रूप बदल जाता है। भावुकता का श्रेष्ठ कृति मे अतिक्रमण होता है अतएव पंत की भावुक पंक्ति (वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगागान) को केवल किशोरमति लोग ही सही मान सकते है। प्रौढ़ आलोचक कृति में प्रामाणिक जीवन और ईमानदार अनुभूति को ढूंढता है। कलाकार रूढ़िबद्ध, रुटीनग्रस्त, परिचित या आदतग्रस्त जीवन की जगह, प्रचलित मान-मूल्यों का अतिक्रमण कर प्रामाणिक अनुभव को कृति द्वारा स्थापित करता है। अतः यही कला की श्रेष्ठता का स्थायी प्रतिमान होगा बाकी बाहरी बातें फालतू है।

इस पर बहस मे सवाल यह उठा कि क्या बच्चनसिंह का चिन्तन समान्तरतावाद (पैरललिज्म) से पीड़ित नही है ? नई कविता के जमाने के प्रत्यय और अस्तित्ववादी प्रत्यय इसी भ्रान्ति के शिकार हुए हैं। अनुभूति या अनुभव और बोध में समानान्तरता नही, सहअस्तित्व होता है। अनुभव, स्वचेतना या बोध के बिना तत्क्षण नष्ट होता जाएगा। जब हम सुख या दुख का अनुभव करते हैं, तब बोध प्रक्रिया बीच-बीच अनुभव की उद्दामता मे—स्थगित होकर भी पुनः पुनः दीप्त होती रहती है। अनुभव मूर्च्छा की स्थिति नही है। अनुभव, बोध या ज्ञान द्वारा ही स्मृति का विषय बनता है। कलाकृति मे—अनुभव का ज्ञान निर्णायक चीज है क्योंकि बोध के बिना अनुभव का तो अस्तित्व ही सिद्ध नही होता। नई कविता और नई कहानी के प्रवक्ताओं ने अनुभव और बोध में समानान्तरता सिद्ध कर अथवा सिर्फ अनुभव पर बल देकर द्वैतवाद को स्वीकृत कराना चाहा है पर कार्टीसियन सिद्धान्तया द्वैत का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो चुका है। मानसिक प्रत्यय, अनुभव, बोध, धारणा और अनुभव, भीतरी और बाहरी यथार्थ, ये सब अन्तःसम्बन्धित है, आलोचना का कार्य कृति और मानवयथार्थ मे निहित अन्तस्सम्बन्ध का अन्वेषण है। कृति के भीतर संगठित तत्वों मे भी पारस्परिकता होती है और वे तत्व और उनका सम्बन्ध, बाहरी या सामाजिक यथार्थ (सामाजिक गतिशीलता, शक्तियां और वर्ग-द्वन्द्व आदि) के अंग है। कृति में व्यक्तियो के माध्यम से समाज अपने प्रति सचेत होता है और साथ ही वह अपने मानसिक तथा प्राकृतिक धरातल (इन्द्रिय संवेदन, मानव आकांक्षा और भावनाएं) को भी नैरंतर्य दिए रहता है। अतः साहित्य और कलासंसार, सिर्फ सामाजिकता का ही नही, मानवता का भी संरक्षक और साथी होता है। साहित्य को मात्र यौनानुभवों के बीच अस्तित्वचिन्तन तक सीमित नही किया जा सकता। उसकी भूमिका बारीक ही नही, बड़ी भी है। उसमें व्यक्ति और समाज दोनों अपनी पूरी द्वन्द्वात्मकता के साथ सगति ढूंढने की कोशिश करते है।

यह भी कहा गया है कि बच्चनसिंह सिद्धान्त में भले ही कलावादी और

अनुभववादी आग्रह रखते हों परन्तु उनकी व्यावहारिक आलोचना में— रचनात्मकता के साथ-साथ रचना के प्रेरक हेतुओं और जीवन मूल्यों का भी संनिवेश रहता है।

योगेन्द्रसिंह राही ने संरचनावादी (स्ट्रक्चरलिस्ट) विश्लेषण, दृष्टि और पद्धति को स्पष्ट किया। कृति का अर्थ ही यह है कि वह एक संरचना या स्ट्रक्चर है। पहले इस संरचना को समझना होगा। डॉ. राही ने मुख्यतः उपन्यास की संरचना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनका मत था कि उपन्यासों की आलोचना में प्रशंसात्मकता (एप्रीसिएशन) या निन्दा अधिक होती है। दोनों ही अन्तर्मुखी प्रवृत्तियां हैं। किसी निश्चित प्रणाली के आधार पर आलोचना होनी चाहिये। उदाहरण के लिए इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिये कि वह क्या चीज है जिससे कोई कृति उपन्यास कहलाती है। इस सम्बन्ध में उपन्यासकारों पर भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी प्रक्रियाओं में अपने काम का औचित्य सिद्ध करने की बातें रहती हैं। उपन्यास के पूर्व प्राक्-उपन्यास लिखे जाते रहे हैं। रोमांस को भी उपन्यास नहीं समझना चाहिये। उपन्यास, गैर उपन्यास से इस बात में भिन्न होता है कि वास्तविक उपन्यास में भ्रम टूटने की प्रक्रिया होती है। अतएव उपन्यास की असली सामग्री भ्रम-भ्रंश की प्रक्रिया है। हम मूल्यों-ममताओं के संसार में रहते हैं। वास्तविक जीवन से टकराने पर मूल्य और हकीकत में संघर्ष होता है, अतः उपन्यास में भोलेपन की दशा से अनुभव बोध की ओर गतिशीलता रहती है। अज्ञान के आनन्द से ज्ञान की ओर चलना ही सच्ची औपन्यासिक कला है। रोमांटिक उपन्यासों में संभावित प्राप्ति दिखाई जाती है। वास्तविक उपन्यास में वास्तविक उपलब्धि और उसके द्वंद्व रहते हैं। इस सम्भावित और वास्तविक प्राप्ति के सम्बन्ध को दिखाना ही उपन्यासकार का काम है। कल्पना-प्रसूत उपन्यासों या रोमांसों में सिर्फ संभावित प्राप्ति का ही बखान होता है। अतः ऐसे उपन्यास मनोरंजक होते हैं जबकि वास्तविक उपन्यासों में भ्रम-भ्रंशता होती है।। एक अच्छा उपन्यास भ्रम और मियकता को तोड़ता है, मिथ्यात्व की हवा निकालता है। अनुभव की सजा आदमी को अवश्य मिलती है। अतः उपन्यासकार "आयरनी" या कटाक्ष का प्रयोग करता है। अतएव उपन्यास न सुखान्त होते हैं, न दुःखान्त; वे न घृणापरक होते हैं, न अघृणापरक; वे कटाक्षपरक या "आयरनीकल" होते हैं।

सृजित संसार का वास्तविक संसार से जो सम्बन्ध है, वही उपन्यास का अर्थ है। रोमांसों में इस सम्बन्ध पर कुहासा छाया रहता है पर पुनःप्रस्तुतिपरक (रिप्रजेंटेशनल) उपन्यास में वास्तविकता का प्रतिरूप पेश किया जाता है। वे स्थिति में निहित संभावनाओं को सामने लाते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. राही ने मार्क्सवादी लेखकों पर यह आरोप लगाया कि वे अपने उपन्यासों में वर्गचरित्रों या टिपीकल पात्रों को सामने लाते हैं, वैयक्तिकता की उपेक्षा करते हैं जबकि उपन्यास का मुख्य कार्य व्यक्तियों की विशेषताओं के उद्घाटन के माध्यम से, समूह-चरित्र को उपस्थित

करना है, रोमांसों मे प्रायः एकरेखीय अथवा सांचे में ढले (स्टीरियोटायप्ड) पात्रों का वर्णन होता है, वास्तविक उपन्यास में व्यक्ति और समूह के वास्तविक चित्र रहते हैं।

गुरुबख्श सिंह ने सोवियत रूस में आलोचना के विकास का विहंगावलोकन प्रस्तुत किया। इस व्याख्यान के मुख्य बिन्दु ये थे—

1. दुराग्रह के कारण सोवियत रूस के साहित्य और आलोचना के साथ प्रायः अन्याय होता है,

2. सोवियत आलोचना केवल साहित्य पर आधारित नहीं है, बल्कि वह समाज, इतिहास, दर्शन आदि को समेटती हुई चलती है,

3. आनन्दवादी दृष्टि के स्थान पर क्रान्ति के पूर्व और क्रान्ति के पश्चात् रूस की आलोचना ने सचेत चिंतन के रूप में साहित्य को जन जागृति से जोड़ा है, साहित्य और साहित्यचिंतन वहां वास्तविक समस्याओं के समाधन से सम्बन्धित है अतः वह परिवर्तन का अस्त्र है। मनोरंजन उसका ध्येय नहीं है।

कर्णसिंह चौहान ने हिन्दी आलोचना और समकालीन कविता पर अपने व्याख्यानों में बताया कि कुछ लेखकों में आलोचना के प्रति नकारात्मक दृष्टि है। वे आलोचनात्मक परम्परा को नकारते है। रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम 'रस' को प्रतिमान की जगह पद्धति की तरह प्रयुक्त किया था परन्तु वह उसे नए साहित्य पर पूर्ण तरह लागू नहीं कर सके। कविता के विकास पर नजर डालते हुए श्री चौहान ने कहा कि कविता जिस सीमा तक जीवन और समाज की चुनौतियों और समस्याओं से जुड़ी रही है, उसी सीमा तक उसमें मार्मिकता आई है। अज्ञेय की कविता वहीं सफल हुई है, जहां वे सूत्र नहीं गढते या विचारधारात्मक अनुचिंतन नहीं करते, जहां वह मानवीय संवेदना की जमीन पर रहते है, वहां अज्ञेय अच्छे कवि नजर आते हैं। यही स्थिति सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय की है। ये दोनों कवि "कुआनों नदी" और "हंसो और हंसो" मे शोषित जन के असंतोष को व्यक्त करते हैं। अतएव इन रचनाओं में वे क्रान्तिचेतना को मजबूत करते हैं।

रमेश कुंतल मेघ ने मिथकों (मिथ्स) पर दो व्याख्यान दिए। उनके मतानुसार मिथकों के अध्ययन से सामाजिक विकास को समझा जा सकता है। आदिम युग में अतिप्राकृतिक तत्त्व प्रधान था। तब उपचेतन से जुड़ाव था, अवचेतन से नहीं। पौराणिक युग में कला चमत्कारों से संबंधित हो गई। पूंजीवादी युग में कला आत्मनिर्वासन तथा अमानवीयकरण का शिकार हो गई है। कला की मुक्ति जनमुक्ति से बंधी हुई है। समाजवादी समाज में ही कला पुनः मानवीय होगी अतएव हमें मिथकीय-संसार से वास्तविक संसार की ओर बढ़ना होगा। भारत के अधिकतर लोग पुरानी मिथकों की दुनिया मे रहते हैं अतः उन पर धर्म का प्रभाव है। धर्म मिथक

है। कला श्रम का उच्चतम रूप है, उसमे जीवन मूर्तित होता है। उसमें प्रकृति का मानवीकरण होता है (नेचर इज ह्यूमैनाइज्ड इन आर्टस्)।

समाज व्यवस्था और कला मे समसम्बन्ध नही, विषम सम्बन्ध है। साम्यपरक समाज मे ही कला और समाज का सम्बन्ध अनुकूलतापरक होगा। विषम समाजो कला और समाज-व्यवस्था का द्वन्द्व रहता है यह अनिवार्य है।

शिवकुमार ने साहित्येतिहास और इतिहास दर्शन पर बोलते हुए बताया कि मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी है। ऐतिहासिक भौतिकवाद इसी पुष्ट आधार पर आधारित है। इतिहास की गति न एकरेखीय होती है न चाक्रिक। उसकी गति सर्पिल गति होती है। साहित्य-नैसर्गिक क्रिया नही, सचेतन क्रिया है जो उसके ऐतिहासिक विका-सक्रम के भीतर होती है। अत: ऐतिहासिक दृष्टि के बिना साहित्य के विकास को नहीं समझा जा सकता। साहित्य के मुख्यत: तीन रूप होते है– सम्भ्रांतवर्गीय, जनमानसीय तथा मिश्रित। इन सबको एक कोटि मे रखना गलत है। व्यक्तिवाद पूंजीवादी व्यवस्था की देन है। इसने इतिहास का विरोध किया है क्योंकि वह ऐतिहासिक चेतना से डरती है।

लल्लनराय ने मुक्तिबोध की समीक्षा को नवप्रगतिवादी उभार का आदर्शरूप सिद्ध किया—

1. स्रष्टा समीक्षक होने के लिए रचना से बाहर जाना पड़ता है।
2. सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति मे एकता है।
3. 'आत्मा' वर्गीय होती है। टाटा-बिड़ला की 'आत्मा' और मजदूरों की आत्मा मे अन्तर होता है।
4. कामायनी और गोदान में दो प्रकार के रचनाकारों का प्रतिबिम्ब है। कामायनी में उच्चवर्गीय मानसिकता है तो गोदान में जनवादी मनो-दशा है।
5. समीक्षक को यह तय करना है कि वह उच्चवर्गीय या मध्यवर्गीय मान-सिकता का पक्षधर है या जनोन्मुख प्रवृत्तियों का।

"पश्यन्ती" के सम्पादक प्रणयकुमार बन्द्योपाध्याय ने अपने वक्तव्य में कहा है कि हमें रोमांटिक नज़रिये से मुक्त होना चाहिये। जीवन संघर्ष का पर्याय है। संघर्ष आंतरिक और बाह्य दो प्रकार का होता है। इन दोनो को और इन दोनो के सम्बन्धो पर निगाह रखनी होगी। आलोचक को रचनाकार का सहयात्री होना चाहिये, अनुशासक नही। आलोचना ने अभी तक या तो पुराने शास्त्रों को दोहराया है या फिर पाश्चात्य आलोचना का अनुवाद किया है। आलोचना स्वदेशी हो, जन-संघर्ष से जुड़ी हो। उसके स्वदेशी प्रयत्न हो। ये स्वदेशी (इंडीजीनियस) अव-धारणाएं, स्वदेशी या जनोन्मुख साहित्य पर ध्यान रखने से विकसित हो सकती है, लेकिन अकादमिक आलोचक ताजे साहित्य को नही पढ़ते है। वे आयातित धारणाओं को, देशकाल की चिन्ता न कर दुहराते रहते हैं।

प्रणयकुमार बन्द्योपाध्याय ने भारत की ग्राजादी के बाद पूंजीवादी योजनाग्रों ग्रौर साम्राज्वाद के ग्रवशेषो (नौकरशाही) की भी चर्चा की ग्रौर कहा कि ग्रपने देश के चिन्तन में शोषितजन की दृष्टि से हर चीज पर विचार होना चाहिये। संसदीय जनतन्त्र से न वास्तविक जनसंसद का विकास हुग्रा है, न जनतन्त्र का। ग्रतएव जनक्रान्ति से ही वास्तविक जनतन्त्र ग्रौर जनप्रतिनिधिपरक प्रतिष्ठानो का ग्रभ्युदय सम्भव है। इसी वजह से सप्तम दशक के उत्तरार्द्ध से सशस्त्र जनग्रान्दोलन उभर रहे है, जिसकी परिणति वर्गहीन समाज में होगी। राजदेवसिंह ने 'सतसाहित्य' पर; जयप्रकाश ने 'तुलसी साहित्य का ऐतिहासिक सदर्भ', 'दुष्यन्त की गजल', 'ध्वनि सिद्धान्त' ग्रादि कई विषयो पर व्याख्यान दिये तथा हुकमचन्द राजपाल ने गीत नाट्य, धूमिल, मुक्तिबोध ग्रादि विषयो पर ग्रपने विचार प्रकट किए। नरेन्द्र मोहन 'दीर्घ कविता' पर बोले ग्रौर ग्रज्ञेय की 'ग्रसाध्य वीणा', विजयदेव नारायण साही की 'ग्रलविदा', जगूड़ी की 'नाटक जारी है' की चर्चा की।

डॉ. नरेन्द्र कोहली ने ग्रपने 'दीक्षा' उपन्यास को दृष्टिगत रखते हुए मिथकीय उपन्यासों पर प्रकाश डाला ग्रौर दावा किया कि उन्होंने रामकथा की समकालीन ग्रौर संगत व्याख्या की है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने ग्रपने मूल ग्रालेख के सिलसिले में समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, काव्यशास्त्रीय ग्रादि प्रणालियो का वर्णन किया ग्रौर समकालीन कविता ग्रौर ग्रालोचना तथा विचारधारा पर प्रकाश डाला। उनके मत से समाजशास्त्रीय ग्रालोचना में मार्क्सवाद ग्रौर मनोविज्ञान में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान ग्रालोचकों की बहुत मदद कर सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र की ग्रवधारणाग्रों को, सामाजिक यथार्थता के साथ जोड़कर, ग्राधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

---

3 महाभारत में यथार्थ

महाभारत का जो वर्तमान रूप हमे प्राप्त होता है, उसका समय 400 ई पूर्व से ईसा पश्चात् चतुर्थ शताब्दी—इस अवधि मे निर्मित माना जाता है। विंटरनित्ज ने अन्य अनेको विद्वानो के मतों पर विचार कर यही समय निर्धारित किया है।[1] यद्यपि इस मत को भी चुनौती दी गई है तथापि कोई भी तटस्थ दृष्टि से पठन-पाठन करने वाला विंटरनित्ज की तिथियो को स्वीकार करेगा। वस्तुस्थिति यह है कि महाभारत का मूल रूप 'कौरव-पाण्डव' युद्ध का वर्णन है, इस 'युद्ध वर्णन' के आस-पास अनेक कथाएं, दन्तकथाएं, धार्मिक कथाएं, उपाख्यान और वंशावलियां आदि जोड दी गई हैं। क्या 'कौरव-पाण्डव-युद्ध वर्णन' भी चारसौ वर्ष ईसापूर्व से ही प्रारम्भ होता है? निश्चित रूप से पडित और गायक बौद्ध युग (600 ईसा पूर्व) के पूर्व भी कौरव-पाण्डव-युद्ध की कथा लोगो को सुनाते रहे होंगे। पाणिनि ने भी महाभारत का उल्लेख किया है जिसे विद्वान ईसा से 500 ईसा पूर्व मानते हैं अत सम्भव है कि महाभारत का मूल अंश 'कौरव-पाण्डव युद्ध' गायको व पंडितो द्वारा बौद्ध युग से पूर्व भी सुनाया जाता रहा हो। बौद्धयुग मे इसे लिपिबद्ध करना आवश्यक समझा गया और यह कार्य विभिन्न क्षेत्रो व विभिन्न प्रकार के पडितो द्वारा हुआ उदाहरण के लिए शैवो के द्वारा 'शिवमहात्म्य', वैष्णवो के द्वारा 'विष्णु महात्म्य' तथा शाक्तो के द्वारा 'देवी महात्म्य' व इन मतों से सम्बन्धित उपाख्यान जोड दिए गए। परिव्राजको-संन्यासियो द्वारा महाभारत मे संन्यास से सम्बन्धित ज्ञान-वैराग्य तपस्या प्रधान स्थल जोड़े गये तथा याज्ञिको के द्वारा वैदिककर्मकाण्ड के वर्णन जोड़ दिये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मार्त वैष्णवो ने इसमे स्मृति व वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी धर्म का विवेचन मिला दिया है। राजधर्म, वर्णधर्म आदि सभी कर्तव्यों का विचार इस महाग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक आते-आते एक महाग्रन्थ का निर्माण सम्भव हो पाया जिसमें ऋग्वेद से लेकर चतुर्थ शताब्दी तक की सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, समाज, दर्शन, न्याय, धर्म, पूजा, उपासनादि की झलक इस एक ही ग्रन्थ मे हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन को मानने पर ही हम महाभारत के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों व आचार विचारो का सामन्जस्य बिठा सकते है, अन्यथा नही।

1. History of Indian literature, Winternitze, Page 465.

महाभारत की इस विराट-प्रवधि पर दृष्टिपात करते ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत मूलतः "ब्राह्मणधर्म" या 'ब्राह्मणवादी' मूल्यों को सम्मुख रखता है। महाभारत व रामायण द्वारा इस ब्राह्मणवर्ग ने, जो अपने राजनैतिक, धार्मिक व दार्शनिक विचारों को ही समाज के लिए अधिक उपयोगी समझता था, घोषित करता था, बौद्ध जैन, आजीवक आदि तथाकथित 'नास्तिकमतों' से लोहा लिया है और विजय पाई है। महाभारत में दो सिद्धान्तों में, दो सम्प्रदायों में—दो दृष्टियों में, महान संघर्ष दिखाई पड़ता है (1) जो जीवन व जगत् को छोड़कर संन्यास लेता है—राग व द्वेष का तपस्या द्वारा दमन करना चाहता है, प्रत्येक परिस्थिति में सत्य अहिंसा, आर्जव, अस्तेय, अपरिग्रह का अभ्यास करना पसन्द करता है और विवाह, सन्तानोत्पादन तथा सांसारिक कार्यों को हीन दृष्टि से देखता है। इस वर्ग में संन्यासी, तपस्वी, सभी प्रकार के योगी (बौद्ध व जैन आदि) आते हैं।

(2) महाभारत में दूसरी वह ब्राह्मणवादी दृष्टि है जिसका ध्यान सर्वत्र तात्कालिक सभ्यता की रक्षा व विकास पर है। यह ब्राह्मणवादी दृष्टि ब्राह्मणों से प्रभावित भीष्म जैसे क्षत्रियों में भी दिखाई पड़ती है, यों 'व्यास'—कृष्ण द्वैपायन इस दृष्टि के मुख्य प्रचारक हैं। इसमें वैदिक यज्ञयागों का गौरव स्वीकार किया जाता है, वर्णाश्रम धर्म तथा सभी प्रकार के योग व तप के प्रति आदर दिखाया जाता है किन्तु यह दृष्टि शुद्ध व्यावहारिक है या आप चाहें तो इसे 'यथार्थवादी' भी कह सकते हैं। यह दृष्टि सत्य, न्याय, धर्म, अधर्म, आर्जव आदि की परिस्थिति सापेक्ष्य व्याख्या करती है, और केवल उस सिद्धान्त या कर्म को 'धर्म' मानती है जिससे समाज का हित होता है। समाज का अर्थ है—ब्राह्मणों की देखरेख में क्षत्रियों द्वारा अनुशासित समाज जिसमें वैश्य वर्ण तथा शूद्र, दास तथा ऐसे ही कमकर लोग हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध व जैन प्रचारक निरपेक्ष सत्यों का प्रचार करते थे, उनमें कुछ वेदज्ञ संन्यासी भी रहे होंगे। महाभारत ने बड़ी ही स्पष्टता और दृढ़ता से निरपेक्षतावाद का प्रत्येक क्षेत्र में विरोध किया है। निरपेक्षता से हमारा तात्पर्य है कि परिस्थिति पर विचार न कर—केवल कुछ अमूर्त्त (Abstract Human Values) सत्यों या मानव मूल्यों का प्रचार।[1]

---

1. आज पुनः हमारे देश में वही द्वन्द्व उपस्थित हुआ है जो महाभारत के समय में बौद्ध युग में था। जिस तरह बौद्ध व जैन संन्यासी सभी परिस्थितियों में सत्य अहिंसा, अपरिग्रह, आर्जव आदि का प्रचार करते थे उसी प्रकार 20वीं शताब्दी में गांधीजी तथा उनके शिष्य विनोबाभावे तथा उनके सर्वोदयी विचारक निरपेक्षतावाद का प्रचार कर रहे हैं। यह दृष्टि मूलतः बौद्ध या जैन दृष्टि है जिसमें समाज के हित या अहित पर विचार न कर केवल मानवीय मूल्यों का ही प्रचार किया जाता है, वस्तुतः मानवीय वही है, जो परिस्थिति-सापेक्ष हो और जिससे अधिकतर समाज का हित होता हो। अतः सर्वोदयवादियों के सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त को "मानवीय" कहना उचित नहीं

महाभारत की विजय इसलिए हुई, क्योकि उसकी दृष्टि 'यथार्थवादी' ह है। बौद्ध व जैन दृष्टि इसलिए प्रभावहीन या अस्वीकृत हुई क्योंकि उसने अ समय की वास्तविक परिस्थितियो की उपेक्षा कर—सभी परिस्थितियों मे एक 'सत्य' का प्रचार करना चाहा अतः जीवन से अलग होकर केवल वह विरक्त साधु के वर्ग मे भी फली फूली और उनके भ्रष्ट होते ही वह लचकीली ब्राह्मण संस्कृति मे रूप बदल कर समा गई। अब हम महाभारत द्वारा प्रचारित सापेक्षतावादी दृष्टि की व्याख्या कर सकते है।

धर्म क्या है—महाभारत मे धर्म के यथार्थवादी व्याख्याकार यो तो कई लोग है, परन्तु उनमे मुख्य कृष्ण है। व्यास ने स्पष्ट कहा है कि "जहां कृष्ण है, वही धर्म है और जहा धर्म है, वही विजय है।" कृष्ण की मुख्य कृति गीता है किन्तु गीता की जितनी भी टीकाएं है, वे सब महाभारत के मतव्य की उपेक्षा करके लिखी गई है, अतः इन टीकाओ को महाभारत के साथ पढने पर उनकी असंगत व्याख्याएं स्वतः स्पष्ट हो जाती है। कृष्ण ने गीता के अतिरिक्त अनेक कई स्थानो पर 'धर्म' की व्याख्या की है अतः धर्म को समझने के लिए कृष्ण को समझना आवश्यक है।

यह सही लगता है कि 'कृष्ण' कई हुए है किन्तु बौद्ध-जैन सिद्धान्त से लड़ने के लिए तथा 'सद्धर्म' का प्रचार करने के लिए ब्राह्मणो ने जिस 'कृष्ण' को वासुदेव कृष्ण को, विष्णु का अवतार मानकर सद्धर्म का उपदेश कराया है वही कृष्ण वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत के मुख्य प्रवक्ता है अतः कृष्ण के मुख से ब्राह्मणो ने जो कुछ कहलाया है, वह हमारे अधिक काम का है, स्वय कृष्ण कई हो सकते है य एक भी हो सकते है।

यह कृष्ण ही कहते है कि जब जब धर्म की हानि होती है, तब तब मैं अवतार धारण करता हूँ, धर्म की स्थापना करता हूँ। यह धर्म क्या है?

कृष्ण भी शान्ति, समता, प्रेम, अहिंसा, सत्य आदि को ही 'धर्म' या "चरम मूल्य" कहते है तथापि वह कहते है कि किसी विशेष परिस्थिति में इन महान सत्यो का निर्वाह सम्भव नही है। वह संधि के लिए आये हुए संजय की भर्त्सना करते हुए कहते है—

'न त्वं धर्मं विचरं संजयेह—मत्तश्च जानासि युधिष्ठरश्च।' संजय! तुम अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिर से 'धर्म' का लोप नही हो सकता। आगे कृष्ण इस धर्म का उपदेश देते है। उनके अनुसार जिस कर्म से लोकरक्षा हो, वही कर्म वास्तविक 'धर्म' है। कर्म के बिना विद्वान् ब्राह्मण भी नही रह सकता, उसे क्षुधा निवृत्ति के लिए भोजन करना पड़ता है। कृष्ण के अनुसार ज्ञान का विधान भी कर्म को लेकर ही है। ज्ञान में भी कर्म ही विद्यमान है। जो कर्म से भिन्न, कर्म के त्याग को श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है। इसके बाद कृष्ण, सूर्य, चन्द्र,

पृथ्वीदेवी, अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, नक्षत्र आदि को सदैव कर्मरत बताकर 'कर्म' को ही धर्म कहते है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध व जैन जन्म के संन्यासवाद का खडन करते हैं।

यह 'कर्म' उस युग मे विभाजित हो चुका था अतः अपने युग की मान्यता के अनुसार ही कृष्ण 'वर्णाश्रमधर्म को ही 'धर्म' कहते है, अर्थात् अध्ययनशील अपना कर्म करें और क्षत्रियादि अपना अपना कार्य करें, इसी से समाज चल सकता है। प्रजा का धारण इस वर्णाश्रमधर्म से ही होगा अतः यही धर्म है।

गीता में युद्ध की स्वीकृति कृष्ण इस वर्णाश्रमधर्म के ही आधार पर देते है, "परधर्मोभयावहः" पर ही उनका सारा बल है और बौद्ध-जैन संन्यासी आदि किसी भी परिस्थिति में युद्ध नहीं चाहते, जबकि कृष्ण 'निष्कामकर्मयोग' द्वारा युद्ध की मन्त्रणा देते है क्योंकि युद्ध से लुटेरों और अन्यायियों का यदि नाश होता है, तो युद्ध धर्म है।

अतः कृष्ण की दृष्टि इस बात पर है कि किस कर्म से समाज का हित होता है। यदि युद्ध से, कतिपय दुर्योधनादि की हिंसा से अधिकांश समाज सुखी हो सकता है तो उनकी हिंसा रूप कर्म ही धर्म है, पलायन रूप कर्म धर्म नही है। इसी प्रकार समाज में अपना अपना कार्य करना ही कृष्ण के अनुसार धर्म है। कर्म को छोडकर वन को भागना धर्म नहो है (कम से कम कृष्णानुसार 50 वर्ष पूर्व संन्यास लेना अधर्म है) क्योंकि बौद्धों जैसे संन्यास से समाज चल नही सकता और समाज के न चलने पर "मानवीय मूल्यो के प्रचारक" भी समाप्त हो जायेंगे। कृष्ण ने साफ साफ कहा है कि "जब क्रूर मनुष्य दूसरे की धन सम्पत्ति में लालच रखकर उसे लेने की इच्छा करता है और विधाता के कोप से सेना का संग्रह करता है तो युद्ध का अवसर उपस्थित होगा ही, इसी युद्ध के लिए ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुष का आविष्कार हुआ है।"

यह उस युग की यथार्थ परिस्थिति थी। जिस समाज में धन का असमान वितरण होगा, उसमे लूट खसोट होगी ही और तब युद्ध 'धर्म' होगा ही।[1] कृष्ण मार्क्स के विद्यार्थी तो थे नही जो यह भी कह देते कि युद्ध तब बन्द हो जायेंगे, जब समाजवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाएगी। हाँ भीष्म ने यह अवश्य बताया है कि पूर्व समय में—सतयुग मे सम्पत्ति का विषम वितरण न था, तब विग्रह था ही नहीं। अन्य पुराणों में भी आदिम साम्यवादी कबीलायुग को याद किया गया है। कृष्ण इस यथार्थ से जरूर वाकिफ थे कि जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति है, तब तक द्वन्द्व अवश्य रहेगा। अन्यथा समाज नही चल सकता। हम जानते हैं कि सभ्यता के विकास का इतिहास कृष्ण के इस कथन को पुष्ट करता है। कुल के लिए एक पुरुष, ग्राम के

---

1. यदा गृध्येत् परभूतो नृशंसो—विधिप्रकोपात बलमाददानः।
ततो राज्ञाभवत् युद्धमेतत्—तत्र जात वर्म शस्त्रं धनुश्च। —उद्योग पर्व

लिए एक कुल, जनपद के लिए एक ग्राम छोड़ने की बात तो महाभारत भी कहता है। सभ्यता के विकास में बहुतो को प्राणों की कीमत देनी पड़ती है।

अतः हिंसा या अहिंसा का प्रश्न आने पर पहले यह समझना चाहिए कि वर्गभुक्त समाज मे हिंसा अवश्य होगी, वन मे भाग कर प्राणायाम करने से हिंसामय परिस्थितियो का नाश नही हो सकता. इसलिए प्रश्न यह होना चाहिए कि हिंसा किसके विरुद्ध ? आततायी के विरुद्ध ? तब तो हिंसा ही धर्म है। यदि स्वयं ही कोई हिंसा करता है तो उसके सबसे अधिक निंदक है कृष्ण क्योंकि यज्ञों की हिंसा का खंडन गीता मे कृष्ण ने किया ही है।

दुर्योधन को छल द्वारा मारने पर बलराम ने भी कृष्ण को डांटा था "भीमसेन ने धर्म को हानि पहुँचा कर धर्म को विकृत कर डाला है, तुम मुझसे जिस प्रकार इस कार्य को धर्मसंगत बता रहे हो, माधव ! वह सब तुम्हारी कल्पना ही है।"

दुर्योधन ने भी कृष्ण की भर्त्सना की थी—

"कृष्ण ! सरलता से धर्मानुकूल युद्ध करने वाले सहस्रो भूमिपालो को बहुत से कुटिल उपायो द्वारा मरवाकर क्या तुम्हे लज्जा नही आती ? और न इस बुरे कर्म से घृणा होती है ? इसके उत्तर मे कृष्ण स्पष्ट कहते है कि तुम से प्रजा दुःखी थी, तुम पापी थे अतः तुम्हे मारना अधर्म नही है—

जितवन्तो रणे वीरा, पापोऽसि निधनं गतः। "वीर युद्ध में जीते, पापी मारे गए" दुर्योधन ! तुम जिन कार्यों को अनुचित बता रहे हो, वे सब तुम्हारे ही महान पाप के कारण करने पड़े। (गोशाला में बाघ की षड्यंत्र द्वारा हत्या भी धर्म है।)

सत्य—सत्य व असत्य के विषय म भी कृष्ण की दृष्टि यथार्थवादिनी है। कर्णपर्व मे युद्ध मे घायल युधिष्ठिर को देखने के लिए अर्जुन और कृष्ण जाते है। युधिष्ठिर यह समझ कर कि अर्जुन कर्ण का वध किए बिना युद्ध से चले आए है, अर्जुन को गांडीव फेंक देने के लिए कहते है, उधर अर्जुन ने मन ही मन गांडीव फेंकने की कहने वाले को मार डालने की प्रतिज्ञा कर रखी थी अतः अर्जुन युधिष्ठिर को मार डालने के लिए तलवार खींचते है, क्योंकि "सत्य" की रक्षा करनी है ! कृष्ण कहते है—

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं, पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥

सत्य बोलना उत्तम है, सत्य से बढ़कर कुछ नहीं है परन्तु सत्य के 'यथार्थ' स्वरूप का ज्ञान कठिन है।

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्॥

जहाँ मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान मंगलकारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य भाषण के समान अनिष्टकारी हो, वहां सत्य नहीं बोलना चाहिए, वहां असत्य बोलना ही धर्म होगा।

विवाह, प्राण संकट, सर्वस्व अपहरण आदि अवसरों पर असत्य ही बोलना चाहिए, वही सत्य है।

तादृशं पश्यते बालो, यत्र सत्यमनुष्ठितम्।

जो मूर्ख है, वही यथानिश्चित व्यवहार में लाए हुए एक जैसे सत्य को सर्वत्र आवश्यक समझता है। अर्थात् जो परिणाम में सत्य हो उसका पालन करना चाहिए।

कृष्ण ने कौशिकमुनि का उदाहरण भी दिया है। लुटेरों ने वन में छिपे हुए पथिकों के विषय में कौशिकमुनि से पूछा, कौशिक ने सच सच बता दिया। पथिकों को लूटकर मारडाला गया, कौशिकमुनि को हत्या का पाप लगा। अतः कृष्ण का कहना यह है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।

धर्म ही प्रजा का धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं अतः जो धारण या रक्षा से युक्त हो वही धर्म है। स्पष्ट है कि कृष्ण बौद्धों व जैनियों की तरह "एब्सर्ड वट" सत्य की गुहार नहीं करते वे मानव मूल्यों की परिस्थिति-सापेक्षता स्वीकार करते हैं। धर्म की इसी परिभाषा के अनुसार प्राणवध के लिए युधिष्ठिर से कृष्ण ने झूठ बुलवाया था और अन्यायियों को दंड देने के लिए नाना षडयन्त्र किये थे। पापी प्रबल होते ही हैं अतः निर्बलों द्वारा पापियों को मारने के लिए किए गए षडयन्त्र धर्म हैं और बलवान अत्याचारी के षडयन्त्र अधर्म हैं! इसीलिए व्यास कहते हैं कि जहां कृष्ण है, वहीं धर्म है।

भीष्म भी 'धर्म' का उद्देश्य "लोकयात्रा का निर्वाह" बताते हैं, जिससे लोकयात्रा का निर्वाह हो वही धर्म है—

लोकयात्रार्थमेवेह, धर्म प्रवचनं कृतम्।

भीष्म के सम्मुख युधिष्ठिर जिस वैराग्य पर बल देते हैं[1] उस बौद्धों जैसे वैराग्य की निंदा भीष्म, कृष्ण आदि बार बार करते हैं क्योंकि उससे लोकयात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता। भीष्म ने इस वैराग्यवृत्ति के खंडन के लिए जनक का दृष्टान्त दिया है। जनक वैरागी बनकर चल पड़े, रानी ने कहा कि राजा! मोक्ष की प्राप्ति संशयास्पद है! आप तो सब प्राणियों के लिए निपान (प्याऊ) के समान,

---

1 (क) युधिष्ठिर-जो लोग दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हैं; उनके लिए भी पदार्थों की गति समझना दुष्कर है। दूसरे लोग तो हार कर जीतते हैं किंतु हम लोग जीतकर भी हार गए हैं।

(ख) सारी आयु प्रयत्न करने पर भी इस अपूर्णनीय इच्छा की पूर्ति असम्भव है (यहां बौद्धों की "तन्हा" का ही वर्णन है)

(ग) ममता और आसक्ति ही 'आमिष' है, त्याज्य है यह।

लिए एक कुल, जनपद के लिए एक ग्राम छोड़ने की बात तो महाभारत भी कहता है। सभ्यता के विकास में बहुतों को प्राणों की कीमत देनी पड़ती है।

अतः हिंसा या अहिंसा का प्रश्न आने पर पहले यह समझना चाहिए कि वर्गयुक्त समाज में हिंसा अवश्य होगी, वन में भाग कर प्राणायाम करने से हिंसामय परिस्थितियों का नाश नहीं हो सकता. इसलिए प्रश्न यह होना चाहिए कि हिंसा किसके विरुद्ध ? आततायी के विरुद्ध ? तब तो हिंसा ही धर्म है। यदि स्वयं ही कोई हिंसा करना है तो उसके सबसे अधिक निंदक हैं कृष्ण क्योंकि यज्ञों की हिंसा का खंडन गीता में कृष्ण ने किया ही है।

दुर्योधन को छल द्वारा मारने पर बलराम ने भी कृष्ण को डांटा था "भीमसेन ने धर्म को हानि पहुँचा कर धर्म को विकृत कर डाला है, तुम मुझसे जिस प्रकार इस कार्य को धर्मसंगत बता रहे हो, माधव ! वह सब तुम्हारी कल्पना ही है।"

दुर्योधन ने भी कृष्ण की भर्त्सना की थी—

"कृष्ण ! सरलता से धर्मानुकूल युद्ध करने वाले सहस्रों भूमिपालों को बहुत से कुटिल उपायों द्वारा मरवाकर क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ? और न इस बुरे कर्म से घृणा होती है ? इसके उत्तर में कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि तुम से प्रजा दुःखी थी, तुम पापी थे अतः तुम्हें मारना अधर्म नहीं है—

जितवन्तो रणे वीरा, पापोऽसि निधनं गतः। "वीर युद्ध में जीते, पापी मारे गए" दुर्योधन ! तुम जिन कार्यों को अनुचित बता रहे हो, वे सब तुम्हारे ही महान पाप के कारण करने पड़े। (गोशाला में बाघ की षड्यंत्र द्वारा हत्या भी धर्म है।)

सत्य—सत्य व असत्य के विषय में भी कृष्ण की दृष्टि यथार्थवादिनी है। कर्णपर्व में युद्ध में घायल युधिष्ठिर को देखने के लिए अर्जुन और कृष्ण जाते हैं। युधिष्ठिर यह समझ कर कि अर्जुन कर्ण का वध किए बिना युद्ध से चले आए हैं, अर्जुन को गांडीव फेंक देने के लिए कहते हैं, उधर अर्जुन ने मन ही मन गांडीव फेंकने को कहने वाले को मार डालने की प्रतिज्ञा कर रखी थी अतः अर्जुन युधिष्ठिर को मार डालने के लिए तलवार खींचता है, क्योंकि "सत्य" की रक्षा करनी है ! कृष्ण कहते हैं—

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं, पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥

सत्य बोलना उत्तम है, सत्य से बढ़कर कुछ नहीं है परन्तु सत्य के 'यथार्थ' स्वरूप का ज्ञान कठिन है।

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्॥

जहां मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान मंगलकारक हो अथवा जहां सत्य बोलने का परिणाम असत्य भाषण के समान अनिष्टकारी हो, वहां सत्य नहीं बोलना चाहिए, वहां असत्य बोलना ही धर्म होगा।

विवाह, प्राण संकट, सर्वस्व अपहरण आदि अवसरों पर असत्य ही बोलना चाहिए, वही सत्य है।

तादृशं पश्यते बालो, यत्र सत्यमनुष्ठितम्।

जो मूर्ख है, वही यथानिश्चित व्यवहार में लाए हुए एक जैसे सत्य को सर्वत्र आवश्यक समझता है। अर्थात् जो परिणाम में सत्य हो उसका पालन करना चाहिए।

कृष्ण ने कौशिकमुनि का उदाहरण भी दिया है। लुटेरों ने वन में छिपे हुए पथिकों के विषय में कौशिकमुनि से पूछा, कौशिक ने सच सच बता दिया। पथिकों को लूटकर मारडाला गया, कौशिकमुनि को हत्या का पाप लगा। अतः कृष्ण का कहना यह है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।

धर्म ही प्रजा का धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते है अतः जो धारण या रक्षा से युक्त हो वही धर्म है। स्पष्ट है कि कृष्ण बौद्धों व जैनियों की तरह "एब्सट्रैक्ट" सत्य की गुहार नहीं करते वे मानव मूल्यों की परिस्थिति-सापेक्षता स्वीकार करते हैं। धर्म की इसी परिभाषा के अनुसार प्राणवध के लिए युधिष्ठिर से कृष्ण ने झूठ बुलवाया था और अन्यायियों को दंड देने के लिए नाना षडयंत्र किये थे। पापी प्रबल होते ही है अतः निर्बलों द्वारा पापियों के नाश के लिए किए गए षडयन्त्र धर्म हैं और बलवान अत्याचारी के षडयन्त्र अधर्म हैं। इसीलिए व्यास कहते है कि जहा कृष्ण है, वही धर्म है।

भीष्म भी 'धर्म' का उद्देश्य "लोकयात्रा का निर्वाह" बताते हैं, जिससे लोक यात्रा का निर्वाह हो वही धर्म है—

लोकयात्रार्थमेवेह, धर्म प्रवचन कृतम्।

भीष्म के सम्मुख युधिष्ठिर जिस वैराग्य पर बल देते है[1] उस बौद्धों जैसे वैराग्य की निंदा भीष्म, कृष्ण आदि बार बार करते है क्योकि उससे लोकयात्रा का निर्वाह नही हो सकता। भीष्म ने इस वैराग्यवृत्ति के खंडन के लिए जनक का दृष्टान्त दिया है। जनक वैरागी बनकर चल पडे, रानी ने कहा कि राजा! मोक्ष की प्राप्ति संशयास्पद है! आप तो सब प्राणियों के लिए निपान (प्याऊ) के समान,

---

1 (क) युधिष्ठिर-जो लोग दिव्य दृष्टि से सम्पन्न हैं; उनके लिए भी पदार्थों की गति समझना दुष्कर है। दूसरे लोग तो हार कर जीतते हैं किंतु हम लोग जीतकर भी हार गए हैं।

(ख) सारी आयु प्रयत्न करने पर भी इस अपूरणीय इच्छा की पूर्ति असम्भव है (यहां बौद्धों की "तृष्णा" का ही वर्णन है)

(ग) ममता और आसक्ति ही 'आमिष' है, त्याज्य है यह।

थे, यदि आप सब कुछ छोड़कर मुट्ठीभर जौ के लिए दूसरों की कृपा चाहते हैं, तो राज्य आदि वस्तुएं भी तो इसी के समान हैं, तब राज्य-त्यागी की महिमा क्या है? यदि कोई आपकी कुंडी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले और वस्त्र चुरा ले, तब क्या अवस्था होगी?

भीष्मपर्व में नाना दृष्टान्तों द्वारा गृहस्थ-धर्म की महत्ता स्थापित की गई है। कहा गया है कि एक बार आश्रमों को तौला गया, एक तराजू के पलड़े पर तीन आश्रम और एक पर अकेला गृहस्थाश्रम। किंतु गृहस्थ धर्म ही भारी निकला। (द्रष्टव्य-शांतिपर्व--11 अध्याय) मन को पवित्र रखने का प्रयत्न गृहस्थधर्म में भी हो सकता है, मूर्खों की तरह वनगमन व्यर्थ है—

न यः परित्यज्य गृहान्-वनमेति विमूढवत्।

यह भी कहा गया है कि गृहस्थधर्म का पालन सबसे कठिन है। दुर्बल इन्द्रिय व्यक्ति के लिए गृहस्थधर्म नहीं है।

तंचगाद्य विधि पार्थं दुश्चर दुर्बलेन्द्रियैः।

इसीलिए भीष्म पुरुषार्थ को प्रारम्भ से श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि पुरुषार्थ और इन्द्रियसंयम के बिना सब आश्रमों के लिए आश्रय रूप गृहस्थधर्म चल नहीं सकता। भीष्म ने स्पष्ट कहा है कि यदि विष्णु अपने पराक्रम से असुरों को न जीतते तो ये ऋषि-ब्राह्मण, तपस्वी आदि कोई न दिखाई पड़ते।

भीष्म ने राज्य व्यवस्था पर भी भरपूर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार समाज व राज की व्यवस्था ठीक होने पर सत्ययुग आ सकता है। भीष्म यह कल्पना भी न कर सकते थे कि कभी सम्पत्ति पर सबका अधिकार होने पर सत्ययुग की कल्पना हो सकेगी अतः उन्होंने विषमसम्पत्ति वाली युग-व्यवस्था में दण्ड को ही सत्ययुग का लाने वाला बताया है और उस समय की दृष्टि से यही यथार्थ दृष्टि है—

दण्डनीत्यां यदा राजा, सम्यक्, कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुग नाम कालसृष्ट प्रवर्तते ।

अतः गृहस्थधर्म व राज्यधर्म में सामञ्जस्य लाने के लिए पराक्रम करना चाहिए।

भीष्म, कृष्ण व व्यास अराजकता व निरंकुशता के विरोधी थे। यदि ध्यान से देखा जाय तो अराजकता व निरंकुशता के नाश के लिए ही महाभारत का युद्ध रचाया गया था, कौरव पाडव-विग्रह तो माध्यम भर था। प्रश्न होगा कि जब "कौरव-पाडव" युद्ध का अस्तित्व ही विवादास्पद है तब क्या यह कल्पना नहीं है? किंतु जैसा मैंने कहा है कि ब्राह्मण पंडितों ने कृष्ण और महाभारत को बौद्धयुग में जो रूप दिया है, उनका तात्पर्य उस काल में फैली हुई विशृंखल राज्य-शक्ति को एक "अनुशासित केन्द्रीय राज्य व्यवस्था" के अन्तर्गत लाना ही था और चाणक्य

द्वारा वह उद्देश्य पूरा भी हुआ। कृष्ण के उपदेशों को चरितार्थ करने वाला ब्राह्मण चाणक्य ही था। अतएव भीष्म व कृष्ण राज्यधर्म, गृहस्थधर्म, सत्यवादन, हिंसा, अहिंसा आदि के निर्णय में देश व काल पर इतना अधिक बल देते हैं—

भवत्यधर्मो धर्मोहि धर्माधर्माविुभावपि।
कारणाद् देशकालस्य देशकालः स तादृशः।

भीष्म ने कहा है कि "कुछ लोग वेद में प्रतिपादित को ही धर्म कहते हैं, दूसरे इसे धर्म का लक्षण नहीं मानते। परन्तु इतना अवश्य है कि वेद में सभी बातों का विधान नहीं है" (न हि सर्वं विधीयते)

भीष्म तो आत्मा की सत्ता को भी लोकयात्रा के निर्वाह के लिए ही आवश्यक मानते हैं। "यदि आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो लोकयात्रा का निर्वाह नहीं होगा। दान तथा दूसरे धर्मों के फल की प्राप्ति के लिए कोई आस्था न रहेगी।" मतलब यह है कि आत्मा को इसलिए मानना चाहिये कि उसमे विश्वास करने से आदमी अच्छे काम करने की प्रेरणा पाता है। अन्यत्र भीष्म प्रारब्ध पर भी इसीलिए विश्वास करने को कहते हैं। कृष्ण की ही तरह भीष्म को "लोकयात्रा के सुचारू रूप" से चलने की ही सबसे अधिक चिन्ता है, उसमें यदि ईश्वर-आत्मा आदि में विश्वास से सहायता मिलती है, तो वैसा करना भी धर्म है!

भीष्म ने यह भी बताया है कि प्रत्येक वर्ग के अपने मूल्य अलग-अलग होते हैं। "जो मनुष्य अच्छी स्थिति मे है उसका धर्म दूसरा है, जो संकट में है उसका धर्म दूसरा है अतः वेदों के पाठ से धर्म का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म छुरे की धार से भी सूक्ष्म और पर्वत से भी अधिक गुरु है—कार्य के हेतु या परिणाम पर विचार किये बिना धर्माधर्म का निर्णय गलत होता है।"

महाभारत के अन्त में व्यास भुजा उठाकर इसी मूल्य या 'धर्म' की—लोकयात्रा-निर्वाह में सहायक धर्म की—घोषणा करते हैं—

"मैं दोनों हाथों को ऊपर उठाकर पुकार पुकार कर कह रहा हूं परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष (कृतार्थता: शांति) तो सिद्ध होती है, अर्थ व काम भी सिद्ध होते हैं, तो भी लोग उसका सेवन नहीं करते।"

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

इस प्रकार महाभारत सत्य, न्याय, धर्मादि की यथार्थवादी परिस्थिति-सापेक्ष्य व्याख्या करता है। कोई सत्य 'अपने में' सत्य नहीं है, कोई नीति 'अपने में' न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं है, महाभारत का यही दृष्टिकोण है। किसी परिस्थिति में रखकर ही सत्य, असत्य, नीति, अनीति, सदाचार-दुराचार; पाप-पुण्य, ईमानदारी, बेईमानी, आर्जव, क्रूरता, हिंसा-अहिंसा आदि का निर्णय होना चाहिए। आदर्शवादी (Idealists) इसके विपरीत उक्त मूल्यों की ही रक्षा में तत्पर रहना

चाहते है और परिस्थिति का विचार नही करते—महाभारत का मूलस्वर इस प्रवृति के विरुद्ध है और इस प्रकार वह ब्राह्मणवर्ग के उस व्यावहारिक या सामाजिक दृष्टिकोण को हमारे सम्मुख रखता है जो बौद्धों व जैनियों के निरपेक्षनीतिवाद या अहिंसावाद व सन्यासवाद का विरोध करता था। यद्यपि महाभारत में वैरागियों व सन्यासी ब्राह्मणो ने भी निरपेक्ष सत्यो व निरपेक्ष मानव मूल्यो का प्रचार किया परन्तु वह इस ग्रन्थ का मूलस्वर नही है, अतः हमें महाभारत को यथार्थवादी यथार्थवादी अहिंसा, यथार्थवादी नीति एवम् संक्षेप मे यथार्थवादी जीवन दृष्टि प्रचारक समझना चाहिये। उसकी दृष्टि समाज के संचालन पर है, शुद्ध निरपेक्ष मूल्यो (Values) पर नहीं।

मूल्यों के आधार और वर्ग-सम्बन्ध – यह कहा गया है कि महाभारत का मूल अंश 'कौरव-पाण्डव-युद्ध' सूत (Bards) तथा कुशीलवों के द्वारा जनता तथा दरबारो मे प्रचारित हुआ करता था। युद्ध-वर्णन के साथ सूतलोग परम्परा से प्राप्त प्राचीन वैदिक उपाख्यानों (Mythological Stories) का भी प्रचार करते होंगे। तत्पश्चात् महाभारत के मूल अंश के आसपास ब्राह्मण पुरोहितों, मन्दिर के पुजारियो, परिव्राजक तथा अन्य साधकों ने इसे वर्तमान रूप दिया है। इस प्रकार देवताओ की कथाएं, उपदेशात्मक तथा दार्शनिक कथाएं नीति, न्याय (law) आदि जिनके द्वारा तात्कालिक वर्ग-सम्बन्धो पर प्रकाश पड़ता है, ब्राह्मणो द्वारा ही निर्मित है। ब्राह्मण वर्ग एक जागरूक वर्ग रहा है, उसने अपनी महत्ता-स्थापन के लिए ऋषियो के महात्म्य और शक्ति की अद्‌भुत कथाएं, पितरों के चमत्कार, यज्ञ व तपस्या की शक्ति द्वारा देवताओं को भी नीचा दिखाने की शक्तिसम्बन्धी कहानियाँ, निग्रह (शाप) और अनुग्रह करने की सामर्थ्य के इतिहास आदि कहे हैं और सब ऊपर आध्यात्मिक सत्ता के सम्बन्ध मे गम्भीर अनुभूतियो का आवरण डालकर वास्तविक वर्ग-सम्बन्धो को छिपाने का भरपूर प्रयत्न भी किया है तथापि महाभारत मे किंचित ध्यान से देखने पर वर्ग सम्बन्धो तथा समाज के अन्तर्विरोधो को छिपाया नही जा सका है।

महाभारत में 400 ई. पूर्व से 400 ई. पश्चात्, इन 800 वर्षों के वर्ग संबंधो पर प्रकाश पड़ता है, फिर महाभारत मे अनेक कथाएं ऐसी भी है जिनसे 'बौद्ध युग' से पूर्व के युग के सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है। यह निर्णय करना असम्भव सा ही है कि कौन सी कथाएं ईसा के पश्चात् जोड़ी गई है और कौन सी 400 ई. पूर्व की है अतः सामान्यरूप से हमे 'बौद्ध-युग' के वर्ग सम्बन्धो को समझने में ही महाभारत से सुविधा मिलती है, जहा प्राचीनतर वर्ग-सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है, वहां हम वैसा उल्लेख करते चलेंगे।

महाभारत मे चतुर्वर्ग व्यवस्था को दृढ़ करने का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई पड़ता है—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र ही चतुर्वर्ण हैं। शूद्रों के अतिरिक्त चांडाल, शबर

आदि जातियां हैं जिन्हें शूद्र संज्ञा अभी नही मिल पाई है, बाकी को कभी शूद्रों में और कभी बाहर गिना गया है।

सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि 1000 ई. पूर्व से बौद्ध युग तक सभी वर्णों के लोग उत्पादन में भाग लेते थे। बौद्ध युग में चतुर्वर्ण कृषि, वाणिज्य में और भी अधिक भाग लेते थे-ब्राह्मण वर्ग को राजाओं से जो दान की भूमि मिलती थी, उस पर वे स्वयं खेती कराते थे। घर के सभी सदस्य वेदपाठी नही होते थे, और न सभी क्षत्रिय 'सेनापति' होते थे, अतः अधिकतर लोगो के दिमाग में चतुर्वर्ण की जो तस्वीर है, वह काफी हद तक गलत है। आज जब 'ब्राह्मणवर्ग' या 'क्षत्रियवर्ग' शब्दों का प्रयोग होता है, तब उसका तात्पर्य यह होता है कि अध्ययन-अध्यापन करने वाले ब्राह्मणवर्ग के अनेक सदस्य कृषि, वाणिज्य, युद्धादि में भी भाग लेते थे और कुछ सदस्य पढ़ने-पढ़ाने का भी कार्य करते थे, क्षत्रियो के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। पढ़ने-पढ़ाने वाले ब्राह्मण अपने वंश के सभी ब्राह्मणों को वही महत्व देना चाहते थे जो अध्ययन, तप आदि द्वारा राजा, प्रजा से उन्हें स्वयं प्राप्त था, यही 'द्वन्द्व' का कारण बनता गया। वेदपाठी, तपस्वी अध्ययनशील ब्राह्मणवर्ग के सदस्य चाहते थे कि राजा दान में प्राप्त भूमि पर कर न ले, अन्य वर्ग सम्पूर्ण ब्राह्मणवर्ग का (अर्थात् उनका भी जो वैश्यों व शूद्रों के समान खेती वाणिज्य आदि करते थे) सम्मान करें, उन्हें दान देते रहें, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि भी उन्हें मूर्ख रहने पर भी श्रेष्ठ समझें अपराध करने पर भी उन्हें दण्ड न मिले—आदि आदि। सूत्रकारों ने (बौद्ध युगीन) ब्राह्मण-वर्ग की इस महत्ता को पूरी तरह प्रतिष्ठित किया जिसके विरुद्ध श्रमण-सिद्ध-संत आदि बराबर लड़ते रहे।

भीष्म ने ब्राह्मणों के कर्मों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार ब्राह्मणों में जन्म-कर्म विहीन ब्राह्मण भी होते है, वे 'शूद्रसम' ही है। इनमें बहुत से न्यायालयों में लोगो को बुलाकर लाते है, वैतनिक पुजारी है, नक्षत्र विद्या द्वारा जीविका कमाते है, गांवों के पुरोहित है, महापथिक है (अर्थात् वाणिज्य के लिए दूर-दूर देश जाते है) इन्हे भीष्म चाण्डालवत् मानते है—

> आह्वयका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः।
> एते ब्राह्मण चाण्डाला, महापथिक पञ्चमाः

गौतम बुद्ध ने भी "बुद्धचर्या" मे ऐसे ब्राह्मणो की निन्दा की है परन्तु ऐसे ब्राह्मण ही अधिक थे—ये लोग कृषक व महापथिक थे। ये लोग अपने को (आज के कृषकों, बनियां व ब्राह्मणों की ही तरह) भृगु अंगिरादि की सन्तानें बताकर अन्य कृषकों, वणिकों व शूद्रो से वही सम्मान चाहते थे जो उनके वेदपाठी 'तपस्वी' ब्राह्मण' बन्धुओं को मिलता था और यह असम्भव कार्य था अतः द्वन्द्व उपस्थित होता था—ब्राह्मण व क्षत्रिय एक होकर नीचे की जातियो को दबाते थे—भीष्म ने भी स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण व क्षत्रियों को आपस में न लड़कर हमेशा एक रहना चाहिये—

एक सा काम करते हुए भी ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग अपनी श्रेष्ठता के लिए अब तक लड़ रहा है किन्तु अब वह श्रेष्ठता केवल प्रथा मर रह गई है।

भीष्म अध्ययन के अतिरिक्त कार्य करने वाले ब्राह्मणों की एक अलग 'कक्षा' बनाते हैं—योद्धात्विक, राजपुरोहित, मन्त्री, राजदूत, सदेशवाहक—ये ब्राह्मण क्षत्रियवत् है—अर्थात् बहुत से ब्राह्मण क्षत्रियो का भी काम करते थे और आदर चाहते थे ऋषियो जैसा !

बहुत से ब्राह्मण अश्वारोही, हाथी सवार, रथी, पैदल सिपाही होते हैं ये वैश्यवत् है (शुद्रवत् क्यो नही ? यह अस्पष्ट है) भीष्म कहते है कि "लजाने मे कमी होने पर इन ब्राह्मणो से कर अवश्य लेना चाहिये। कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणों की उपेक्षा नही करनी चाहिये—"

"उन्हे दण्ड भी देना चाहिए, उन्हें श्रेष्ठ ब्राह्मणों से अलग कर लेना चाहिए। यदि ब्राह्मण चोर बन जाए तो उसे देश से निर्वासित कर देना चाहिए। श्रेष्ठ ब्राह्मणों के लिए जीविका की व्यवस्था भी करना चाहिए।'

भीष्म कहते है कि ब्राह्मणो के कर्म-दोष से प्रजा को भय होता है किंतु ऐसा 'कर्मदोष' इतिहास के विकास के लिए अनिवार्य था और कृषक वणिक व्यवसायी ब्राह्मणो की श्रेष्ठता का विरोध भी आवश्यक था। साथ ही श्रेष्ठ ब्राह्मण-वर्ग का सम्मान भी आवश्यक था क्योकि 'अध्ययनशील ब्राह्मण वर्ग' वेदपाठ यथा्त् अध्ययन (जिसमे समाज के लिए आवश्यक-ज्योतिष, भाषा, साहित्य, आयुर्वेद आदि भी था) कृषि, गोरक्षा तथा व्यवसाय के सम्यक संचालन की आवश्यकता पर सबसे अधिक बल देता था—बौद्ध-जैन-श्रमण जन्म से ही संन्यास व तपस्या का प्रचार करते थे। उसके विरोध मे श्रेष्ठ ब्राह्मणों का धर्म उत्पादन के साधनो के विकास तथा केन्द्रीय राज्यसत्ता के लिए अधिक अनुकूल पड़ता था इसीलिए "श्रेष्ठ ब्राह्मणलोग ' काषायधारी श्रमणों का विरोध करते थे।

मार्क्सवादी विद्वान 'ब्राह्मणवर्ग' के इस द्वैध रूप पर ध्यान नही देते तभी श्रमणो द्वारा न तो ब्राह्मण विरोध की उचित व्याख्या कर पाते है और न ब्राह्मणो द्वारा 'श्रमणविरोध' का स्वरूप ही स्पष्ट हो पाता है। ब्राह्मण वर्ग के इस "द्वैधविभाजन" के अनेक प्रमाण महाभारत मे हैं—

भीष्म कहते है कि ब्राह्मण को आपत्तिकाल मे वैश्यवृत्ति अपना लेनी चाहिए (शान्तिपर्व अध्याय, 78) परन्तु मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल, बनाई हुई रसोई, अश्व, बैल, गाय, बकरा, भेड़, भैस की बिक्री नही करनी चाहिये। मतलब यह कि बौद्धयुग मे ऐसे "वैश्यब्राह्मणो" की सख्या कम नहीं थी और बौद्धयुग से पूर्व भी ये काफी तादाद में होगे अन्यथा उपनिषयो मे हजारो गायो व दान मे प्राप्त भूमि की देखरेख कौन करता था ? सभी याज्ञवल्क्य व आरुणि उद्दालक न थे यों याज्ञवल्क्य के आश्रम मे भी दो पत्निया (जिनमें एक 'द्रव्यो' को याज्ञवल्क्य की 'बक-

भक' से अधिक पसन्द करती थी) हजारों गाएँ थीं, सेवक व दास-दासियां भी थीं।[1]

ब्राह्मण व क्षत्रिय सम्बन्ध—महाभारत युग में ब्राह्मणों का गौरव कम होता हुआ दिखाई पड़ता है, तभी महाभारत पूरे अभिनिवेश के साथ प्राचीन ऋषि-मुनियों का अधिक गौरव-गान करता है। वशिष्ठ ब्राह्मण के गौरव को विश्वामित्र कितने कष्ट से प्राप्त कर पाते हैं। मतलब ब्राह्मणत्व दिव्य है, उसे क्षत्रिय प्राप्त तो कर सकता है परन्तु घोर कष्ट उठाकर। (केवल ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वन्द्व को ही नहीं, इस कथा से उक्त ब्राह्मण श्रेष्ठता की स्थापना पर भी अधिक प्रभाव पड़ता है।)

महाभारत में द्रोणाचार्य, परशुराम, अश्वत्थामा आदि अनेक ब्राह्मण शस्त्रधारी हैं, क्षत्रिय जीविकादाता हैं अतः ब्राह्मण अन्य किसी को धनुर्वेद नहीं सिखाते, एकलव्य का अंगूठा काटते हैं। परशुराम कर्ण को 'सूत' जान लेने पर 'विद्याविस्मृति' का शाप दे देते हैं। फिर भी ब्राह्मणों का जीवन राज्यसत्ता की प्रबलता के कारण क्षत्रियों पर आधारित होता हुआ दिखाई पड़ता है।

भीष्म ने कहा है कि क्षत्रिय के पतन पर—राज्यसत्ता की स्थापना में असफल होने पर ब्राह्मण वर्ग को स्वयं शस्त्र उठाना चाहिये। कौन से ब्राह्मण-वर्ग को? निश्चितरूप से 'श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ग' को ही जनता को जगाकर राज्यसत्ता अपने हाथ में ले लेनी चाहिये क्योंकि उनका जनता में अध्ययनादि के कारण सम्मान था।

भीष्म कहते है—

तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदाभवेत्।

अर्थात् तपस्या से—ब्रह्मचर्य से, शस्त्र से, बल से, सरलता से, षड्यन्त्रों से (मायया) भ्रष्ट क्षत्रियों का नियन्त्रण ब्राह्मणों को करना चाहिये। क्यों? 'अत्याचारी क्षत्रिय को ब्राह्मण ही दबा सकता है क्योंकि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से हुई है' (78 अध्याय-शान्तिपर्व)।

"क्षत्रं हि ब्रह्म सम्भवम्"

"अग्नि जल से, क्षत्रिय ब्राह्मण से तथा लोहा पत्थर से उत्पन्न हुआ है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है परन्तु अपनी उत्पत्ति के मूल कारणों से मुकाबला करने पर शान्त हो जाता है।"

1. अन्यत्र कहा गया है कि ब्राह्मणों में शूद्रों के अध्यापक, चिकित्सक, सोमरस-विक्रेता, अभिनेता, पहलवान, गाँव के मुखिया, शठ, सूदखोर, अन्न के व्यापारी, स्त्री की कमाई खाने वाले व वेश्यापति, चोर, झूठे तथा कर्मचारी भी होते हैं। (अनुशासनपर्व—अध्याय 23 तथा 33)

यही नहीं महाभारत का ब्राह्मण प्रवक्ता सभी वर्ग स्वार्थों से ऊपर उठकर यह भी घोषित करता है—

"जब ब्राह्मण की शक्ति मंद पड़ जाय—क्षत्रिय का पराक्रम दुर्बल हो जाय, सभी वर्णों के लोग ब्राह्मणों (अर्थात् पढ़े-लिखे श्रेष्ठ लोगों) के प्रति दुर्भाव रखें तब अन्य सब जनता मिलकर युद्ध करे। (अर्थात् विद्रोह कर दे)।

इस प्रकार महाभारत समाज की रक्षा व उसके सम्यक संचालन को यहां भी नहीं भूला और ठीक ढंग से चलते हुए समाज में अधिकाधिक सुविधाओं, शक्ति व शासन पर ब्राह्मण-क्षत्रियों को एकाधिकार दिलाना भी नहीं भूला—ब्राह्मणों की इस दुहरी दृष्टि को सदा ध्यान में रखना चाहिये–श्रेष्ठ ब्राह्मण जानते थे कि समाज का सम्यकसंचालन ही सबसे अधिक आवश्यक है, उसके बाद अपने अपने स्वार्थों। रक्षा भी आवश्यक है।

ब्राह्मण क्षत्रियों के रक्षारूप कार्य का सर्वदा अनुमोदन करते थे। महाभारत राज्यसत्ता की आवश्यकता और प्रजापालक राजा की सर्वत्र प्रशंसा करता है। राजा अराजकता को समाप्त करने के लिए है, अराजकता से 'धर्म' यानी समाज में अपने कार्य की हानि होती है अतः राजा 'हिंसक' नहीं है, वह अहिंसा का रक्षक है। युधिष्ठिर क्षत्रिय धर्म को पापपूर्ण कहते हैं। वह कहते हैं दुर्योधन हारकर भी जीता है और वह जीतकर भी हार गए हैं। परन्तु भीष्म के अनुसार क्षत्रिय युद्ध में आतता-यियों की हिंसा करके फिर प्रजा की उन्नति भी करते हैं, धान के खेत में धान के पौधों की रक्षा के लिए घास काटना हिंसा नहीं है। अतः युद्ध यज्ञ है जिसमें हाथी ऋत्विज हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रुओं का मांस हविष्य है, शत्रुरक्त ही घृत है।

अतः ब्राह्मण "रक्षक क्षत्रियों" को श्रमणों द्वारा संन्यासी बनाने का विरोध करते थे। 50 वर्ष बाद संन्यास को ब्राह्मण स्वीकार करते हैं क्योंकि उससे समाज के संचालन में बाधा नहीं पड़ती।

भरद्वाज ने 'वर्ण-सम्बन्धी' के विषय में पूछा कि सभी वर्णों में सभी रंग के लोग मिलते हैं, काम, क्रोधादि का प्रभाव भी सब पर एक सा दिखाई पड़ता है, मलमूत्रादि कफ आदि भी सभी में है, तब यह ऊँच, नीच क्यों है?

भृगु ने बताया कि प्रथम वर्णों में कोई अन्तर नहीं था (आदिम साम्यवादी कबीलों की ओर संकेत) ब्रह्मा जी से उत्पन्न होने से सब जगत ब्राह्मण ही था, पीछे विभिन्न कारणों से भेद हो गए, जो ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी व साहसी हो गए वे क्षत्रिय हुए, उनका वर्ण लाल हुआ। व्यवसायी, कृषक आदि वैश्य हुए, उनका वर्ण पीला हुआ। हिंसा, असत्य, निंद्य कर्म करने के कारण 'शूद्र' हुए किन्तु इनके लिए नित्य धर्मानुष्ठान तथा यज्ञ कर्म का कभी निषेध नहीं हुआ।[1] (बाद में निषिद्ध हुआ) ब्रह्मा ने इन

1. इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः। धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते—शांति पर्व, अध्याय 188

सबके लिए ब्राह्मी (सरस्वती) प्रकट की परन्तु लोभ के कारण शूद्र अज्ञानभाव को प्राप्त हुए।

इस प्रकार महाभारत के अनुसार ब्राह्मण ही मूल वर्ण है, वही आदि वर्ग है, उसमें कर्म दोष के कारण ही स्वेच्छाचारी लोग, पिशाच, राक्षस, प्रेत, शूद्र आदि हुए। महाभारत की यह व्याख्या मनुस्मृति से भी मिलती है। उसके अनुसार भी ये जो नाना जातियां है, इन्हें ब्राह्मण संस्कारों से अलग पड़ जाने से हीनता प्राप्त हुई है।

स्पष्ट है कि समाज के विकास को यहां ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा गया है, वर्गभुक्त समाज में प्राचीन साम्यवादी कबीलों की याद महाभारत के ब्राह्मण को अभी विस्मृत नहीं हुई है। किंतु वर्गभुक्त समाज में आकर कृषि, व्यवसाय, पशुचारण शिल्पादि को ब्राह्मण अध्ययन की तुलना में हीन समझता है, यानी शारीरिक श्रम पूर्णतया अलग हो जाते है अत: मानसिक श्रम करने वाले अपनी श्रेष्ठता की रक्षा के लिए सभी वर्गों का आदि स्रोत ब्राह्मण को ही बताते है जबकि सत्य यह है कि आदि कबीलों में मानसिक श्रम नाम मात्र को ही होता था।

यह स्मरणीय है कि महाभारत प्रारम्भिक सामंतवाद का युग है, वहां राजा या गणों के मुखिया है, टैक्स बाकायदा वसूल होता है, व्यवस्थित पौरोहित्य है, ग्रामों की स्वतंत्र इकाइयां हैं, उनके अपने कायदे कानून है। व्यापार के लिए विराट काफले चलते है, वणिकों के अपने संघ है, समुद्री व्यापार भी होता है—राजाओं केयहां अतुल सम्पत्ति है—रेशम, बहुमूल्य पत्थर, सूती वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र, वाहन आदि का निर्माण व क्रय-विक्रय देश में दूर-दूर तक होता है, कुछ वस्तुएं देश के बाहर तक जाती हैं। जातकों में बेबीलोनिया (बावेरु जातक) गए हुए जहाजों का वर्णन है। महाभारत में अनेक समुद्री देशों से आकर राजा युद्ध में भाग लेते हैं, उनके विविध अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र-वाहनादि का वर्णन है। इसमें कवि-कल्पना कम कर देने पर भी विकसित शिल्प-व्यापार आदि का जो चित्र हमारे सम्मुख आता है, वह केवल 'दासों' पर आधारित था, यह असम्भव है। दासों, दासियों के उल्लेख है परन्तु अधिकार उल्लेख घरेलू-दास-प्रथा से सम्बन्धित हैं। यह सही है कि अनेक कमकर जातियों के साथ दासों जैसा बर्ताव होता था तथापि रोम व ग्रीक की दास-प्रथा जैसी व्यवस्था महाभारत में नहीं मिलती। इसका कारण 'भारतीय संस्कृति की महत्ता' नहीं है, बल्कि वास्तविक परिस्थितियां हैं जिनमें 'अमानवीय' होना अनिवार्य नहीं हुआ या उस सीमा तक अमानवीय नही होना पड़ा, जिस सीमा तक पाश्चात्य देशों में शासकवर्गों को होना पड़ा था। अतः महाभारत में संघर्ष अनार्यों के विरुद्ध है। इन 'अनार्यों' से हमारा तात्पर्य उन जातियों से है जिन पर आर्य जाति का शासन धीरे-धीरे स्थापित हुआ है। इन अनार्य जातियों में शिल्प व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ती है, युधिष्ठिर का भवन-निर्माण 'मयदानव' ने किया था जो खाण्डववन में रहता था। नाग-असुर-दानव,

दैत्य, किन्नर, गंधर्व, द्रविड, कोलभील, निषाद, वानर आदि नाना कबीलों को जब विराट केन्द्रीयसत्ता के अधिकार में लाया गया तो इन्हीं अनार्य-वैदिक संस्कारों से हीन, कबीलों ने यहा की कृषि, शिल्प व व्यवसाय में सर्वाधिक सहयोग किया, इन्हीं के 'रक्त' पर इन्द्रप्रस्थ का साम्राज्य स्थापित किया गया और इनमें अनेक क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों मे मिला लिए गए। महाभारत मे शूद्रों के प्रति बहुत अधिक सम्मान प्रकट किया गया है। सूत्रो जैसी सकीर्णता महाभारत में नहीं है।

महाभारत में नाना कबीलो और जातियों के विराट समूह पर एक 'अनुशासित राज्य सत्ता' की स्थापना का प्रयत्न ही वर्णित हुआ है, कृष्ण द्वारा यह कार्य अनेक निरकुश आर्य तथा अनार्य राजाओ को दबाकर कराया गया है। एकलव्य जैसे निषाद, घटोत्कच, अलम्बुष जैसे राक्षसों व नरक जैसे असुरों को मार कर 'भूभार' उतारने की बात कही गई है। दुर्योधन द्वारा संतुलन स्थापित नही हो रहा था क्योंकि उसका सम्बन्ध असुरो, दानवो व राक्षसों से अधिक था और ये लोग केन्द्रीयसत्ता के विरुद्ध थे, अतः कृष्ण व युधिष्ठर ने सभी वर्गों को अधिकाधिक सुविधायें देकर तथा उनके सहयोग से दुर्योधनादि को मार कर केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की। इस विराट साम्राज्य का ढांचा काफी लचकीला दिखाई पड़ता है क्योंकि इसके भीतर अनेक राजा केवल कर देते थे और अपने स्थान के नियमों से शासन करते थे। बौद्ध युग में भी यही बात दिखाई पडती है, इसके अतिरिक्त अनेक गण भी थे। कृष्ण का 'यादवगण' वृष्णि व अंधकगणों का 'संघ' था। इन गणों के मुखिया इन्द्रप्रस्थ साम्राज्य के अधीन दिखाये गये हैं। इन गणों, मांडलिक राज्यों तथा केन्द्रीय साम्राज्य की आय का साधन अनार्य कबीलों व जातियों द्वारा उत्पादित धन था। इसके अतिरिक्त आर्यगण स्वय भी कृषि, शिल्प व व्यवसाय करते थे अतः 'आर्य व अनार्य संघर्ष' का रूप ही महाभारत में तीव्र दिखाई पड़ता है. दासों व दासों के स्वामियो जैसा मोटा विभाजन महाभारत में नही मिलता, कम से कम उसका प्रमाण नही मिलता।

शूद्र की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जो वेद व सदाचार को छोड़ देता है, सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है, सब तरह के काम करता है, अपवित्र है, वही शूद्र है। किन्तु यह भी कहा है कि सत्य, दान, द्रोह न करना, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया, तप—ये सात गुण यदि शूद्र में हों तो शूद्र सम्मान योग्य है। कहीं-कहीं शूद्र को उपदेश देने का निषेध भी किया गया है, (अनुशासन पर्व) किन्तु ऐसे निषेधकारी उल्लेख कम है। गीता में शूद्र व स्त्रियों को भागवत धर्म का उपदेश दिया गया है। सामंतवाद में शूद्र व स्त्री ही सबसे अधिक पीड़ित होते हैं। महाभारत इन दोनो को अधिकाधिक सुविधाएँ देता है।

"शूद्र को यज्ञ भूमि व त्रिवर्ण की यज्ञ भूमि व घर को स्वच्छ रखना चाहिये। जब शूद्र सेवा वृत्ति से काम न चला सके तब व्यापार-पशुपालन तथा

शिल्पकलाओं से वह निर्वाह करे (अनुशासन पर्व—294)। तपस्या का अधिकार सभी को है, केवल यज्ञ का अधिकार शूद्र को महाभारत नहीं देता। घटोत्कच का पुत्र, 'बर्बरी' महान तपस्वी हुआ और 'शाकम्भरी' नामक स्त्री जो शाक पर जीवित रहती थी, उसे देवी मानकर अब भी पूजा होती है। शूद्र व स्त्री को सामान्यधर्म (दया-अहिंसा, अप्रमाद, दान, श्राद्धकर्म, सत्य, अक्रोध, पवित्रता, आत्मज्ञान व सहनशीलता) का अधिकार दिया गया है।

अनार्य या शूद्र को "प्रजापति" के तुल्य कहा गया है क्योंकि वह परिचर्या द्वारा प्रजा का पालन करता है। पराशर ने लिखा है (स्वयं पराशर की प्रेयसी शूद्र थी) कि मैं शूद्र को विष्णु के रूप में देखता हूँ क्योंकि पालन विष्णु का धर्म है। जाति व कर्म दोनों मनुष्य को दूषित करते हैं परन्तु दोनों से श्रेष्ठ है पाप न करना (अनुशासनपर्व—अध्याय 296)। यह सभी जानते हैं कि व्यास शूद्रापुत्र थे और पौराणिक सूतलोग भी शूद्रापुत्र थे। अतः महाभारत का कर्ता भी शूद्रापुत्र था; ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु महाभारत में संकीर्णता नहीं है। अतः कर्म का प्रभाव अधिक है, जन्म का कम। स्वयं पाण्डव लोगों को दुर्योधन पाण्डुपुत्र नहीं मानता था और राज्य देने से इसीलिए मना करता था। मतंग मुनि ब्राह्मणी के गर्भ से नाई की संतान थे।

ब्राह्मण लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य कन्या से विवाह कर सकते थे; क्षत्रिय क्षत्रिय व वैश्य पुत्री से तथा वैश्य वैश्य-पुत्री से विवाह कर सकता है किन्तु रति के लिए शूद्रा से विवाह विधेय बताया गया है। और शूद्रा-पुत्रों को सम्पत्ति का एक भाग देने का भी विधान किया गया है। यद्यपि शूद्रापुत्रों को बहुत कम भाग मिलता था। (अनु. पूर्व)

वर्णसंकर का सिद्धांत—आर्यों को अपनी रक्तशुद्धि की बड़ी चिंता रहती थी। गीता में स्त्रियों की रक्षा पर विशेष ध्यान देने के लिए कहा गया है अन्यथा स्त्रियां दुष्ट होंगी और वर्णसंकरता बढ़ेगी किन्तु वर्णसंकरता का एक और अर्थ महाभारत में मिलता है। शांतिपर्व में भीष्म ने कहा है कि "कर्मत्याग" ही वर्णसांकर्य है। समाज में जो व्यक्ति जो काम कर रहा है, यदि वह उसे छोड़ दे तो समाज चल नहीं सकता। अफसोस यह है कि वर्णसंकरता के इस अर्थ पर विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया। ब्राह्मण चाहते थे कि लोग 'स्वकर्म' करते रहें, उसमें 'सांकर्य' न हो। तभी वर्णसंकरता से बचने का इतना प्रयत्न किया गया है यद्यपि वह प्रयत्न [illegible] नहीं हुआ।

वर्णसंकरों में सब व्यवसाय करने वाले लोगों की गणना की गई है [illegible] मैरेयक (शराब विक्रेता), मदगुरु (मल्लाह) श्वपाक (श्मशान-प्र[illegible]) [illegible] (चमार), पांडुसोपाक (बांस की डलियां बनाने वाले) आदि हैं। [illegible] बरतें तो इनकी उन्नति हो सकती है, यह भी कहा गया है। ([illegible] अध्याय—48)

स्पष्ट कहा गया है कि संसार के प्राणी नाना प्रकार के आचार-व्यवहार में लगे हैं और भांति-भांति के कर्मों में तत्पर है अतः आचरण के सिवा ऐसी कोई वस्तु नहीं जो जन्म के रहस्य को बताए (अनु.—48)

अनेक वर्णों या वर्णों की स्थिति के सामाजिक उपयोग की घोषणा महाभारत इस प्रकार करता है—

यदीदमेकवर्णं स्याज्जगत् सर्वं विनश्यति ।

अर्थात् यदि यह जगत् एक ही वर्ण का होता तो साथ-साथ ही नष्ट हो जाता । यह श्रमविभाजन का गौरव गायन है ।

यह भी कहा गया है कि प्रथम तीन वर्ण शूद्र मूलक ही है क्योंकि शूद्र ही सेवा करते हैं । (अनु. 141) यदि शूद्र जितेन्द्रिय हो, पवित्रकर्मकर्ता हो तो वह द्विज की भांति सेव्य है । यदि शूद्र के कर्म व स्वभाव दोनों ही श्रेष्ठ हों तो वह द्विजाति से भी बढ़कर है । ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में योनि, संस्कार, शास्त्र, ज्ञान, संतति कारण नहीं है । ब्राह्मणत्व का प्रधान हेतु तो सदाचार ही है । (अनु.–143)

सदाचार की शिक्षा के लिए कौशिक 'धर्म व्याध' नामक शूद्र के पास गये थे । तुलाधार वैश्य ने जाजलि ब्राह्मण को उपदेश दिया था । युधिष्ठिर से नहुष ने पूछा था कि जाति क्या है ? तो युधिष्ठिर ने कहा था—

जातिरत्र महासर्प, मनुष्यत्वे महामते,
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।

अर्थात् जाति की परीक्षा कठिन है । क्योंकि सभी वर्णों का संकर हो गया है । इससे स्पष्ट है कि बहुत पूर्व ही एक 'राष्ट्र' की स्थिति बन चुकी थी ।

दास-प्रथा—जिस तरह इंग्लैंड व अमेरिका के ईसाई लोग अफ्रीका से गुलामों को पकड़ कर उन्हें जहाज में पशुओं की तरह भर कर बागान के मालिकों को बेचते थे और उन पर जैसा भयंकर अत्याचार करते थे, भारत में प्राचीन दासों के साथ वैसे अत्याचारों के उल्लेख नहीं मिलते, फिर भी 'दास-प्रथा' यहां प्राचीन युगों से 1843 ई. तक रही है । 1833–43—इस अवधि में दो कानूनों द्वारा अंग्रेजों ने दासप्रथा भारत मे समाप्त की ।

प्रश्न यह है कि क्या भारतीय इतिहास में कोई ऐसा युग था जिसमें 'दास-प्रथा' प्रधान हो अर्थात् केवल 'दास' उत्पादन करते हों और दासपति बड़ी-बड़ी संख्या में उनसे खेती कराके, पशु चरवाकर अथवा ऐसे ही सामूहिक कार्य कराके धन अर्जित करते हों ।

डॉ. रांगेयराघव का विचार है आर्यों के भारत में आने के पूर्व मिस्र के समान यहां भी दासप्रथा थी । आर्यों में दासप्रथा न थी परन्तु द्रविड़ों से उन्होंने सीखली, फिर क्रमशः 'दास' शूद्रों में बदलते गए और महाभारत तक आते-आते उनकी दशा द्रविड़ युग से काफी अच्छी हो गई, ये 'दास' 'शूद्रों' से अलग थे ।[1]

1. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—पृष्ठ 408.

श्री पी. वी. काणे का विचार है कि वैदिककाल में 'दास' शब्द 'गुलाम' के अर्थ में प्रयुक्त न होकर आर्य विरोधियों (अर्थात् अनार्यों) के लिए प्रयुक्त होता था। काणे इसे सम्भावना के रूप में स्वीकार करते हैं कि विजित अनार्यों से आर्य गुलामों का कार्य लेते होंगे यानी उनसे पशु चारण व कृषि आदि कराते होंगे किन्तु ऋग्वेद में काणे के अनुसार 'दास' शब्द गुलाम के अर्थ में बहुत कम स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। काणे ने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'दास' शब्द के उल्लेख एकत्र कर दिये हैं परन्तु उनका मत यह है कि या तो दास-प्रथा चतुर्थ शताब्दी ई. पूर्व में प्रच्छन्न थी अथवा दासों के साथ ऐसा मानवीय व्यवहार होता था कि मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दासप्रथा नहीं है। वह कहता है कि भारतीय दासों को नियुक्त नहीं करते, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि दासप्रथा थी अवश्य। अशोक की घोषणा में भी दासप्रथा का अस्तित्व सिद्ध होता है। कौटिल्य ने कई प्रकार के दासों का उल्लेख किया है और यह भी कहा है कि आपत्ति आने पर 'आर्य' भी दास बन सकता है (राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण)। नारद व कात्यायन स्मृतियों में भी दासप्रथा पर विस्तृत विचार है।[1] मनुस्मृति में ध्वजाहृत, भुक्तदास, गृहज, क्रीत, दत्त्रिम, पैतृक, दण्डदास—दासों के सात प्रकार बताए हैं। जैन साहित्य से प्रमाणित होता है कि 'दासों' को प्राचीन समय में 'द्विपद' कहा जाता था और 'चतुष्पदों' के समान ही उनके साथ व्यवहार होता था। कहा गया है कि दासी, दास, गाय, भैंस आदि सजीव परिग्रह हैं और खेती आदि कामों में लगाये जाने पर स्वयं दुखी होते हैं। इसका पाप इनके स्वीकार करने वाले मालिकों पर पड़ता है क्योंकि मालिकों के निमित्त ही द्विपद व चतुष्पद जीवधारण करते हैं।[2] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कृषि, पशुचारण आदि कार्यों में दासों को लगाया जाता था। 'घरेलू दास प्रथा के अतिरिक्त वास्तविक दास प्रथा वस्तुतः हमारे यहां बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही थी। 1942 ई. में डा. हीरानन्द शास्त्री ने एक दासी विक्रयपत्र प्रकाशित किया है, उससे यह भी प्रमाणित होता है कि दासियों को मारने-पीटने का भी कानूनी अधिकार मालिकों को था और दासों को यह बताया जाता था कि ताड़न के भय से यदि वे आत्महत्या कर लेंगे तो उन्हें अगले जन्म में गर्दभ, श्वान या चांडाल योनि में जन्म लेना होगा!

तो भी यह सिद्ध करना अभी शेष है कि महाभारत से पूर्व युग में उत्पादन केवल दास करते थे और आर्य लोग केवल निरीक्षण करते थे या बहुत बड़े पैमाने पर दासों से कृषि आदि कराई जाती थी, राजा या चन्द सामन्तों व कुछ धनपतियों को छोड़कर सामान्य जनता दासों का बड़े पैमाने पर प्रयोग करती थी? ऐसा प्रमाण महाभारत में नहीं मिलता और न पूर्व के साहित्य में ही मिलता है। 'द्रोपदी चीरहरण'

---

1. History of Dharmsastra Vol. ii Part–I, Page 180.
2. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 511।

के समय पता चलता है कि दासियों की मर्यादा कभी भी भंग की जा सकती थी। उन्हें मारा पीटा जा सकता था (विराट पर्व में द्रोपदी को कीचक ने पीटा था)। यज्ञ में युधिष्ठिर ने प्रत्येक ब्राह्मण को तीस-तीस दासियाँ भेंट की थी। 'अनुशासन— पर्व' (जो बाद में जोड़ा गया है) में कहा गया है कि स्त्रियों का क्रय-विक्रय करने वाला लोभी है, नीच है। नीच कोटि के वर्णसंकरों को ताड़न और बेगार में पकड़ लेने का अधिकार उच्चवर्गों का था।

वन पर्व में राजा दुर्योधन के असंख्य गोधन को चराने वाले 'दास' थे, विराट की गौओं को भी शायद 'दास' ही चराते थे।

किन्तु इस सबसे यह सिद्ध नहीं होता कि उत्पादन व्यवस्था में 'दासवर्ग' निर्णयकारी वर्ग था, वह सहायक वर्ग अवश्य था। कर्मकर (नौकर) शूद्र, नीचकोटि के वर्णसंकर तथा दास ही नहीं, वैश्य, क्षत्रिय ब्राह्मण सभी कृषि, व्यवसाय, शिल्पादि में श्रम करते थे और अपनी शक्ति, अधिकृत भूमि की मात्रा व धन के अनुरूप दासों से भी काम लेते थे। राजा, सामन्त व धनी व्यक्ति अधिकसंख्या में दास रखते थे— घरेलू कामों के लिए भी और उत्पादन के लिए भी। महाभारत में यही स्थिति है।

तब यह मानना चाहिए कि उत्तरी भारतवर्ष में कबीला समाज (Tribal-society) सीधे सामन्तवाद में परिणत हुआ था, बीच में केवल दास प्रथा किसी विशेष अवधि तक रही हो, ऐसा प्रमाणित नहीं होता। हाँ यह सही है कि आदिम सामन्तवाद में—यानी उत्तर वैदिक युग से लेकर महाभारत युद्ध (1000 B.C.) के आसपास तक 'दासों' का योगदान उत्पादन में अधिक रहा, फिर वे धीरे-धीरे शूद्रों में मिलते गए और 400 ई. पूर्व तक—मेगास्थनीज के समय तक शूद्रों की ही स्थिति में आजाने से प्रच्छन्न रूप में ही रह गए—घरेलू दासों के रूप में ही उनका अस्तित्व रह गया। महाभारत में दोनों स्थितियों का पता चलता है अर्थात् दासप्रथा का वह रूप जब बड़ी संख्या में शक्तिशाली लोग कृषि, पशुचारण में उन्हें लगाते थे (यह परम्परा बाद में भी चली—यहाँ तक कि फीरोज तुगलक ने हजारों दासों को उत्पादन के काम में लगाया था) और साथ ही 400 ई. पूर्व की स्थिति, जब 'दास' अधिकतर घरेलू कार्यों को ही करते थे।

प्रत्येक प्रकार के स्वामित्व के विरोध में—महाभारत का ब्राह्मण अपने वर्ग स्वार्थों से ऊपर उठकर यह भी घोषणा कर सकता था—

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः (शांति पर्व— 80 अध्याय)

जिसके दो हाथ हैं, वही बली व धनी है किन्तु मनुष्य ने ही मनुष्य को दास बना रखा है!

वर्ग स्वार्थ से ऊपर उठकर महाभारतकार जब उपर्युक्त दृष्टि से सोचता था तब वह 'दासों' को द्विपद नहीं—'पुरुष' कहता था, घोषित करता था कि सभी भूतों में सर्वश्रेष्ठ है—सर्वेषाम् भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते।

महाभारतकालीन सामन्तवाद और नारी—हम कह चुके है कि सामन्तवाद का सबसे कड़ा प्रहार कर्मकर वर्गों, छोटे किसानों व स्त्रियों पर होता है।

महाभारतकाल तक कबीला व्यवस्था पूरी तरह टूट न सकी थी। नारी उस व्यवस्था में काफी स्वतन्त्र थी, वैदिक युग में 'नारी' की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी। महाभारतकाल में भी इस स्वतन्त्रता का काफी अंश शेष रहता है, यद्यपि वैदिककालीन अर्थात् कबीलाप्रथा के समय की आजादी नही दिखाई पड़ती। यह नियोग व स्वयंवरों का युग था। अन्य प्रकार के विवाह भी होते थे, गंधर्व व राक्षस विवाह भी कम नही होते थे। अधिक-तर उच्च वर्गों में आर्य या प्राजापत्य विवाह ही होते थे।

यह स्मरणीय है कि 'महाभारत' का युद्ध एक 'नारी' को लेकर हुआ था, यह बहाना ही सही, परन्तु नारी की प्रतिष्ठा तथा पतियों पर उसके प्रभाव का पता इससे अवश्य चलता है।

आर्य या प्राजापत्य विवाह ब्राह्मणों में अधिक होते थे अतः उन्होंने 'दुहिता' को संकट कहा है और पुत्र को 'आत्मा' कहा है—आत्मा पुत्रः सखाभार्या, कृच्छ्रं तु दुहिता किल। यह भी कहा है कि स्त्रियां स्वतन्त्र नहीं होती—न हि स्वतन्त्राहि योषिताः। किन्तु 400 ई. पूर्व से पहले के उपाख्यानो से पता चलता है कि कुमारियाँ स्वच्छन्द वरण को भी पसन्द करती थी, सावित्री की कथा प्रमाण है। विवाह द्वारा पितृऋण दूर करने का प्रचार ब्राह्मण लोग बहुत अधिक करते थे—महाभारत में यह प्रचार चरमसीमा पर दिखाई पड़ता है। इसका स्पष्ट ही कारण यह था कि विवाह द्वारा बौद्ध व जैन संघों द्वारा प्रचारित जन्म से संन्यास को ब्राह्मण लोग खतरनाक समझते थे अतः ब्रह्मचारी अगस्त्य ने जब अपने पितरों को उलटे लटके हुए देखा तो उन्हे इस कष्ट से मुक्त करने के लिए उन्होने विवाह किया अतः नारी को भोग की जगह 'जननी' का गौरव देने की प्रवृत्ति महाभारत में बहुत अधिक है।

महाभारत काल में 'देवियों' की पूजा सर्वप्रथम बड़े पैमाने पर दिखाई पड़ती है। प्रत्येक देवता के साथ उसकी स्त्री भी पूज्य है, यह वस्तुतः परिवार में 'नारी' की महत्ता का ही शक्तिपूजा के रूप में प्रक्षेपण मात्र है।

दूसरी ओर वैरागी, संन्यासी, योगी आदि स्त्रियों की निंदा करते थे क्योंकि साधना में उनका मादक प्रभाव बाधक माना जाता था।[1] स्त्रीपर्व के पांचवें अध्याय

---

1. कृत्या हत्येताः घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान्।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी॥

स्त्रियां भयंकर कृत्या के समान है अतः अज्ञानी को मोहती हैं। इन्द्रियों में विचार उत्पन्न करने वाली यह सनातन नारी मूर्ति रजोगुण से संयुक्त है।

इसी प्रसंग में किसी वैरागी बाबा ने यह भी जोड़ दिया है कि अपने कहलाने वाले पुत्र नामधारी कीड़ों को वैसे ही त्याग दो (स्त्री सम्बन्धी मोह के कारण पुरुष के वीर्य से जीवों की उत्पत्ति होती है) जैसे जूं लीख आदि स्वदेज कीटों को कोई मनुष्य अपने से लपेटे नहीं फिरना चाहता।

में भोग की भयंकर निंदा की गई है, स्पष्ट ही इस कथा पर 'बौद्ध प्रभाव' दिखाई पड़ता है। परन्तु जैसा कहा गया है कि महाभारत के निर्माण में ब्राह्मण-पुरोहितों, पुजारियों व सूतों का हाथ अधिक रहा है और ये लोग गृहस्थ होते थे अतः नारी का माहात्म्य महाभारत में बहुत है। कुंती, द्रौपदी, गांधारी का असाधारण प्रभाव कृष्ण, धृतराष्ट्र व युधिष्ठिर तक स्वीकार करते है। महाभारत का सबसे करुण अंश 'स्त्री-विलापपर्व' है, जिसमें गांधारी पुरुषों द्वारा आश्रयहीन की गई कुल वधुओं की दुर्दशा का वर्णन करती है। इससे पता चलता है कि सतीप्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी जो नारी के प्रति समाज के सामन्ती दृष्टिकोण को प्रकट करती है परन्तु यह प्रथा महाभारत मे संकीर्णप्रथा के रूप में नही दिखाई पड़ती, पुत्रो की देखभाल के लिए न कुन्ती सती होती है और न दुर्योधन की बहिन तथा जयद्रथ की पत्नी "दुःशला"।

महाभारत में जननीत्व के कारण नारी को अवध्य माना गया है, दासी को मार डालने के उल्लेख यत्र तत्र ही मिलते है। डाकुओं तक मे मर्यादा थी कि स्त्रियो को बलपूर्वक नही छेड़ना चाहिए और न उनका वध करना चाहिए। कायक नामक डाकू को इस मर्यादा रक्षा के कारण स्वर्ग प्राप्त हुआ था!

चिरकारी ऋषि ने महाभारतकाल में यह मर्यादा बनाई थी कि स्त्री यदि दुराचार कर भी ले तो भी पुरुष का ही दोष है क्योकि जब पुरुष स्वयं ही पाणि-ग्रहण करके परायी स्त्री के यहां जाते हैं तो स्त्रियों का ही क्या दोष है? अतः वह कहता है–एवं स्त्री नापराध्नोति—नर एवापराध्यति!

वह यह भी कहता है कि पराधीन होने से स्त्रियां अपराधिनी नहीं है, अपराधी तो पुरुष ही हो सकता है। क्योकि वही स्त्री के काम को उद्दीप्त करता है, नाना षडयन्त्र करता है। पर यह भी स्मरणीय है कि चिरकारी की माता तथा गौतम ऋषि की पत्नी ने किसी 'पर पुरुष' के साथ प्रेम किया था!

कुछ कबीलों में प्रथाएँ विचित्र थी। यथा सुदर्शन ऋषि की पत्नी ओघवती ने ब्राह्मण अतिथि द्वारा रतिप्रार्थना पर समर्पण किया था (बाद मे पता चला कि अतिथि धर्मदेवता थे।—यह वाक्य बाद मे किसी ब्राह्मण ने जोड़ा है) इसी प्रकार 'द्रौपदी' के पांचपति थे, सम्भवतः पांचालों में ऐसी कोई प्रथा रही हो, यद्यपि वर्तमान महाभारत मे द्रुपद स्वयं पचपतित्व का विरोध करते है तब व्यास पांडवों का 'देवत्व' व 'द्रौपदी' का लक्ष्मीत्व, बताकर सांत्वना देते हैं। राक्षस-असुर आदि समूहो में अपेक्षाकृत नारियो को अधिक स्वतंत्रता थी। नरकासुर की 16 हजार प्रेयसियां कृष्ण की रानियां बनी और हिडिम्बा ने अपने भाई को मरवा कर भीम से विवाह किया था! अप्सरा जाति की स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी थी। पंचचूड़ा अप्सरा ने नारद से स्त्रियो को 'सर्वदोषो का मूल' कहा है, उन्हें 'निर्लज्ज' कहा है, कोई भी पुरुष स्त्री के लिए अगम्य नही है। किंतु यह एक अप्सरा की उक्ति है, यह स्मरण रखना चाहिए। इसी प्रसग मे कहा गया है कि चंचल होने से स्त्रियों के लिए वैदिकविधान नही किया गया।

श्री क्षितिमोहनसेन का विचार है कि स्त्रियों की चंचलता से आर्यमनीषी बड़े परेशान थे। जितने नियम वे बनाते थे, उतनी ही अवहेलना होती थी, इसीलिए वे स्त्रियों की निंदा करते थे और उनके बिना रह भी नहीं सकते थे ! महाभारत में ऐसा 'संकट' नहीं दिखाई पड़ता, हाँ सूत्रकारों ने अवश्य नारियों को बंधन में जकड़ने का प्रयत्न किया है। भीष्म ने स्पष्ट कहा है कि स्त्रियाँ भली भी हैं, बुरी भी हैं। यह याद रखना चाहिए कि महाभारत में भी बहुत सी बातें युद्ध के बाद के पर्वों में सूत्र-स्मृति परम्परा के पंडितों ने भर दी है।

उच्चवर्णों के घरों में वर्ण की दृष्टि से नारियों का आदर होता था, उदाहरण के लिए ब्राह्मण के यदि प्रत्येक वर्ण की एक-एक स्त्री, कुल मिलाकर 4 स्त्रियाँ हों तो सम्पत्ति का सबसे बड़ा भाग 'ब्राह्मणी' को मिलेगा और सबसे कम भाग 'शूद्रपुत्र' को। पति की निजी सेवा भी ब्राह्मणी ही करेगी, इस प्रकार के नियमों की रचना पर स्पष्ट ही स्मृतिकारों की छाप दिखाई पड़ती है।

परिवार के बाहर तथा भीतर, महाभारत में अनेक उपदेष्टा नारियों के अनेक उल्लेख मिलते है। वेद के मन्त्रों को यत्र-तत्र उन्हें पढ़ाया जाता था, स्वतन्त्र शिक्षा तो उनके लिए अनिवार्य थी। कुन्ती, गांधारी व विशेष रूप से द्रौपदी की तर्कशैली उन्हें पुरुष से अधिक व्यवहारकुशल और धर्मज्ञ प्रमाणित करती है। पर शासकवर्ग के अतिरिक्त भी उच्चवर्ण तथा धनी शूद्रों के घर में लड़कियाँ पढ़ती थीं। कौन कहेगा कि 'सत्यवती' मूर्ख थी जो मछुवा के घर जवान हुई थी ? परन्तु यह कटु सत्य है कि निम्न वर्णों की लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं था, उनमें दासियाँ या सेविकाएँ बडे घरों में रह कर शिक्षा प्राप्त कर लेती थी।

देवताओं के उपाख्यानों व प्राचीन इतिहासों से पता चलता है कि 'चरित्र' सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में समाज अधिक उदार था। 'इन्द्र' ने तो सुन्दर नारियों को भ्रष्ट करने का एकाधिकार ही ले रखा था, वृहस्पतिपत्नी व चन्द्रमा के अनुचित प्रेम जैसे प्रसंग देवों में अनेक है। महाभारत में स्वच्छन्द सम्बन्धों को एक धार्मिक अनुशासन में लाने का प्रयत्न किया गया है, यथा 'नियोग' को एक श्रेष्ठ धर्म माना गया है, उसके अपने नियम है—कुंती ने कहा कि नियोग द्वारा चार से अधिक पुत्र उत्पन्न करने पर नारी व्यभिचारिणी मानी जाती है।

फिर भी महाभारत से यह स्पष्ट है कि महाभारत की रचना-अवधि में गार्गी, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला जैसी विदुषियां नहीं मिलती। लड़कियों को 64 कलाओं की शिक्षा अधिक दी जाने लगी जिनमें 'कविता' भी थी। यह स्मरणीय है कि संस्कृत साहित्य में नारियों के लिए कामशास्त्र या कामंदकी (जिसमें नृत्य, गायन वादन, काव्यरचनादि भी था) की शिक्षा के ही उल्लेख अधिक मिलते है। सूत्रकारों ने नारी की स्थिति को बहुत अधिक दयनीय बनाया, उनका सामाजिक व्यक्तित्व पूर्णतया छीन लिया गया। पी. वी. काणे ने सूत्रकारों के प्रति अद्भुत कोमलता का

वर्ताव किया है। काणे जी यह नहीं चाहते कि 'सूत्रकारों' पर भी व्यर्थ ही 'नारी-निन्दक' होने का दोष लगे।

महाभारत की स्थिति वैदिक साहित्य व सूत्रकारों के बीच की है। अतः उसमें नारी की स्थिति बन्धनोन्मुख होती हुई दिखाई पड़ती है। वैदिक उपाख्यानों मे अन्तर्जातीय विवाहों के अनेक उल्लेख महाभारत मे ही मिलते हैं। महाभारत में अन्तर्जातीय विवाह होते थे परन्तु उन्हें अधिक पसन्द नहीं किया जाता था, अनुलोम व प्रतिलोम विवाह भी निषिद्ध करने के लिए घोर प्रयत्न किया जाता था। कबीलों की मातृसत्तात्मक स्वतन्त्रता महाभारत में यत्र-तत्र ही दिखाई पड़ती है।

बहुविवाह (Polygamy) से भी नारियों की स्थिति दुरावह हुई। क्षत्रिय-ब्राह्मण व वैश्यो मे बहुविवाह एक स्वीकृत रिवाज था। इसके सिवा दासियों पर भी स्वामियों का अधिकार माना जाता था। विदुर जैसे बुद्धिमान दासी पुत्रों का सम्मान भी होता था। 'युयुत्सु' वैश्यपुत्रो से उत्पन्न था, उसका भी काफी सम्मान दिखाई पड़ता है। कानीन पुत्रो की निन्दा होती थी, कुंती ने कन्यावस्था में कर्ण को उत्पन्न किया था किन्तु उसने यह रहस्य युधिष्ठिर को कर्ण की मृत्यु के बाद ही बनाया, लाक्षन का इतना भय था!

बहुपतीत्व की प्रथा महाभारत में विशेष अवस्था में ही स्वीकृत थी क्योकि द्रौपदी को छोड़कर अन्य कोई उदाहरण बहुपतीत्व प्रथा का नही मिलता। युधिष्ठिर बहुपतित्व प्रथा के समर्थन मे केवल दो प्राचीन उदाहरण देते है (1) जटिला गौतमी, जिसके 7 पति थे। (2) 10 प्रचेताओ ने एक ही पत्नी से विवाह किया था। परन्तु वैदिक व महाभारत युग मे इस प्रथा को लोग बुरा समझते थे।

पर्दा व बालविवाह के उदाहरण महाभारत में नही मिलते। उच्चवर्णों में–विशेषकर राजाओ के यहाँ जब तब पर्दा होता था। युद्ध के बाद कौरवों की पत्नियों के लिए पर्दे का प्रबन्ध न हो सकने पर दुःख प्रकट किया गया है।

विधवाओ का विवाह महाभारत युग में भी पसन्द नही किया जाता था, हाँ कुछ विशेष अवस्थाओं मे नियोग से संतान उत्पन्न करने का अधिकार विधवा को दिया गया था। अधिकतर विधवाएँ पुत्र न होने पर पुत्रों को गोद लेकर अपना जीवन बिताती थी। 'पतिव्रता' धर्म का प्रचार पुरुषो द्वारा महाभारत में बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

सामंती आर्थिक व्यवस्था मे "वेश्याएं" अलंकृति के रूप में दिखाई गई है। ऋग्वेद मे भी यत्र-तत्र वेश्याओ के उल्लेख है (ऋग्वेद–1–167–4) महाभारत के आदि पर्व में गांधारी की गर्भावस्था मे धृतराष्ट्र की सेवा में एक वेश्या रखी गई थी! उद्योगपर्व मे युधिष्ठिर कौरवो की वेश्याओ के लिए शुभ संदेश भेजते है। संधि के लिए कृष्ण के आने पर, उनके स्वागत मे वेश्याएँ भी जाती हैं। युद्धस्थल पर

शिविरों में वेश्याएँ भी रहती थीं। स्मृतिकारों ने वेश्याओं के विषय में भी आगे चल कर अनेक नियम बनाए उन्हें समाज का अंग मान लिया गया था।

महाभारत में नीति (सत्य अहिंसादि) वर्ग सम्बन्ध तथा नारी की दशा के इस अध्ययन के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों का भी अध्ययन हो सकता है वह इस लेख के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है।

यदि उपर्युक्त तीन तत्वों की वर्णित यथार्थ दशा को हम याद रखें तो महाभारत में वर्णित 'धर्म व अध्यात्म की भी व्याख्या हो सकती है जो वास्तविक परिस्थितियों का ही प्रक्षेपण होता है। देवताओं की जो कल्पना महाभारत में है वह वास्तविक जीवन का ही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्मवाद आदि के सिद्धान्त व्यवस्था को न्याययुक्त बताने के यत्नमात्र हैं। आत्मा परमात्मा व देवों के विश्वास में वैज्ञानिक जानकारी का अभाव है तथा 'भय' भी काम करता है, यह स्मरणीय है। वेद-व्यवस्था में भी दास, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय व ब्राह्मण देवताओं के वर्ग या वर्ण कल्पित किए गए हैं, वहां भी बहुविवाह है, वहां भी स्वैरिणी स्त्रियाँ (अप्सराएँ) है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था जो महाभारत में मिलती है, वही देवताओं में कल्पित की गई, यद्यपि देवों में दिति व अदिति की कथा से मातृ-सत्तात्मक अंश कुछ अधिक देखा जाता है। इस प्रकार "निरपेक्ष अध्यात्मवाद" का अध्ययन भी यथार्थ परिस्थितियों के अध्ययन से ही सम्भव होता है।

महाभारत-युग में द्रविड़, निषाद, नाग आदि जातियों से आर्य लोग स्त्रियाँ ग्रहण करते थे अतः आर्य गृहों में इन अनार्य स्त्रियों के द्वारा अनार्य पूजा चल पड़ी। वैदिक देवता सूक्ष्म प्राकृतिक शक्ति के रूप में प्रार्थित होते थे किन्तु महाभारत द्वारा ही शैव, विष्णु, शक्ति, सूर्य व गणपति आदि की उपासना चल पड़ी, ये उपासनाएँ शुद्ध अनार्य उपासनाएं है। बाद में इनकी खोज वेदों में करली गई, आज तक भी जारी है। अनार्यों में स्थानीय देवी-देवताओं की मूर्तिपूजा भी प्रचलित थी, उसे भी आर्यों ने स्वीकार किया। इस प्रकार महाभारत एक विराट "आर्य-अनार्य" अन्तर्भुक्ति को स्वीकार करता है। केन्द्रीयसत्ता की स्थापना के पश्चात यह अंतर्भुक्ति आवश्यक थी। इसी अन्तर्भुक्ति के समर्थन के लिए महाभारत घोषित करता है—

श्रुति प्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य, बहुशाखा ह्यनन्तिका।

अर्थात वृद्धों का कथन है कि धर्म के विषय में वेद ही प्रमाण हैं, तो भी धर्म की गति सूक्ष्म है और उसकी अनंत शाखाएँ है।

महाभारत निराशावाद, निषेधवाद, निरपेक्षतावाद तथा बौद्ध-जैन दृष्टिकोण का विरोधी है। पुरुषार्थ द्वारा चतुर्वर्ग की प्राप्ति पर ही महाभारत बल देता है। भीष्म तो यहां तक कहते हैं कि धर्म से बल ही श्रेष्ठ है क्योंकि बल से धर्म की

स्थापना होती है। मतलब यह कि महाभारत मोक्ष प्रेमी मुंडकों व वैरागियों का विरोधी है। वह अर्थ, काम व धर्म पर भी उतना ही बल देता है, जितना मोक्ष पर। जहाँ मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न अर्थ, काम व धर्म के विपरीत जाता है, वहाँ वह प्रयत्न सफल नहीं होता. महाभारत का यह स्पष्ट मत है। महाभारत 'मनुष्य' को ही सर्वश्रेष्ठ समझकर, उसके एकांगी कल्याण पर जोर नहीं देता अपितु उसके अनुसार मनुष्यकल्याण एक शक्तिशाली व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। महाभारत का विश्वास है कि शासन यदि ठीक हो तो पृथिवी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यककारत्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्ट प्रवर्तते ।

दण्ड नीति का ठीक ठीक प्रयोग हो तो पृथिवी पर पूर्ण रूप से सत्य युग का आरम्भ होता है, शासन से प्रभावित समय ही सत्य युग की सृष्टि करता है।

□□□

4 भक्ति का उदय

भक्ति-भावना मूलतः "महत्त्व-स्वीकृति" की भावना है। जीवन में किसी क्षेत्र में जब आदिम मनुष्य किसी असाधारणता के दर्शन करता होगा, तो एक विचित्र प्रकार का स्पन्दन उसके हृदय में उत्पन्न होता होगा, प्रकृति की विराटता असामान्य शक्ति एवम् उसके भयंकर कृत्य भी आदि-मानव के मन में एक विशेष प्रकार का तनाव उत्पन्न करते होंगे। इस तनाव या क्षोभ का एक रूप हम 'ऋग्वेद' में देखते हैं। यहां प्रकृति-शक्तियों का सूक्ष्म (Abstract) रूप मानवीय भावना का विषय दिखाई पड़ता है। यह मानवीय भावना वैदिक मंत्रों के रूप में प्रकट हुई है। इन मंत्रों को 'यज्ञ-क्रिया' के साथ जोड़ा गया। यज्ञ का अर्थ है अग्नि में भोजन-सामग्री, समिधा, घृत आदि की भेंट, "स्वाहा" शब्द का उच्चारण तथा वैदिक मंत्रों का पाठ, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों या देवताओं के प्रति मानवीय भावना की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। परन्तु वेद-मंत्रों में मानवीय भावना का जो रूप दिखाई पड़ता है, उसमें शत्रु के नाश, पशु-वृद्धि, दीर्घ जीवन व संतान-सम्पदा-वृद्धि आदि की प्रार्थनाएं ही अधिक हैं।

अनार्यों का धर्म—उधर आर्यों के यज्ञों से पृथक् इस देश की दूसरी आदिम जातियों की धार्मिक भावना दूसरे प्रकार की थी। तत्कालीन सामान्य जनता अर्थात् अनार्य—*नाग, निषाद, किन्नर, गंधर्व, कोल, भील, द्रविड़, पुलिंद, शबर* आदि कबीलों में मानवीय भावना एक दूसरे रूप में प्रकट होती हुई दिखाई देती है। ये जातियां या कबीले अपने भौतिक जीवन की सफलता के लिए वैदिक देवताओं से भिन्न *स्थानीय देवी-देवताओं* को पूजती थीं, वृक्ष, पशु-पक्षी तथा कुछ प्राकृतिक शक्तियों की "पूजा" इनमें प्रचलित थी। ये लोग पशु-बलि देते थे, नर-बलि भी इसमें सम्मिलित थी तथा उपासना के लिए आवश्यक द्रव्यों की भेंट दी जाती थी। सामूहिक नृत्यों व सामूहिक मदिरा आदि के पान का भी आयोजन होता था—ऐसे उत्सवों में पितर-पूजा, वीर पूजा, फसल पक जाने पर देव-पूजा तथा विवाह आदि अवसरों पर की गई पूजाएं प्रचलित थीं। ऐसी पूजाओं का विस्तृत वर्णन श्री फ्रेजर ने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Golden Bough' में किया है। अनार्यों द्वारा यह पूजा उनके भौतिक संघर्ष के 'सहायक-तत्त्व' के रूप में ही दिखाई पड़ती है। हमें आदिम कबीलों

में 'धर्म और जादू' मिश्रित रूप में दिखाई पड़ते हैं और इन सबका उद्देश्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करके भौतिक जीवन को सुविधामय और सुखी बनाना है।

स्थानीय देवी-देवताओं—जिनमें पशु-पक्षी, वृक्ष आदि के 'टोटेम' अधिक पूजित होते थे—का प्रभाव प्रारम्भ में आर्य-यज्ञ प्रणाली पर नहीं पड़ा। आर्य लोग, जैसा कहा गया है सूक्ष्म शक्तियों के उपासक थे। बाद में जब आर्य और अनार्यों का सम्पर्क बढ़ा तो उनमें सांस्कृतिक समन्वय प्रारम्भ हुआ। पहले तो आर्यों ने कुछ अनार्य कबीलों के देवताओं को स्वीकार कर लिया। 'रुद्र' को उन्होंने ऋग्वेद में ही स्वीकार कर लिया था; यजुर्वेद में विस्तृत 'रुद्राध्यायी' मिलती है। अथर्ववेद में अनार्य कबीलों में चलने वाले 'जादूमिश्रित धर्म' को आर्यों ने यथावत् स्वीकार कर लिया है, परन्तु बहुत से आर्य-विद्वान उसे 'वेद' ही नहीं मानते थे। उसे 'वेद-तत्त्व' माना गया तब उसमें ऋग्वेद के बहुत से मंत्र भर दिए गए।

परन्तु धर्म या उपासना के ये दो रूप—आर्य-यज्ञ प्रणाली व अनार्य-उपासना-पद्धति—उपनिषद् युग तक समानान्तर रूप से विकसित होती रही। विजित अनार्य कबीलों के, जिनकी भौतिक स्थिति विपन्न और दुरावह थी, भक्ति-स्तोत्रों में 'दैन्य' अधिक मिलता है और यह 'दैन्य' आगे चलकर 'आर्य-स्तोत्रों' में भी दिखाई पड़ा, क्योंकि आर्यों की महात्वाकांक्षा सर्वदा सब समय पूरी होती थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

धार्मिक समन्वय—इस प्रकार धीरे-धीरे आर्य-अनार्यों में पारस्परिक समन्वय तथा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण उनमें सांस्कृतिक एकरूपता की भावना धीरे-धीरे विकसित हुई और वे एक दूसरे के निकट आते चले गये। आर्यों का विजयोन्माद जैसे-जैसे कम होता गया, अर्थात् आर्यों में कुछ शासक हो गए और अधिक श्रम, अनार्यों के साथ कृषि-वाणिज्य में लगता गया, वैसे ही जो 'दैन्य' अनार्य लोगों के धार्मिक स्तोत्रों में दिखाई पड़ता है, वह 'आर्य-स्तोत्रों' में भी आने लगा। उपनिषद्-युग में जब आर्य द्रष्टा 'एक ब्रह्म', 'एक आत्मा' के द्वारा सारे समाज में एकता स्थापित कर रहा था, तभी श्वेताश्वतर उपनिषद् द्वारा इस 'दैन्य भाव' की प्रथम अभिव्यक्ति आर्य साहित्य में भी दिखाई पड़ी। इसका अर्थ यह नहीं कि इसके पूर्व 'दैन्य-भाव' की अभिव्यक्ति मिलती ही नहीं। वह मिलती है, तथापि उपनिषद् युग के बाद इस भक्ति भाव के भीतर यह 'दैन्य-भाव'—अपना विशेष महत्त्व रखता है।

भक्ति का उदय—'भागवत धर्म' या 'पांचरात्र धर्म' में एक ओर वैष्णव दूसरी ओर शैव-शाक्त सम्प्रदायों में यह 'दैन्य' व्यक्त होता ही रहा और बराबर बढ़ता गया। अतः श्वेताश्वतर उपनिषद् से ही हम भक्ति-भावना का विकास मानते हैं, उस भक्ति-भावना का जिसमें सब कुछ देवता की 'कृपा या अनुग्रह या पुष्टि' पर ही हमारा उद्धार अवलम्बित होता है, हमारा प्रयत्न महत्त्वहीन हो जाता है। इस प्रकार यहां तक आते-आते मानवीय प्रयत्न की जगह 'दैवी-कृपा' का सिद्धान्त ही

सर्वोपरि हो गया। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि 'सभी धर्मों (प्रयत्नों) को छोड़कर मुझ पर निर्भर रहो, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् बौद्ध-युग के आस-पास की कृति है और गीता का वर्तमान रूप भी बौद्ध-युग की लम्बी अवधि में शनैः शनैः विकसित हुआ है। भागवत धर्म व शैव धर्म भी—इसी युग में विकसित हुए हैं। इन सब सम्प्रदायों का आधार 'भक्ति-भाव या दैवीकृपा' का सिद्धान्त है। शैव इसे 'शक्तिपात्' व वैष्णव इसे ही 'अनुग्रह या कृपा' कहते हैं।

दैवी कृपा का यह सिद्धान्त इस युग में इतना लोकप्रिय क्यों हुआ, इसके कारणों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि देश में इस समय केन्द्रीय सत्ता की स्थापना हो चुकी थी। कई विशाल राज्यों का संगठन हो चुका था तथा जन-जीवन में पीड़न और विषमता तथा त्रास था। अपने ही लोग अत्याचार करते थे, उनकी कृपा पर शेष जनता का जीवन सुरक्षित था। अतः कृपा के ऊपर भौतिक जीवन ही अवलम्बित था तो आध्यात्मिक क्षेत्र में भी "दैवी अनुग्रह" का सिद्धान्त यज्ञ-यागों से अधिक प्रचलित हुआ क्योंकि यज्ञ-याग तो सम्पत्तिशाली लोग या राजा ही कर सकते थे। इसलिए गीता के अर्जुन को जो भक्ति-भाव का उपदेश है, वह प्रतीक मात्र है। वहाँ अर्जुन एक सामान्य मनुष्य के रूप में सम्बोधित हुए हैं, 11 अक्षौहिणी कौरव सेना के नाशक अर्जुन नहीं।

विष्णु पूजा का विकास—हमने कहा है कि अनार्य कबीलों में 'टोटेम उपासना' प्रचलित थी: यानी वाराह, कच्छप, वानर, मत्स्य, सर्प, पीपल आदि को देवता माना जाता था। इन अनार्य देवताओं को भी पुराणों में मान्यता प्रदान करके एक उदार दृष्टिकोण अपनाया गया। आप विष्णु के दशावतारों को देखें, इनमें प्रारम्भिक अवतारों में 'टोटेम' भी स्वीकृत हुए हैं—मत्स्य, वाराह, हयग्रीव (अश्व) कच्छप, नृसिंह (सिंह) आदि। आगे 'विष्णु देवता' के लिए 'शेषनाग' व 'गरुड़' को 'शैय्या' व 'वाहन' के रूप में स्वीकार किया गया है। नाग-पूजा नागों में गरुड़-पूजा – सुपर्णों में प्रचलित थी। वैष्णवों ने दोनों अनार्य कबीलों के देवताओं (टोटेमों) को 'विष्णु' के साथ सम्बद्ध कर दिया। रुद्रशिव और कालीदेवी के साथ तो स्पष्ट ही अनार्य देवी-देवताओं का समूह एकत्र कर दिया गया है—इस तथ्य को वैष्णव भी स्वीकार करते हैं।

स्वयं विष्णु की एक प्राचीन मूर्ति में तीन सिर मिले हैं, एक ओर शेर है, दूसरी ओर वाराह है, तीसरी ओर मनुष्य का शीश है।[1] ऐसी मूर्तियों से यह तथ्य स्पष्ट है कि विष्णु का जो सुन्दर रूप मिलता है वह भी क्रमशः विकसित हुआ है,

---

1. Ganesh, Allice Getty—Oxford—1936. (See introduction by A. Foucher; Pp. 1—19).

प्रथम इतना सुन्दर रूप नहीं था। 'रुद्र' का सुन्दर 'शिव' रूप भी धीरे-धीरे विकसित है। 'ध्यानी शिव' पर स्पष्ट ही 'ध्यानी बुद्धों' (अवलोकितेश्वर, अमिताभ, अक्षोभ आदि पंचध्यानी बुद्धों) का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार बौद्ध-युग में वैदिक यज्ञ-याग के समानान्तर—भागवत-शैव-शाक्त सम्प्रदायों का विकास हुआ है। इन सम्प्रदायों में एक देवता है—उस देवता का मंत्र है, ध्यान है, उसका वेष, अस्त्र-शस्त्र व वाहन है। पूजा-उपासना के लिए देवता की 'मूर्ति' है। उस 'मूर्ति' पर अनेक द्रव्य अर्पित किए जाते हैं। देवता के माहात्म्य-कथन के लिए अनेक कथाएँ कही जाती हैं। उसके स्वागत में नृत्य, उत्सवादि का आयोजन किया जाता है। भक्त देवता के वेषादि का अनुकरण करते हैं—उपासना-पद्धति में योग, ज्ञान व भक्ति —तीनों तत्त्व मिले रहते हैं। पांचरात्र या भागवत धर्म की संहिताओं को देखिए—इन संहिताओं में शैव-दर्शन व वैष्णव-दर्शन मिले-जुले रूप में प्राप्त होता है। "अहिर्बुध्न्य"—जो 11 रुद्रों में से एक "रुद्र" है, भागवत धर्म का उपदेश इन संहिताओं में देते हैं। उपनिषदों के "मायावी ब्रह्म" की जगह यहाँ 'ब्रह्म या विष्णु या शिव' की 'शक्तियाँ' सृष्टि करती है, फिर चाहे वह लक्ष्मी हों, उमा या काली हों या कोई अन्य नामधारिणी हों। ये "शक्तियाँ" या "देव-पत्नियाँ" देवता के साथ "चन्द्रचन्द्रिकावत्" एक मानी गई है। देवता की इच्छा से 'शक्ति' सृष्टि करती है। 'पांचरात्र मत' में भगवान् ही आराध्य है (शक्ति सहित)। बिना भगवान के अनुग्रह के 'जीवात्मा' भगवान को नहीं पा सकता। भगवान की 'शरणगति' ही एक मात्र उपाय है। एक मात्र शरणगति को उपाय मानने के कारण इसे "एकायन सम्प्रदाय" भी कहते थे। इस मत का दूसरा नाम "सात्वत" या भागवत सम्प्रदाय भी है। यद्यपि 'पांचरात्रसत्र' का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में (13-6-1) में मिलता है। तथापि इस मत का विकास महाभारत काल अर्थात् 'बौद्ध-युग' में ही हुआ है, क्योंकि "वर्तमान रूप में प्राप्त" महाभारत के नारायणीय उपाख्यान व गीता से ही इस मत के आदि रूप पर प्रकाश पड़ता है और वर्तमान रूप में प्राप्त महाभारत का समय 400 ई.पूर्व से 400 ई. तक है। इस मत के अनुसार हिंसा-प्रधान यज्ञ पाप है। पशु के स्थान पर यव-घृतादि की आहुति ही स्वीकृत है। पांचरात्र मत में कृष्ण ही देवता है—संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि कृष्ण के "परिवार" के साथ उनकी उपासना की जाती है। इन परिवार-सदस्यों के आध्यात्मिक अर्थ किए गए हैं—संकर्षण ही "जीव" है, प्रद्युम्न—"मन" है, अनिरुद्ध "अहंकार"। शंकराचार्य इस मत को शारीरिक भाष्य (2/2/42-45) में 'अवैदिक मत' कहते हैं। डॉ. एस. एन. दास गुप्त ने अपने दर्शन के इतिहास में बताया है कि पांचरात्रों को वैदिक ब्राह्मण अपने साथ बिठाकर भोजन नहीं करने देते थे अर्थात् पांचरात्र भक्त, ब्राह्मण होने पर भी 'पंक्ति बाह्य' थे, जबकि महाभारत में पांचरात्रों को 'पंक्ति पावन' कहा गया है।

पांचरात्र मत—पांचरात्र मत में भगवान् के गुणों व शक्ति की उपासना की

जाती है। भगवान शक्तिमान हैं और लक्ष्मी उनकी शक्ति है। दोनों में 'अविनाभाव' माना जाता है। यह शक्ति 'क्रिया शक्ति'' व 'भूत शक्ति'' के रूप में पूजित है।

पांचरात्र मत में "मूर्ति-पूजा" भी स्वीकृत है। योग व ज्ञान-मार्ग को भी स्वीकार किया गया है; परन्तु भक्ति को मुख्य माना गया है। शरणागति 6 प्रकार की मानी गई है—(1) आनुकूल्यस्य संकल्प—भगवान् के अनुकूल रहना; (2) प्रतिकूलस्य संकल्प—भगवान् के प्रतिकूल न रहने की प्रतिज्ञा; (3) रक्षिष्यतीति विश्वास—भगवान् रक्षा करेंगे, इसमें विश्वास; (4) गोप्तृत्ववरणं—भगवान् को रक्षक मानना ; (5) आत्मनिक्षेप—आत्म-समर्पण ; और (6) कार्पण्य—नितान्त दीनता।[1]

शरणागति, भगवान् का अनुग्रह या कृपा, शक्तियों में विश्वास, योग, ज्ञान व भक्ति का समन्वय, मन्दिर—मूर्ति-पूजा—ये तत्त्व शैव-वैष्णव-उपासना में सामान्य है। शाक्तों में केवल एक यह विशेषता पाई जाती है कि वे शक्ति को शक्तिमान् से अधिक महत्त्व देते है तथा पंचमकारसेवी हैं। अन्य कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। फिर शाक्तों व शैवों में दक्षिण-पंथी शैव-शाक्त है—उनमें मन्दिर-मूर्त्ति-पूजा, ज्ञान-योग-भक्ति का समन्वय तथा भगवान् या देवी की कृपा में विश्वास आदि तत्त्व सामान्य हैं।

वैष्णव धर्म तक आते-आते उपेन्द्र विष्णु भी इन्द्रादि देवताओं में सर्वोपरि हो गये और मूर्त्ति-पूजा का इस काल में व्यापक प्रचार हुआ। इस काल तक आते-आते आदित्य विष्णु, कृष्ण व राम के रूपों में, तथा 'रुद्र शिव' ही—भारतीय धर्म-साधना पर छा जाते हैं—यज्ञ'होम' के रूप में ही रह जाता है। बौद्ध प्रचार के कारण हिंसा की जगह अहिंसा प्रधान हो जाती है। इस प्रकार धार्मिक साधना का जो रूप पुराणों में मिलता है, उसमे शिव, विष्णु व देवी ही हिन्दू धर्म का आधार हो जाते है। प्राचीन यज्ञ-याग, ऋषि मुनि, "अतीत गौरव'' के रूप में बार-बार स्मरण किए जाते हैं परन्तु "इतिहास" बन जाते हैं, धर्म साधना पर वैष्णव-शैव व शक्ति सम्प्रदायों का प्रभाव बढ़ जाता है

भागवतों द्वारा विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश तथा सूर्य—इन पांच देवताओं की पूजा का प्रचार 400 ई. पूर्व के बाद विशेष रूप से हुआ है। पुराणों में जहां अनेक अनार्य देवी-देवताओं की स्वीकृति है, वहां इन पांच देवताओ का महत्त्व सर्वोपरि है। स्मार्त्त ब्राह्मणों ने इस 'पंचायतन पूजा' का प्रचार सबसे अधिक किया है, इसके समानान्तर शैवों ने शिव के अनेक रूप 'लकुलीश शिव', 'लिंगेश्वर' आदि का तथा शाक्तो ने अनेक देवियों की पूजा का प्रचार किया।

---

1. अहिर्बुध्न्यसंहिता : 37—28 एवम् 52—15-25।

वैष्णवों में महाभारत के वासुदेव या सात्वत सम्प्रदाय ने कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर, उनकी पूजा का प्रचार किया। कृष्ण के सम्बन्ध में अनेक मत है। कुछ कृष्ण को छांदोग्य उपनिषद् के ऋषि 'घोर आंगिरस' का शिष्य मानते हैं और "देवकी-पुत्र कृष्ण" से उन्हें भिन्न मानते है, कुछ गोपियों के 'गोपाल कृष्ण' को महाभारत के कृष्ण से भिन्न मानते है, क्योंकि महाभारत मे कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का वर्णन नही मिलता, 'हरिवंश पुराण' को परवर्ती माना जाता है।

पतंजलि कृष्ण व कंस के युद्ध सम्बन्धी एक नाटक (Painted Show) का उल्लेख करता है। पाणिनि को भी महाभारत के कृष्ण वासुदेव के सम्बन्ध मे कुछ तथ्य ज्ञात थे। बेसनगर के स्तम्भ से पता चलता है कि 'हेलीडोरस' नामक ग्रीक वैष्णव था। गुप्त युग में 'वाराह' का उल्लेख मिलता है।

'विष्णु-सम्प्रदाय' के सम्बन्ध मे इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों मे ही, बौद्ध धर्म के समानान्तर, इस मत का प्रचार हो चुका था और पुराण इस धर्म के प्रचार द्वारा विदेशियो को भी 'ब्राह्मण धर्म' मे दीक्षित कर रहे थे।

दशावतार—पुराणों" में विष्णु के 'दशावतार' के सम्बन्ध में भिन्नता मिलती है, इससे भी विकास का पता चलता है। शान्ति पर्व में दशावतारो मे 'बुद्ध' की जगह 'हंस' का उल्लेख है। मत्स्य पुराण में 'बुद्ध' को अवतार माना गया है, यद्यपि दशावतारों की सूची अन्यो से कुछ भिन्न है। "वृद्धहारीत" स्मृति मे 'बुद्ध' की जगह 'हयग्रीव' का उल्लेख है। साफ कहा गया है कि बुद्ध की पूजा मत करो। रामायण (वाल्मीकि-अयोध्याकांड—109-34) मे कहा गया है कि 'बुद्ध नास्तिक' व 'चोर' थे। भागवत पुराण मे अवतारों की तीन सूचियां है। एक सूची में 22 अवतार है, जिसमे बुद्ध, व्यास, कल्कि व बलराम भी शामिल है, अन्य मे कपिल, दत्तात्रेय स्वीकृत है। 'ब्रह्मपुराण' में 'बुद्ध-पूजा' पर विशेष बल दिया गया है। इसमे कहा गया है कि शाक्य मुनि के अनुगामी बौद्धों को दान देना चाहिए।[1] 'कृत्यरत्नाकर' मे कहा गया है कि वाराह पुराण के अनुसार 'बुद्ध द्वादशी' को व्रत रखना चाहिए।

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि 400 ई. पूर्व से लेकर गुप्तकाल तक, जिसमे अधिकतर पुराण लिखे गए 'वैष्णव धर्म' का प्रचार हुआ। इस काल में बौद्ध-धर्म के प्रति आर्य कटुता भी कम हुई। इससे इसी अवधि में प्रचलित महायान धर्म से 'प्रभाव-ग्रहण' में सुविधा हुई। यह स्थिति उत्तरी भारत की थी, यद्यपि कुछ लोग मानते हैं कि अधिकतर पुराण दक्षिण में लिखे गये।

वैष्णव धर्म और महायान सम्प्रदाय—दक्षिण भक्ति के उदय का केन्द्र था। रामानुजाचार्य के विचार दक्षिण से ही उत्तर मे आये थे। आचार्य वल्लभ की जन्म-

1. काणे—जिल्द वही; पृष्ठ 721।

भूमि आंध्र भी दक्षिण में ही हैं, जहां अशोक के राज्य-काल में ही बौद्ध धर्म
प्रचार हो चुका था। अशोक के बाद 225 ई. तक आंध्र पर सातवाहन राजा
का शासन रहा। इस युग में अश्वघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबंधु, आर्यदेव आ
महायानियों के प्रयत्न से बोधिसत्वों की मूर्ति-पूजा का प्रचार हुआ। सुखाव
सम्प्रदाय ने बुद्ध के नाम-जप, मूर्ति-पूजा आदि द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति सम्भव बता
अनेक देवी-देवताओं की पूजा—वैष्णव-शैव-देवी-देवताओं की पूजा की ही तरह
पड़ी। इस महायान पूजा पद्धति का प्रभाव सातवाहन शासन के बाद के ब्राह्मण
पर बहुत अधिक पड़ा है।

दक्षिण देश की सभी प्रारम्भिक संस्कृति बौद्ध-प्रेरणा से एक विशेष
को प्राप्त हुई, जिससे सातवाहन वंश के बाद की ब्राह्मण-संस्कृति विकसित हु
अतएव 'भक्ति-सम्प्रदाय' जो वैदिक यज्ञयाग, जैन वैराग्यवाद तथा बौद्धों की चा
त्र्यक कठोरता (Moralism) से दूर था, वह महायान धर्म के रूप में बौद्ध
में भी उदित हुआ और वैष्णव मत में भी। इन्होंने एक दूसरे को प्रभावित
किया।[1]

जिस तरह पौराणिक देवी-देवताओं के विचित्र वेष, वाहन आदि है, उ
तरह बौद्ध देवी-देवताओं के भी मिलते है। आन्ध्र में मारीची देवी के 3 मुख
6 भुजाएं हैं। वह धनुष-बाण धारण करती है। उसके पैरों में दो ध्यानी बुद्ध आर
हैं। यह देवी 'अमिताभ' नामक ध्यानी बुद्ध की 'शक्ति' है। 'तारा' 'अवलोकितेश
की शक्ति है। इसकी आंध्र में आज भी पूजा होती है। बौद्ध देवता रक्त-पिपासु
भयंकर है, (काली व रुद्र जैसे) उनमें चारित्र्यिक दृढ़ता नहीं है। विस्तृत पूज
आचार द्वारा इन देवी-देवताओं को प्रसन्न किया जाता है। महायान में ईश्वर
इतना दयापूर्ण बनाया गया कि गलती से भी 'बुद्ध' का नाम ले लेने पर मु
प्राप्त हो जाती है। साधना के इस सरलीकरण का जब प्रचार हुआ तो उसमें
भी आ गए और बौद्ध मठ व मंदिर भ्रष्टाचार के अड्डे बन गए। और भी ऐसे
ऐतिहासिक कारण उपस्थित हो गये जिससे उसका पतन अवश्यम्भावी हो गया।
उसके स्थान पर वैष्णव धर्म, जो महायान बौद्ध धर्म की अच्छाइयों को भी सम्मि
करके खड़ा हुआ था, लोकप्रियता में शैव धर्म से भी आगे बढ़ गया, यद्यपि वैष
और शैव दोनों ही धर्मों के, विकास की आधार-भूमि एक ही थी।

1. "All the earlier cultures of the Deccan, came to a defin shape under Buddhist stimulus out of which emerged the n Brahmanical culture of the Post-Satvahan period."

—Buddhist Remains in Andhr
K. R. Subramaniam, Madras; 19

शाक्त प्रभाव—ईसवी छठी शताब्दी के पश्चात् सम्पूर्ण भारत मे 'शाक्त प्रभाव' बढ़ता गया। प्रत्येक देव के साथ एक-एक 'शक्ति' की कल्पना यद्यपि हम देख चुके हैं कि वह पुरानी है, तथापि पौराणिक युग मे इसका विशेष प्रचार हुआ। महायान-धर्म के उत्तरवर्ती रूप—वज्रयान व सहजयान मे 'शक्ति-साधना' शुरू हुई। यह मान लिया गया कि जिस "राग" से बन्धन होता है, उसी 'राग' से 'मुक्ति' होनी चाहिए। गौतम बुद्ध का वह रूप आदर्श माना गया, जब वह कपिलवस्तु के राज-भवन मे गोपा व अन्य सुन्दरियों के साथ 'विहार' करते थे, नृत्य, उत्सव में भाग लेते थे। उधर 'शाक्तों ने 'लता-साधना' पर बल दिया—योनि-पूजा प्रस्तुत की, पचमकार का प्रभाव बढ़ा। शैवागमों ने पौराणिक युग में ही, छठी शताब्दी के बाद से 'शक्तिसाधना' को ही स्वीकार किया, जिसका सैद्धान्तिक रूप काश्मीर के प्रत्यभिज्ञावादियों ने प्रस्तुत किया। स्वय शंकराचार्य को दक्षिण-पंथी 'शाक्त' बताया जाता है। "वैष्णव" इस शाक्त साधना से अलग रहे तथापि प्रकारान्तर से उन पर भी प्रभाव पड़ा। ईसा की 7, 8, 9, 10, 11,—इन पांच शताब्दियों में भारतीय धर्म-साधना को 'शाक्त-साधना'' कहा जा सकता है। दक्षिण मे इसका विशेष प्रचार हुआ।

भक्ति का प्रचार—यह स्मरणीय है शैव व वैष्णव आड़वारों ने तमिल देश में 'भाव-प्रधान भक्ति' का प्रचार इन्ही शताब्दियों में किया था। इसमें भाव-प्रधान था, क्रिया नहीं। क्रिया में 'मूर्ति पूजा' स्वीकृत थी, परन्तु 'शाक्ताचार' वर्जित था। आड़वारों का परम्परा को यमुनाचार्य व रामानुज ने शास्त्रीय आधार दिया और शंकराचार्य के 'संन्यास वाद' और मायावाद' का खण्डन किया। उधर बंगाल में जयदेव व मिथिला मे विद्यापति ने 'सहजिया बौद्धों' के अनुकरण पर—कृष्ण व उनकी शक्ति 'राधा' के प्रेम व विलास का वर्णन किया और इधर रामानन्दो ने 'राम-सम्प्रदाय' का उत्तर भारत मे प्रचार किया। निम्बार्क, चैतन्य व वल्लभ ने वैष्णव-भक्ति का दिगन्तव्यापी शंखनाद किया परन्तु; संस्कृति का केन्द्र इस बार न दक्षिण बना न काशी। अबकी बार वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार ब्रजभूमि से हुआ और श्रीमद्भागवत इस प्रचार का मुख्य माध्यम बना।

□□□

अनपढ़ होने से अपरिष्कृत-अटपटी बानी का वक्ता कहा गया है और इस सन्दर्भ में श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी आदि शास्त्रवादी आलोचकों का अभिमत यही है। मनोविश्लेपण, विशेष कर एडलर के सिद्धान्त को, साहित्य पर चिपकाने वालों ने कबीर-दादू, नानक आदि वर्णसमाज के निम्नस्तरों से उठ कर आने वाले सन्तकवियों को हीनभाव से ग्रस्त कहा है किन्तु जिन मनीषियों ने उपर्युक्त कबीर की आरपार जाने की शक्ति को देखा है, जो सृजन को मात्र बौद्धिक : मानसिक न मानकर यह मानते है कि रचना ऐसी हो सकती है जो सिर्फ सचेत, सायास न हो, स्वतः उच्छलित हो, वे विचारक कबीर को 'अनूठा' कवि मानते हैं।

लोकपरम्परा, शास्त्रज्ञों से अधिक तब बुद्धिमत्ता दिखाती है जब वह कहती है कि "तत्त्व-तत्त्व सूरा कही, कबिरा कही अनूठी, अची खुची कठमलिया कहि गयो और कही सब झूंठी।" तो यह जो लोगों की समझ है, जो बौद्धिकता पर नहीं, अन्तर्दृष्टि पर आधारित है, उसे श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने समझा था। यही कारण है, कबीर उन्हे अटपटे नहीं, भाषा के बादशाह या डिक्टेटर, मस्तमौला और अन्तःप्रज्ञासम्पन्न प्रातिभकवि (Intuitive) लगते है। उन्होंने यह साफ देख लिया था कि कविता या कला के लिए मुख्य शक्ति 'भीतर के पट खोलने' की है, सरसरी, सनकी, ऐन्द्रिय (सॅस्सेट) और सनसनी परक, ऊपरी दृष्टि से जो परिघटना (फिनोमेनन) का प्रत्यक्षीकरण होता है, उससे रचना तो बन सकती है, बन जाती है किन्तु उसमें परत-दर-परत अन्तःकरण में उतर कर 'हृदयग्रन्थि' भेदने की ताकत नहीं आ सकती।

हगैं न बोलैं उन्मनी, चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या, सतगुर कै हथियार॥

कबीर में यह शक्ति कहां से आई? कबीर के शक्ति स्रोत दो है, पूर्व सिद्ध-सन्त परम्परा और व्यावहारिक जीवन की शुद्धता। गुरु रामानन्द ने उन्हे रामनाम का रहस्य बताया था कि 'राम' किसी व्यक्ति, किसी राजपुत्र का नाम नहीं है, वह अन्तर्निहित चेतना है, जो सर्वत्र है, अन्तर्यामी है, घट-घट व्यापी और साथ ही सर्वातीत है। इस चिति-संवित् या चेतना के धरातल पर, किसी भेद, द्वैत, द्विविधा, उच्चता, निम्नता के लिए अवकाश नहीं, किसी सम्प्रदाय, पंथ या मार्ग का आग्रह नहीं, किसी असंगति-विसगति का ठौर नहीं। वह चेतना का आलोक स्वयंभू, स्वतः सम्पूर्ण, समन्तभद्र और सर्वातिशयी है। वह यदि जाग्रत है तो आचार-रीति-रिवाज, तीर्थ, अवतार, मूर्ति, उपासनाप्रपंच और किसी प्रकार के झंझट के लिए कोई गुंजायश नहीं क्योंकि मनुष्य के भीतर यह जो चेतनतत्त्व है, वही सब कुछ है, शेष सब विभाजक और विभेदक है, अज्ञान और माया है।

इसी चेतना-अद्वयवाद के आधार पर, कबीर के पूर्व, योगियो ने शताब्दियों से, बाह्य जीवन और समाज के भेदभावों और तज्जन्य क्रूरताओं के विरुद्ध संघर्ष किया

था। कबीर की वाणी में बौद्ध-शैव-सिद्धों, नाथपंथी योगियों की शब्दावली ही नही, हठयोग की पूरी साधना-पद्धति मिलती है। यों कबीर निर्गुणभक्त कहलाते है। निर्गुण का अर्थ है कि वह मनुष्य के भीतर चेतना की अगम गति को देखते थे और यह भी कि उसे किसी व्यक्ति, किसी प्रतीक या मूर्ति या अवतार या सगुण ईश्वर तक सीमित नही माना जा सकता क्योंकि चेतना का स्वरूप, स्वभावतः सर्वातिक्रमण का है। कबीर के पूर्व की सिद्धों और नाथों की परम्परा में यही सत्य स्वीकृत था अतः कबीर बाह्याचार, तीर्थ, मूर्तिपूजा आदि का खंडन करते हैं और बार-बार आंतरिक-चेतन-शक्ति के साक्षात्कार पर बल देते हैं। यह चैतन्य-शक्ति, वाणी के भी परे है अतः कबीर उस अवांगमनसगोचर अन्तर्मुखी-स्तर को व्यक्त करने के लिए उलटबांसियों, रूपकों और सैना-बैना की कथन-पद्धतियां अपनाते हैं जो रहस्यवादी कविता की सृष्टि करती है।

किन्तु कबीर सिद्धों या औघड़ो से चेतनागत स्वच्छन्दता लेकर भी उनकी वाममार्गी पद्धति को नही अपनाते, वह 'वैस्नव की छपरी भली, नहिं साकत को गाँव' मे यही बात कहते है। वह नाथपंथी अवधूतों के हठयोग की साधना कुंडलिनीयोग, अनाहतनाद और बिन्दु साधना को पदों में भरते है किन्तु सहज गृहस्थधर्म के सामने नाथो की कृच्छ्रयोग पद्धति को नही मानते। वह वैष्णव रामानन्द के शिष्य बनते हैं किन्तु वैष्णवो की मूर्तिपूजा, आचारसंस्कार, तीर्थोपासना का विरोध करते हैं किन्तु वैष्णवो की अहिंसा, शुद्धाचारी व्यवहार और करुणा को स्वीकारते है। वैष्णव आचार्य उदार तो थे परन्तु वे वर्णसमाज के समर्थक थे। वे केवल भुक्ति के क्षेत्र मे ही, निम्नजातियों और स्त्रियो को अधिकार देते थे किन्तु कबीर न वर्णसमाज को मानते हैं, न वर्गसमाज को। वह समसमाज के क्रान्तिकारी द्रष्टा थे। वह सूफियो से प्रेम की पीड़ा अपनाते है किन्तु उनके शास्त्रीय प्रपच की आलोचना करते हैं, ब्राह्मणों और काजी-मुल्लाओ की हिंसा, परिग्रह, भोगविलास तथा भेदभाव पर प्रहार करते है। अतएव, कबीर 15वी शताब्दी में एक ऐसे स्वतन्त्र मार्ग को खोज रहे थे, जो हिन्दू-मुसलमानी आग्रहों से पृथक समदृष्टि और शुद्ध-जीवनपद्धति पर आधारित हो। यही कारण है, कबीर का प्रभाव सभी परवर्ती सन्त-आन्दोलन प्रवर्तकों पर पड़ा है जो बाद में सम्प्रदाय बनते गये।

इस प्रकार, कबीर पूर्व परम्परा से प्रभावित होने पर भी मौलिक विचारक थे और अपनी समदर्शी सामाजिक चेतना के कारण वह भारतीय-पुनर्जागरण (इण्डियन रिनेसां) के प्रवर्तक बने। कबीर के पूर्व महाराष्ट्र मे नामदेव ने यह सिलसिला शुरू किया था किन्तु उत्तरभारत में कबीर ही पुनर्जागरण के अग्रदूत थे।

कबीर का दूसरा शक्तिस्रोत उनका यह विचार था कि गृहस्थ रहकर, अपनी वृत्ति या व्यवसाय को ईमानदारी से सम्पन्न करते हुए जीवन-निर्वाह करना चाहिये अतएव वह बड़े गर्व से अपने जुलाहा होने का उल्लेख करते हैं।

कबीर अपनी प्रखरता और प्रहारक-वेधक-शक्ति के कारण व अपनी क्रान्ति-दर्शिता के कारण हिन्दी के समकालीन दौर मे, संघर्षशीलता के प्रतीक बन गए है किन्तु आधी-अधूरी नजर के लोग प्रायः कबीर के विश्वास और विकटता में सम्बन्ध नही जोड़ते। कारण यह है कि साम्प्रतिक समाजवादी यह समझते है कि उन्हें सिर्फ कबीर की सामाजिक-चेतना और विद्रोही वाणी से मतलब है। वे कबीर की कविता की जो सामाजिक-आलोचनात्मक भूमिका है, उसे पर्याप्त मानते हैं और कबीर के एकेश्वरवाद, भक्ति और रहस्यवाद को ऐतिहासिक सीमा कहते है। किन्तु क्या कबीर और अन्य भक्तिकालीन कवियों की भूमिका को संग्रथित रूप में समझा जा सकता है यदि उनके विश्वासो और विद्रोह मे सम्बन्ध न जोड़ा जाए?

पूर्वमध्ययुग और मध्ययुग में धर्म या विश्वास-आधारित विचारधारा, जहां एक और यथास्थिति की सरक्षक रही है, उच्चवर्गों ने जहां धार्मिक विचारवाद का प्रयोग स्ववर्गहित में किया है, वही पीड़ित समुदायो ने धर्म और ईश्वर का प्रयोग अपनी वेदना को व्यक्त करने के लिए किया है और उस व्यथा के कारणों के विरुद्ध विरोध और विद्रोह भी। अतएव, धार्मिक व्याकुलता जहां वास्तविक जीवन-कष्टों-दुःखों की अभिव्यक्ति थी, वही उसके विरोध का माध्यम भी वही थी। धर्म इस प्रकार दमित वर्गों की आह और उच्छ्वास था, हृदयहीन संसार और समाज के सन्दर्भ मे धर्म सहृदयता का वाङ्मय था, आत्महीन परिस्थितियों मे धर्म आत्मीयता की अभिव्यक्ति था और जनता के दुःख भुलाने के लिए अफीम के समान उपचारक था। धर्म से दु.ख दूर नही होता, यह सत्य है परन्तु दुःख को विस्मृत या स्थगित करने की शक्ति धर्म मे अवश्य है। अतः धर्म और ईश्वर, मध्ययुग में और आज भी, प्रतिक्रियावादियो और यथास्थितिशीलों का अस्त्र है और दलितों-पीड़ितों का भी—Religious distress is at the same time the expression of real distress and also the protest against it. Religion is the sign of the oppressed creachers, the heart of a heartless world, Just as it is the spirit of spiritless Conditions. It is the opium of the people." (कार्ल मार्क्स)

कबीर जानते थे कि सामाजिक जीवन में मुख्य अन्तर्विरोध का कारण, व्यावसायिक-अशुद्धता है। यदि लोग अपना कार्य ईमानदारी से करें, उसे शोषण का माध्यम न बनायें, आलस्य और प्रमाद त्यागें, दूसरों के श्रम पर न जिएं तो समस्याओ का समाधान हो सकता है किन्तु इसके साथ, सांस्कृतिक स्तर पर व्यक्तित्व की वैष्णवता जरूरी है अन्यथा क्रूरता और असमता का बोलबाला रहेगा। कबीर ने यह साफ-साफ देखा था कि परजीवी बन कर, साधना या आत्मगतविकास मे खोट रहती है। वह यह भी देख रहे थे कि ऐसे परजीवियो (पैरासाइट्स) की सख्या लाखो मे है जो नानारूपधारी, अनेकपंथपथिक और विभिन्नमार्गों के अनुगामी,

दूसरों की कमाई पर भोग लगा रहे है। कबीर ने आजीवन, अपनी जीविका नहीं छोड़ी और परावलम्बन स्वीकार नहीं किया। वह श्रम की महत्ता के भी स्थापक सन्त थे।

प्रायः कहा जाता है कि कबीर श्रम और श्रमिकों को तो गौरव देते है किन्तु नारी के निन्दक है किन्तु इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदास का मत युक्तियुक्त है कि कबीर के ऐसे वाक्य, वैराग्यावस्था के समझने चाहिए। कबीर नारी के नहीं, पशुप्रवृत्ति या वासना के विरोधी थे। जहां नारीनिन्दा है, वहां विवेकहीन आकर्षण और कामनाओं का बहिष्कार है। यदि वह नारीजाति के शत्रु होते तो गृहस्थमार्ग या सहजधर्म का उपदेश क्यों देते? कबीर सम्प्रदाय में यह कहा जाता है कि लोई, उनके साथ पत्नी रूप में नहीं रहती थीं किन्तु प्रश्न तो यह है कि लोई का उन्होंने, निवृत्तिमार्गी होने पर भी, त्याग क्यों नहीं किया और कबीर-सम्प्रदाय में दूसरी परिभाषाएं भी है जो यह मानती है कि लोई कबीर की पत्नी थी और कमाल उनका पुत्र था। वह अपने पुत्र की पथभ्रष्टता पर प्रहार करते हैं कि वह परिग्रही है, वह संग्रह करता है जबकि अर्थ-अर्जन का एकमात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसे अभावग्रस्तों और सन्तो-सज्जनों पर व्यय कर दिया जाए—

डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छोड़ के, घर ले आया माल।

तो यह 'माल' लाकर "माला-माल" होने की लिप्सा ही सबसे बड़ी व्याधि है, यह कबीर का मत है।

इस तरह देखें तो कबीर धर्म और ईश्वर, रहस्यसाधना और भक्ति द्वारा, अपने समय और समाज की आर्थिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक न्यायहीनताओं और विषमताओं के विरुद्ध एक ओर तो भावोच्छ्वास प्रकट कर रहे थे और दूसरी तरफ वह व्यवस्था और व्यवस्थापकों की अमानवीयताओं के खिलाफ अपनी उलटबोसियों, साखियों, व्यंग्यविद्रूपों और सीधे प्रहारों से विद्रोह भी कर रहे थे। वैज्ञानिक दृष्टि से जो धर्म, ईश्वर और भक्ति अंधविश्वास है, कबीर की वही आंतरिक शक्ति थी। वह विश्वास का आंतरिकीकरण कर, उसी में रमते हुए, उसी से शक्ति-ग्रहण करके, अकेले ही सारे जमाने की ज्यादतियों के विरुद्ध युयुत्सु हो उठे थे। विश्वास ने उन्हें धुरी और धैर्य दिया था और वह उनके लिए मानवमूल्यों और ममताओं का भी अक्षय-स्रोत था। अतः समाजशास्त्रीय दृष्टि से धर्म और अध्यात्म भले ही आत्म-निर्वासन (Alienation) का एक प्रकार हो किन्तु कबीर के लिए वह पूर्णता और आत्मबल का स्रोत था।

कबीर अपनी धार्मिक विचारधारा के लिए भी सताए गए। वह ..
अतः आत्म को ब्रह्म मानते थे। वेदान्त और तसव्वुफ दोनों के ..
और ब्रह्म एक और अभिन्न हैं अतः सिकन्दर लोदी के शासन में कबीर

लिए यातनाएं भी दी गईं। दूसरी ओर ब्राह्मण और काजी-मुल्ला, दोनों उनके विरुद्ध थे। वह अनेक प्रवादों के शिकार बनाए गए किन्तु कबीर अपने विश्वासों के बल पर निर्भय रहे। कबीर की तेजस्विता इतनी चमत्कारक थी कि उनके विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ गढ़ी गईं, अनेक मिथक खड़े किए गए किन्तु उन्हें हटा कर भी कबीर के व्यक्तित्व की निष्कम्पता को देखा जा सकता है। इस अटलता का आधार विश्वास था।

भारतीय समाज में दो परम्पराएं प्रारम्भ से ही चली आ रही है। निगम या वैदिक परम्परा मे ब्राह्मणवादी : वर्णाश्रितः स्मृति-धर्मशास्त्रानुमोदित विषम समाज का संरक्षण और समर्थन मिलता है किन्तु आगम परम्परा में जैन-बौद्ध-सिद्धनाथ योग-प्रवाह में वर्णवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोहभाव दिखाई पड़ता है।

कबीर इसी आगम-परम्परा की मूल-समदर्शी-संवेदना और वर्णवर्गव्यवस्था के विरोधी सन्तकवि थे। यही कारण है कि वह शास्त्रों के विपरीत, अनुभव और स्वतन्त्र पर्यवेक्षण के बल पर, गुरु और सतनाम के आधार पर, समस्त तीखेपन से अमानवीय अभिवृत्तियों पर चोट करते थे—

लिखा पढ़ी की है नही, देखमदेखी बात।
दूल्हा दुल्हिन मिलि गये, फीकी परी बरात॥

कबीर को जो कवि नही मानते, उन्होंने उनकी प्रेमसाधना की कोमलता और तन्मयता की उपेक्षा की है। कबीर मे उनकी अगाध-प्रेमानुभूति की शक्ति, उनके व्यक्तित्व की पारदर्शिता के कारण स्वतः कविता बन गई है। उसमे ऐसी तलाश और अनूठापन है, विदग्धता और विकटता है कि उसका जवाब नही है। इसका कारण यह है कि वह सिद्धो और नाथों की तरह, शास्त्रीय साहित्यिक प्रतिष्ठान (क्लासीकल लिटरेरी एस्टेब्लिशमेंट) के समानान्तर लोकभाषा और चिर-परिचित, दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के बिम्बों का प्रयोग करते थे। कबीर एक नये समाजदर्शन के ही प्रवक्ता नही थे, वह एक नये काव्यमार्ग के भी प्रयोक्ता थे। वह हिन्दी के महान् 'अकवि' (Anti-Poet) कहे जा सकते हैं। समकालीन अकविता बनावटी, विध्वंसक और अराजक है किन्तु कबीर की अकविताएं सामाजिकचेतना की अस्त्र-शस्त्र बन गई है। उनमें मात्र निषेध नही है, निषेध का निषेध है। जो कुछ भव्य और ग्रहणयोग्य है, उस पर वार नही है, जो भद्दा और भयंकर यथार्थ और व्यवहार है, उसी को अनावृत्त किया गया है। कबीर में कविता, दैनिक जीवन और सामाजिक परिवर्तन की एकता है अतः उनकी वाणी आज भी समकालीन सामाजिको, क्रान्तिकारियो और कवियो के लिए प्रेरक है—

कबिरा खड़ा बजार मे लिए लुकाठी हाथ,
अब घर जारें तासु का जो चले हमारे साथ!

□□□

6 सूर की सामाजिकता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि सूरदास यद्यपि 'सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञानमार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए है, साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिकावृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्तिमार्ग या प्रेममार्ग की सुगमता भी प्रदर्शित की है' तथापि 'सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है, गोपियों के प्रेमभाव की गम्भीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञानगर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकान्त साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंग का नहीं।' शुक्लजी ने यह भी बताया है कि सूरदास चूंकि गीतकार थे अतः यौवन व वात्सल्य की मनोहर वृत्तियों के वर्णन में ही वे अधिक रुचि लेते हैं। सूर का प्रेम घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्नविस्तार नहीं है। लोक संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है। जीवन की गम्भीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण सूर में वह वस्तु-गाम्भीर्य नहीं है जो गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में है। परिस्थिति की गम्भीरता के प्रभाव में गोपियों के वियोग में भी गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती। शुक्लजी ने सूरदास में गाम्भीर्य के अभाव का कारण 'गीतकाव्य' को बताया है। प्रबन्धकाव्यकार होने पर ही सूरदास में गाम्भीर्य की रक्षा हो सकती थी और लोकसंघर्ष में भाग लेने की वह प्रेरणा दे सकते थे।[1]

पंडित रामचन्द्र शुक्ल की सीमा यह थी कि वह सर्वत्र तुलसीदास को ही अपना मापदण्ड मानते थे। तुलसीदासजी की सबसे बड़ी देन है मध्यकालीन समाज में, जिसका मुख्य आधार 'कृषि' था, सामन्तवादी व्यवस्था के अनुकूल उच्चातिउच्च आदर्शों को उपस्थित करना। इन आदर्शों का अनुगमन करने से सामन्तवादी समाज व्यवस्थित रूप से चल सकता था। राजा, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, शत्रु, मित्र आदि, सभी सामाजिक सम्बन्धों के—वाल्मीकि रामायण के आधार पर, आदर्शों की अपने युग के अनुकूल पुनर्स्थापना ही तुलसी का सबसे बड़ा उद्देश्य था और इस कार्य में

---

1. द्रष्टव्य-भ्रमरगीतसार की भूमिका।

उन्हें सबसे अधिक सफलता मिली। इन आदर्शों को हिन्दू समाज ने यथावत् स्वीकार
किया और धार्मिक व सामाजिक—दोनो दृष्टियो से तुलसीदास एक व्यापक स्तर पर
भारतीय समाज को प्रेरित कर सके।

यह कहना गलत है कि तुलसीदास की रामायण केवल धार्मिक दृष्टि से पढ़
जाती है अथवा यह कि तुलसी मात्र भजनानन्दी थ, जागरूक कवि नही,' क्योंकि
तुलसी के आदर्श इतने ऊँचे और पवित्र है, आदर्शों के लिए जो आत्मत्याग, रामायण
मे मिलता है, उसने जनता को इतना प्रेरित किया है कि वह उसे 'धार्मिकता' के
स्तर पर पूजती है। तुलसी जानते थे कि मनुष्य को धार्मिकता का आवरण दिये बिना
सामाजिक बनाना असम्भव था अतः राम को बिना ईश्वर बनाए हुए राम के आदर्शों
की स्वीकृति जनता द्वारा कैसे मिलती ? अतः धार्मिकता बुरी है या भली, यह प्रश्न
ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वालों के लिए उतना महत्त्वपूर्ण नही, जितना यह देखना
कि तुलसी की धार्मिकता क्या सामाजिकता मे सहायक है ? अथवा धर्म, व्यवस्था
तथा आदर्श क्या परस्पर विरोधी तत्त्व है ? तुलसी धार्मिकता द्वारा ही मध्यकाल
के मनुष्य को तथा साथ ही शासन को अधिक उदार और मानवीय बनाना चाहते है,
जो धर्म के आवरण के बिना कोरी बौद्धिकता को स्वीकार नही करता।

तुलसी यह नही कहते थे कि केवल हिन्दू पिता को दशरथ जैसा सत्यवादी
बनना चाहिए, हिन्दू नारी को सीता बनना चाहिए, हिन्दू राजा को राम बनना
चाहिए, तुलसी ने तो एक साथ सब के लिए कहा था कि रामवत् आचरण करो,
रावणवत् नही। आचरण की महिमास्थापना ही तुलसी का उद्देश्य है और एक
सीमा तक तुलसी के इन आदर्शों ने मुसलमानों को भी प्रभावित किया है, खासकर
सामान्य जनता मे तुलसी की चौपाइयां—भाई-भाई, स्त्री-पति आदि के प्रेम और
झगड़ो में एकता और प्रेम की प्रेरणा देती रही है, किन्तु आचरणों की महिमा के
साथ-साथ तुलसी 'स्मार्तमत' के पुनरुद्धारक भी थे, प्राचीन वर्णाश्रमधर्म की पुनःस्था-
पना तथा ब्राह्मणों के सर्वाधिकार के समर्थक भी थे अतः तुलसी के आसपास
'शास्त्रनिष्ठता' के कारण सामान्य जनता उस प्रकार जमा नही हो सकी जैसे कि
कबीर, दादू व नानक के पास जमा हो गई थी। कबीर आदि सन्तो ने स्पष्ट
हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया जो उस समय सर्वाधिक रूप से आवश्यक थ
विदेशी शासक अत्याचारी था, वह अपनी संस्कृति का घमंडी था, वह बला
धर्म परिवर्तन करता था, अनेक अनावश्यक टैक्स लगाता था तो दूसर
और पंडितवर्ग सामान्य निम्न जनता का विरोधी था, 'यवनों' से आत्मरक्षा की
धुन मे उसने सामान्य जाति भेद को और भी कड़ा किया था। ऐसी स्थिति में
वैष्णवो ने भक्ति के क्षेत्र में और संतों ने सभी क्षेत्रो में धर्मों व जातियों के अल-
गाव के स्थान पर प्रेम व एकता का स्वर घोषित किया। 16-17 वीं शताब्दियों

में यही स्थिति थी। इस सन्दर्भ में देखना चाहिए कि तुलसी के योगदान के प्रति-रिक्त कृष्णकाव्यकारों ने क्या सामाजिक योगदान किया अथवा उन्होंने जो 'कल्पना के स्वर्ग' बसाए, अलौकिक लीलाओं का गान किया, उनका समाज पर क्या प्रभाव पड़ा और सामाजिक सम्मिलन में, जो द्रुतगति से बढ़ रहा था, सूरदास आदि के साहित्य से क्या सहायता मिली ?

इतिहास को देखते समय पं. राम चन्द्र शुक्ल की दृष्टि यही रही है कि चूँकि तुलसी ने आदर्श दिए, जीवन में संघर्ष करने की प्रेरणा दी अतः तुलसी का कार्य लौकिक दृष्टि से उपयोगी रहा और सूर ने कृष्ण के 'लोकरक्षक' रूप को महत्त्व न देकर केवल 'मनोरंजक' रूप को ही महत्त्व दिया अतः वह हिन्दू हृदयों से केवल निराशा दूर करने में ही कुछ सफल हो पाए, अन्यथा वे संघर्ष से दूर जा पड़े और अलौकिकता में रमे रहे। शुक्ल जी के अनुसार वल्लभमत में नाचने-कूदने और रंगरेलियाँ मनाने का प्रभाव यह हुआ कि जहाँदारशाह जैसे बादशाह भी "कन्हैया" बनने लगे अर्थात् कृष्ण के नाम पर विलास करने लगे और दूसरी ओर स्वयं वल्लभमत में व्यर्थ की शान, सजावट होने और संघर्ष का अभाव होने से चरित्र-भ्रष्टता शुरू हो गई।

सूर-काव्य का शुक्ल जी द्वारा यह ऐतिहासिक अनुशीलन इस भ्रम पर आधारित है कि इतिहास के निर्माण में जिन तत्वों को सहायता पहुँचाने की आवश्यकता होती है, उन तत्वों को केवल 'मर्यादावाद' से ही सहायता पहुँच सकती है। 'सूफीधर्म' मर्यादावादी नहीं है परन्तु 'सूफीधर्म' ने युद्धों और विग्रहों की शताब्दियों में एकता और प्रेम के लिए तुलसी से कम काम नहीं किया है अतः यह भी संभव है कि हमें तुलसी का मर्यादावाद आज अधिक रुचिकर हो अथवा यह भी सम्भव है कि आप सूफियों की मस्ती को अधिक पसन्द करें परन्तु इतिहास में तुलसी व सूफी-साधना का योगदान निश्चित करते समय यह देखें कि इन दोनों ने तत्कालीन ऐतिहासिक आवश्यता की पूर्ति में कहां तक सहायता की है ?

उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी 'सामाजिक-सम्मिलन'। हिन्दू-मुस्लिम अलगाव की जगह, दोनों जातियों का अधिकाधिक—व्यापार, कृषि, सेवा और दूसरे कामों में सहयोग। केन्द्रीय सरकार को स्थिरता तभी मिल सकती थी। यह भी आवश्यक था कि साधकों के आसपास एकत्र होने वाले लोग अत्याचार और अनुदारता के क्षणों में बादशाहों पर दबाव डालने का काम करें जैसा कि सिक्ख सन्तों ने किया।

यह दबाव शक्ति, साहस और प्रेम, दोनो पद्धतियो द्वारा हो सकता था अत साधकों की साधना बहिर्मुखी थी या अन्तर्मुखी, मर्यादावादिनी थी या अमर्या-दावादिनी, यह देखने के साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि इन विचित्र और अलौकिक अनुभवो ने 'सामाजिक सम्मिलन' के कार्य मे कहा तक सहायता दी ? प. रामचन्द्र शुक्ल ने यह देखने का अधिक प्रयत्न किया है कि 'मुझे कौन अधिक प्रभावित

करता है' । यह मुझे 'कौन अधिक प्रभावित करने' का सिद्धांत व्यक्तिगत सिद्धान्त है, ऐतिहासिक नही है । यही कारण है कि अपनी व्यक्तिगत रुचियों को पूर्ण करने वाले कवि तुलसी के महत्त्व के आगे, अन्य काव्य-आन्दोलनों के साथ शुक्ल जी न्याय नही कर सके । शुक्ल जी की अन्य सीमाओ मे यह भी एक सीमा है कि वह सूर का ऐतिहासिक महत्त्व नही समझ सके। व्यक्तिगत रुचि की रक्षा और अशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि के कारण ही ऐसा हुआ है ।

सर्वप्रथम कृष्णकाव्य के विषय में कुछ तथ्य लीजिए जिससे इस सम्प्रदाय के प्रभाव और उसके स्वरूप का पता चलता है ।

वल्लभमत की स्थापना पर दृष्टि डालिए कि 'लीलागान' का वास्तविक उद्देश्य क्या था ?

जब वल्लभ मलाबार पहुँचे तो 'कोडनीय' नामक एक आश्रम गये परन्तु ऋषि की मृत्यु हो चुकी थी । ऋषि फिर भी अवतरित होकर बोले कि मेरे गुरु का नाम शाडिल्य था । एक मुनिकन्या ललितादेवी ने उसे उपदेश दिया कि श्री पुरुषोत्तम की उपासना करो, लीला का स्मरण करो, वैदिक व अवैदिक मत इस रहस्य को नहीं जानते ।[2]

इसका अर्थ यह है कि वल्लभ ने बहुत पहले से अवैदिक समझे जाने वाले 'शाडिल्य मत' को स्वीकार किया था । यह स्मरणीय है 'पांचरात्र मत' व शाडिल्य मत को वैदिक लोग 'प्रामाणिक मत' नही मानते थे । एक पंक्ति में बैठकर वैदिकों के साथ पाचरात्र वैष्णव भोजन नही कर सकता था अतः वल्लभ ने दक्षिण के कठोर जातिवाद को देखकर उसके विरुद्ध भक्तों के आंदोलन में अपने सम्प्रदाय द्वारा सहायता दी । यह ठीक है कि शाडिल्य के भक्तिमत को बाद के वैदिकों ने भी स्वीकार कर लिया परन्तु वल्लभ के समय तक भक्तिमार्ग को अवैदिक माना जाता रहा, यह एक तथ्य है । आचार्य यामुन व रामानुज को वैदिकों का विरोध अपने भक्तिवादी सिद्धान्तो व सुधारो के लिए बराबर सहना पड़ा था । अतः वल्लभ ने 'जातिवाद-विरोधी' भक्तिपक्ष स्वीकार किया, उसे सैद्धान्तिक आधार दिया । क्या 'जातिवाद' उस समय आवश्यक था ? प्रश्नकर्त्ता पूछेगा कि भारतीय सामन्तवादी व्यवस्था में जब जाति 'पेशों' के रूप मे बदल गई थी तब क्या 'जातिवाद' के विरुद्ध बोलने का अर्थ यह नही था कि प्रचलित व्यवस्था मे अशांति फैले और बदले में मिले कुछ नही, क्योंकि मध्यकालीन सन्त या भक्त किसी नई सामाजिक व्यवस्था को देने नही आए थे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि यह सही है कि जाति पेशों के रूप मे बदल चुकी थी और इन पेशो का नाश इतिहास-विरुद्ध होता परन्तु भक्त लोग इन पेशों के नाशक नही थे, न व्यवस्था के संतुलन का नाश चाहते थे परन्तु वे उच्चवर्ग

1. Bullabhacharya—Mauilal c. Parekh

द्वारा जो व्यर्थ के जातिगत अहंकार का प्रचार देखते थे और साथ ही अनेक जातियों में जो भेदभाव बढ़ रहा था उसका कोई आर्थिक आधार न था। 'मैं इसलिए महान हूँ कि मैं ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं निरक्षर हूँ, परन्तु समाज का धर्म है कि वह मुझे पूज्य माने, मैं किसी के हाथ का भोजन नही कर सकता' यह प्रवृत्ति थी पुरोहितवर्ग में। क्या इस भावना से आर्थिक व्यवस्था मजबूत होती थी ? नही, तब इनका विरोध आवश्यक था, इसीलिए भक्त कहते थे कि जो प्रेम से हीन है, वह ज्ञान व्यर्थ है। यह स्मरणीय है कि सभी अभिमानी जातिवादी ब्राह्मण शंकराचार्य के मत को मानने लगे थे क्योंकि इससे वैदिक धर्म की—अर्थात् ब्राह्मणस्वार्थों की रक्षा होती थी। श्री पारीख ने लिखा है कि 'महाराष्ट्र के लोग अभिमानी व जातिवादी थे अतः शंकराचार्य की उन्होंने शरण ली थी।'"[1] काशी के प्रचंड संस्कृताभिमानी पंडितो ने तुलसीदास का भी अपमान किया था क्योंकि तुलसी भी भक्तिमार्गी थे। वल्लभ ने स्पष्ट कहा था कि ब्राह्मण के शरीर की पूजा नही है, गुणों की पूजा की गई है अतः ब्राह्मण-कर्मकाण्ड का दिखावा जनता में चल नही सकता, मानवीय गुणों से ही जनता मे आदर मिल सकता है, यह कह कर वल्लभ सामाजिक सम्मिलन की प्रक्रिया पूरी कर रहे थे—

It was not their (Brahman's) bodies but spirits which were worshipped by the people ....He (Vallabhacharya) then preached to them his gospel of Bhakti which made the Brahamans and lowest of the low alike in the eyes of God. [2]

वल्लभ की परीक्षा काशी के पंडितों ने ली थी कि यदि वल्लभ का उपदेश 'शुद्ध' है तो 'विश्वनाथ' आकाशवाणी करें। शीघ्र ही यह आकाशवाणी हुई—"जो कुछ भी वल्लभ ने कहा है, सत्य है, सत्य है और पुनः सत्य है, वल्लभ प्रामाणिक उपदेष्टा है, वह जो कुछ उपदेश देता है, वह सत्य है। उसका उपदेश शंकराचार्य के विरोध में प्रचारित होने दो।"[3]

जिस प्रकार "भ्रष्ट बौद्धों" के विरुद्ध शंकर का आन्दोलन प्रगतिशील था उसी प्रकार ' सामाजिक सम्मिलिन' के विरोधी वैदिक ब्राह्मणों के विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय प्रगतिशील था। शुक्ल जी ने इस तथ्य को नही देखा। वर्ग व वर्ण के विरुद्ध वल्लभ ने अपना आन्दोलन छेड़ा था और इसमें वल्लभ तुलसी से अपने 'अलौकिक लीलावाद' द्वारा अधिक सफल हुए थे। यह 'लीलावाद' मध्यकालीन वैष्णवों मे अन्य सबसे अधिक वर्णाश्रम धर्म का विरोधी था—

1. वही
2. वही
3. Vallabhacharya—M. C. Parekh.

Vallabha was the last of these Acharyas and as such, he went further then any other in his repudiation of the Varnashrama which went along with this Dharma as an integral Part thereof. This was a serious revolt against orthodoxy and since he unfurled his flag in Banaras, the centre of Brahmanism, it became all the more significant'····(this) path is as easy and attractive as much as possible.

वल्लभ व सूर का दोष था कि उन्होंने वर्ण, जाति, कर्मकाण्ड से ग्रसित उच्च-वर्ग के विरोध में एक सरल और तुलसीदास से अधिक 'आकर्षक' रास्ता बताया। पं. रामचन्द्र शुक्ल को वल्लभमत का आकर्षक रूप ही सबसे अधिक नापसद था परन्तु इस मत का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सरल और आकर्षक होना ही इतिहास के लिए अधिक उपयोगी था। यदि बाद मे इस सरलता और आकर्षण के कारण दोष आया तो वह स्वाभाविक था। रामसम्प्रदाय व कृष्ण सम्प्रदाय दोनों का अन्त 'सखी सम्प्रदाय' मे हुआ परन्तु वल्लभ व सूर ने जिस युग में कार्य किया, उसमें 'तुलसी' के सम्प्रदाय से अधिक सफलता वल्लभ मत को मिली, इसमें सन्देह नही। यह सही है कि कबीर, दादू, नानक आदि सन्तो व सिद्धों की तुलना में 'वल्लभ मत' हिन्दू संस्कारों की अपने ढंग से रक्षा चाहता था और वेद शास्त्र का विरोध उस सीमा तक नही करता था जिस सीमा तक 'सन्त' करते थे, तथापि वैष्णवाचार्यों में, चैतन्य व वल्लभ अन्यों से अधिक उदार थे, यह निश्चय है।

वल्लभ-सूरदास मत की दूसरी 'लोककल्याण-कारिता' का प्रमाण है संन्यास धर्म के समानान्तर गृहधर्म की गौरव वृद्धि। पारीख ने लिखा है कि इस मत का सार यह था कि गृहस्थो को गृहस्थ रहकर अपने हाथों व मस्तिष्क के श्रम से अपना निर्वाह करना चाहिए।[1] इस संदर्भ में वल्लभमत औघड़ो, अघोरियों, कापालिको से अधिक लोककल्याणकारक था क्योकि ये मत वर्णाश्रम धर्म के घोर विरोधी होने पर भी गार्हस्थिक सतुलन को बिगाड़ रहे थे। भ्रमरगीतसार में सूर ने सबसे कठोर प्रहार इन्ही गृहस्थ धर्म के विरोधियों—हठयोगी सिद्धो व औघड़ो आदि पर किए है। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और हम उनसे यहां पर सहमत है।

इसी गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए वल्लभ ने मन्दिरों के स्थान पर 'हवेलियों'

1. It was the essence of the new way that people should be householders and maintain themselves by the labour of their hands or brain. There was no room in it fo[illegible] sadhus.

का प्रचार किया। मुसलमानों की दृष्टि सबसे प्रथम मन्दिरों पर पड़ती थी। घरों की लूट का आदेश देने में मुसलमानों को सोच विचार करना पड़ता था। अतः घरों को ही मन्दिर बना दिया गया। घर के एक कमरे में ठाकुरजी की स्थापना और कीर्तन, बस यही साधना का स्वरूप था।

हम कह चुके हैं कि वल्लभ ने श्रीमद्भागवत् को आधार बनाया था। भागवत का सर्वप्रथम उल्लेख 454 ई. में एक जैनग्रन्थ में मिलता है।[1] रामानुज व शंकराचार्य ने भागवत को महत्त्व नहीं दिया। भागवत की रचना तमिल प्रदेश में हुई थी और इसमें सरलतम और आकर्षक प्रेमसाधना की स्थापना की गई है, इसमें सभी सम्प्रदायों में अविरोध स्थापित किया गया है, यह हम कह चुके हैं। तमिल देश में जातिवाद की कठोरता के कारण इस पुराण की रचना में 'भक्तिविह्वलता' व प्रेम का प्रचार अधिक किया गया है। वल्लभ ने उत्तरी भारत में इसी कार्य को आगे बढ़ाया था। बाललीला, किशोरलीला, प्रौढ़लीला व रासलीला हिन्दूधर्म के लिए ये नवीन तत्त्व थे। हरिवंश पुराण, विष्णुपुराण तथा भास के नाटक 'बालचरित' में केवल 'बाललीला' ही मिलती है। महाभारत का कृष्ण 'महान्' था, सामान्य जनता उसे देखकर चकित हो सकती थी, उससे रक्षा की प्रार्थना भी कर सकती थी (यह कहना गलत है कि सूर साहित्य में यह रक्षा की प्रार्थना कम है) परन्तु कार्य तो यह था कि कृष्ण प्रेम का विषय बन सके, सभी उससे प्यार कर सकें, वह आंगन में किलकता फिरे, वह प्रत्येक नारी के लिए कोमल वृत्तियों का आधार हो और प्रजा के लिए रक्षक राजा हो। वल्लभ ने ईश्वर को प्यार का विषय बनाया। कोमल भावनाओं में भी 'रति' भावना ही प्रबलतम है, यह घोर पाखण्डी भी हृदय से स्वीकार करता है अतः इस 'रतिभावना' का विषय कृष्ण को बना देने के कारण ही जनता ने उसे अपनाया। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र सब कृष्ण के प्रेम में बह गए।[2] तुलसी का राम महान और उच्च ही बना रहा, तुलसी ने बहुत कोशिश की किन्तु 'राम' कोमल भावनाओं के आश्रय न बन सके—इसीलिए कृष्ण ने सारे भारत को अपने प्रेम में लपेट लिया, सच्चे अर्थों में कृष्ण का धर्म जनता का धर्म था।

कृष्ण ने विष्णु पुराण में गोपों से कहा है—[illegible] मेरे कार्यों से लज्जित नहीं हो, अथवा तुम यदि मेरे कार्यों के [illegible] तुम यह क्यों पूछते हो कि [illegible] कौन हूं? यदि तुम मुझे प्यार करते हो [illegible]

---

1. पारीख ने इस जैनग्रन्थ का [illegible], यह भेद का विषय है। [illegible]
2. वल्लभ का चित्र [illegible] का आस्वाद लेने [illegible]

समझो। मैं ईश्वर नहीं हूँ। मैं तुम्हीं में से एक हूँ अतः मेरे बारे में इस प्रकार की कोई कल्पना मत करो।[1]

हम कह चुके है कि यह 'प्रेमलीला' मनुष्य की सामान्य भावनाओं को बदलने के लिए ही थी। वल्लभ का यह मत 'कातासम्मति' के समान है। उसमें गुरु उपदेश के समान दूरी नही है, निकटता है। इसीलिए भारतीय कल्पना को सबसे अधिक कृष्णभक्तो ने उत्तेजित किया है। सतों और तुलसी जैसे—विचारकों द्वारा साधना के लिए ही सही, 'नारी-निन्दा' अवश्य हुई है। तुलसी के ऐसे उद्धरणो को 'क्षेपक' मानकर हम अपना ही उपहास करते है क्योंकि ऐसे विचारक पं. रामचन्द्र शुक्ल की ही तरह अपनी रुचि के अनुसार इतिहास को देखते हैं। 'तुलसी में जो रुचिकर है वह असली और जो अरुचिकर है, वह 'क्षेपक' है'—यह सिद्धांत गलत है। वल्लभाचार्य ने स्त्री की महिमा पुनः प्रतिष्ठित की है। वल्लभ ने स्पष्ट कहा है कि होलीभरे ज्ञान और तपस्या से युक्त मनुष्य से नारी ईश्वर के अधिक निकट है।[2] नारी की आसक्ति को निम्नतम मानने वाले समाज मे वल्लभ व सूरदास ने उसी 'दाम्पत्यासक्ति' और 'परमविरहासक्ति' की 13 प्रकार की आसक्तियो में सबसे अधिक महत्त्व दिया था। गृह और समाज में उस समय सबसे अधिक आवश्यकता प्रेम की थी। वासना को प्रेम मे परिणत करने के लिए शुष्कवेदांती उपदेश से वल्लभ अधिक सफल हुए। वेदान्त में 'निषेधवाद' बहुत था। वल्लभ ने 'विभूति योग' और 'सरस प्रेमयोग' की शिक्षा दी। वल्लभ कहते थे कि 'कर्मकाण्ड, कलि-युग के लिये कठिन है अतः भगवान ने दया करके प्रेम मार्ग का उद्घाटन किया है अतः भगवान के ऐश्वर्य, वीर, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य इन गुणों की आराधना करो। शुक्ल जी जिसे 'शक्ति, शील, सौन्दर्य' की पूर्णता राम मे देखते है, वे कृष्ण मे विद्यमान है, 'शील' के स्वरूप मे अवश्य भिन्नता है। वल्लभमत में जो 'शील का पतन' देखा जाता है, वह केवल स्थूल दृष्टि से, साधना को मनोवैज्ञानिक बनाने के प्रयत्न में बाह्य नियमों की आलोचना आवश्यक थी अतः आंतरिक शील की रक्षा—प्रेम की पवित्र भावना की रक्षा, वल्लभमत मे भी मिलती है। यह 'प्रेम' अन्य किसी गुण की अपेक्षा नही करता। जाति, ज्ञान, धन, वर्ण, कर्म आदि की उच्चता के बिना भी प्रेम हो सकता है बल्कि जाति, ज्ञान आदि प्रेम मे बाधक ही है। तभी सूर कहते है कि 'प्रेम बध्यौ ससार-प्रेम सौं पारहिं जैए' अर्थात् जिससे संसार बँधा है, भाई, उसी के माध्यम से मुक्त होने का प्रयत्न करो, वाह्य प्रयत्न व्यर्थ है।' 'अध्यापक' की डांट-डपट का जैसे बच्चे पर प्रभाव नही पड़ता वैसे ही शास्त्र का

1. विष्णु पुराण—5–8
2. 'वल्लभाचार्य'—माणिकलाल परीख

प्रभाव व्यर्थ जा रहा था, तभी ऐतिहासिक परिस्थितियों ने वल्लभाचार्य द्वारा इस कवित्वपूर्ण मार्ग का उन्मेष कराया।

सामान्य जनता को सरल प्रेम-मार्ग की शिक्षा देने और विश्व के प्रत्येक कण-कण मे कृष्ण-विभूति के दर्शन करने के कारण वल्लभ और वल्लभ के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी को वैदिक ब्राह्मणों द्वारा कष्ट भी उठाने पड़े। वल्लभ और काशी के पंडितों की चर्चा हम कर चुके हैं। बाबर की मृत्यु के समय के आसपास वल्लभ की मृत्यु हुई। इसके बाद का समय अकबर द्वारा मुगलराज्य की दिग्विजय और उसे स्थिरता देने का समय था। मध्य भारत में विठ्ठलनाथ ने महारानी दुर्गावती की पराजय अकबर द्वारा अपनी आंखों से देखी थी और राजाओं के युद्धों से संतप्त जनता को देखकर मनुष्य की घृणा व द्वेष के लिए विट्ठल अत्यधिक दुखी थे। विठ्ठलनाथ जब मथुरा आए तो "ब्राह्मणों" ने उन्हें वहां से निकाल दिया और तब विट्ठलजी गोकुल मे विराजे। विट्ठल ने सम्भवतः चैतन्यमत के प्रभाव से "गोपीभाव" से उपासना पर अधिक बल दिया। इसमे 'राधाभाव' भी बढ़ा, परन्तु सूरदास ने राधा व कृष्ण का विवाह कराके "मर्यादा" की रक्षा की है। सर्वत्र सूर-साहित्य में 'राधा' को कृष्ण की पत्नी माना गया है। महाभारत के बाद कृष्ण कुरुक्षेत्र में जाकर गोपियों व राधा से मिलते हैं। यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो विट्ठल व सूरदास चैतन्यमत से, जिसमे 'परकीया भाव' स्वीकृत था, अधिक मर्यादावादी थे परन्तु, जैसा हमने कहा है कि यह दृष्टि उचित नहीं है। देखना यह चाहिए कि गोपभाव, गोपीभाव, यशोधरा, नन्द भाव अथवा अन्य किसी भाव से तात्कालिक समाज में कृष्णभक्तों ने जो आवेश भरा है, जो मानसिक परिस्थिति तैयार की है, *वह अकबर के समय में एकता के प्रयत्न में अत्यधिक सहायक हुई है।* कृष्ण धर्म की सहिष्णुता, सरलता और माधुर्य के कारण अकबर ने 1577 ई. में "विश्वास रक्षा" सम्बन्धी फर्मान जारी किया। इन सब फर्मानों का विवरण इस प्रकार है—

1. 1577 ई.—कृष्ण-भक्तों के विश्वास की रक्षा हो।
2. 1581 ई.—गाय चराने की आज्ञा।
3. 1588 ई.—कुछ गाव जागीर मे दिये।
4. 1593 ई.—सम्पत्ति की रक्षा हो। "गोस्वामी" उपाधि स्वीकृत।
5. 1633 ई.—शाहजहा द्वारा पुनर्स्वीकृति।
6. 1643 ई.—शाहजहां, द्वारा पुनर्स्वीकृति।
7. 1647 ई.—दारा शिकोह द्वारा स्वीकृति।
8. 1658 ई.—दारा शिकोह द्वारा स्वीकृति।

औरंगजेब के समय में कृष्ण-भक्तों के मंदिर तोड़े गए परन्तु यह

पुनः रक्षा का वचन दिया था। विट्ठलनाथ के समय अकबर 'श्रीनाथ' जी के मंदिर
मे आया करता था।

विट्ठलनाथ जी ने पूजा, हवेली, रासलीला व रथोत्सव आदि में बहुत वृद्धि की
तथा सभी वर्गों व जातियों के लोगों को शामिल किया। यहां तक कि भीलो को भी
शिष्य बनाया। गोकुल के गुसाईं, विट्ठलनाथ व गोकुलनाथ के समय "वेद-विरोधी"
कहलाते थे; क्योंकि श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक नही माना जाता था।

सन्यासियो का प्रभाव कुछ पढे लिखे लोगों पर पड़ता था और सो भी वे
संन्यासी "संसार असार है" यह शिक्षा देते थे। विट्ठलनाथ ने जो "रासधारी"
तैयार किए थे वे सूरदास-कृष्णदास आदि के पद गाते थे और दूर-दूर तक यात्रा कर
कृष्णलीला करते थे। अष्टछाप कवियो के पदो की प्रेम-विह्वलता ने जनता मे
सरसता और सौहार्द का वातावरण उत्पन्न किया जो उस समय बहुत बड़ी चीज
थी। मुल्लाओं और पंडितों के समानान्तर रखकर इस लोकधर्म के प्रभाव व प्रसार
की जरा कल्पना कीजिए तो इसके सामाजिक योगदान का पता चल जाएगा। मथुरा
को केन्द्र बनाकर मेवाड़, मारवाड़, मालवा, गुजरात, उत्तर-प्रदेश और बंगाल ही
नही, दक्षिण में विजय नगर तक 'कृष्ण-काव्य' ने युद्धों की भभकती ज्वाला को
अपने धार्मिक द्वेष की आहुति से धधकाने वाले हृदयो को नरम किया। कट्टरता और
कटुता के विरुद्ध उस समय सहिष्णुता और सरसता के प्रसार में कृष्ण-धर्म को
राममार्ग से अधिक सफलता मिली है। संगीत, रास और ललित भावों से छलकते
पदो ने विजेताओं को भी मोहित किया और साथ ही वैदिक ब्राह्मणो व सामान्य
जनता के बीच जो दूरी बढ़ रही थी, उसे भी कम किया। हम कह चुके है कि मुगल
दरबारों की ओर बढ़ती हुई जनता के लिए ठाकुर जी के दरबारो का आकर्षण
अधिक प्रभावशाली लगा और कुंभनदास ने तो स्पष्ट कहा ही है कि संतो को सीकरी
से क्या मतलब? जिन लोगो के देखने से दुःख उत्पन्न होता है, उन्हें सलाम करनी
पड़ती है और व्यर्थ ही आने जाने मे 'पनहियां' टूट जाती है। क्या जनता में यह
विश्वास उत्पन्न करने वाला मत असामाजिक था? लोकधर्म किसे कहते हैं? लोक
का कल्याण चाहे जैसे हो, जिस पद्धति पर हो, पर ध्येय वही है, लोक के इस
कल्याण में कृष्णभक्तों ने कम काम नहीं किया।

पारीख ने लिखा है कि गुजरात में वल्लभ मत के पूर्व जैनियों ने उदारता
लाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। बाद मे जैनमत को भी वैष्णवों ने उदार
बनाया। 'महाजन' नामक जैन सम्प्रदाय की सदस्यता प्रत्येक निम्न जाति को मिलने
लगी। पारीख के अनुसार गुजरात में हिन्दू-मुस्लिम समस्या ही नही है जैसा कि
युक्तप्रान्त में रहा है।

एक सामान्य संस्कृति का जन्म हुआ, आप इसे 'राष्ट्रीय-संस्कृति' भी कह
सकते हैं। व्यापारी वर्ग में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक दिखाई पड़ती है क्योंकि

व्यापार सहयोग व शांति पर आधारित हैं और वैष्णव धर्म इस शांति का प्रसारक था।

राजपूतों में सती-प्रथा का भयंकर प्रचार था। वैष्णव-धर्म ने नारी को गौरव दिया था अतः विरह में तड़पते रहने को सती हो जाने से अधिक पवित्र माना जाने लगा। 'यह विरहासक्ति का सामाजिक प्रभाव ही था कि मीरा सती नहीं हुई थी। वस्तुतः वैष्णव मत और उनमें भी चैतन्य व वल्लभ का मत नारी-भाव पर आधारित धर्म था अतः जहां जहां इसका प्रचार हुआ, नारियों का सम्मान बढ़ा, यद्यपि सामंती व्यवस्था में उन्हें स्वतंत्रता नहीं मिल सकती थी परन्तु 'मीरा' के पदों व सूरदास के भ्रमरगीत के पदों में "नारी की वेदना" ही अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनित हुई। वह एक ओर जहां भक्त की आर्त आत्मा का नित्य रोदन है वहीं वह सामन्तकालीन नारी की विपण्ण दशा का चीत्कार भी है। जिसे शुक्ल जी कल्पना की क्रीड़ा कहते है, उसी कल्पना के द्वारा और अलौकिक विरह द्वारा तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था में छटपटाती नारी के सिसकते स्वर भी साफ सुनाई पड़ते हैं, और यह सिसक इसी धरती की है।[1]

वल्लभ मत ने इस्लाम के समानान्तर सामूहिक रूप से पूजा-पाठ और कीर्तन का प्रचार किया इससे सामाजिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में बड़ी सहायता मिली

भ्रमरगीत के अनेक पदों में सामंतवादी व्यवस्था बहुविवाह-पद्धति के अभ्यासी पुरुष के प्रति नारी की शिकायत की गई है।

---

1. (अ) अपने स्वारथ को सब कोऊ,
चुप करि रहौ, मधुप रस लंपट, तुम देखे अरु वोऊ।
(ब) वे तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
(स) रे सठ, कुटिल बचन, रस लंपट, अबलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देन लेन हौ, विरह अनल तन दाहि॥
(द) ऊधो! लहनो अपनो पैए।
जो कछु विधना रची सो भइए, आन दोष न लगैए।
कुब्जा वर पावें मोहन सो, हमहीं जोग बतैए॥
(घ) धासो घेरि रहे हरि! तुम ह्वाँ, गढ़ि, गढ़ि बात बनाई।
(न) जहँ जहँ रहो, राज करौ तहँ तहँ, कोटि राज सिर भार।
(प) ऊधो! अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदलिसे गे वे, माधव मधुप तिहारे।
(फ) मधुकर! आवत यहै परेखो।
जब बारे तब आस बड़े की, बड़े भए सो देखो!

यज्ञ मे शूद्र क्या वैश्य तक को प्रवेश का अधिकार न था, परन्तु वैष्णवधर्म मे राज, पडित, शूद्र और यवन एक साथ बैठकर कीर्तन कर सकते थे, कथा श्रवण कर सकते थे।

वल्लभीय मत के प्रभाव से संगीत व चित्रकला व काव्य में जो उन्नति हुई वह अवर्णनीय है। संगीत व साहित्य की मधुरता ने तथा कृष्ण के मधुर रूपों व लीलाओ की कल्पना से न जाने कितनी 'ताज' जैसी 'यवन' नारियां सुथनियाँ छोड़ कर घाघरा पहनने को तैयार हो गईं, न जाने कितने 'खान' रसखान बन गए? और सुथनियां जिन्होंने नही छोड़ी, उन 'उस्तादो' ने संगीत मे कृष्ण-मत के गीतों को ही राग-रागिनी में बांधा, तानसेन इसके प्रमाण है। क्या 'रामसम्प्रदाय' को यह गौरव प्राप्त हुआ है?

वल्लभमत एक भावात्मक आन्दोलन था। धर्म तो एक आवरण मात्र है, वस्तुतः धर्म व सम्प्रदाय के माध्यम से वैष्णव आचार्यों व सूर जैसे कवियों ने अत्याचारियों के अत्याचार तथा कट्टर, धर्मान्ध मुल्ला-पंडितवर्ग के विरुद्ध सहिष्णुता, शांति व प्रेम का एक आन्दोलन ही चलाया था। इस आन्दोलन से लोक-कल्याण की सबसे आवश्यक शर्त केवल 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता' स्थापित करने में ही मदद नहीं मिली अपितु, स्वयं हिन्दू समाज में आपस के भेदभाव भी कम हुए। ये सारे भेदभाव उस समय जीवन के प्रत्येक व्यावहारिक क्षेत्र में बाधक थे क्योंकि देश मे न तो मुसलमान केवल विजेता बनकर रह सकता था और न हिन्दू केवल दूर से तमाशा देखते रह सकते थे। फिर जिस समाज को आज हम 'हिन्दू' कहते है, उसके लिए जिस मिलन की आवश्यकता थी, वह मिलन अर्थात आपस के शैव, शाक्त, वैष्णव आदि मतो के विरोधो का शमन भी आवश्यक था। वल्लभ मत ने इस क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य किया है। जहाँ शिवशंकर बाल-कृष्ण की 'दूध के दँतियाँ' देखने जोगी बनकर माता जसोदा की देहरी पर पहुँचते है, वहां शैवो, वैष्णवो मे द्वन्द्व कैसे बना रहता है? परन्तु इतना सब होने पर भी आचार्य शुक्ल को 'सूरदास' मे बहुत कम सामाजिक तत्व मिले, आश्चर्य है!

कोई विचार, सिद्धान्त, पद्धति या सम्प्रदाय अपने मे महत्वपूर्ण है या किसी विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति मे उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता होती है? शुक्ल जी के सम्मुख इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नही था। कोई भी विचार अपने मे महत्वपूर्ण या अमहत्वपूर्ण नही होता उसे किसी विशेष सन्दर्भ मे ही रखकर देखा जाना चाहिये। इसीलिए कहा गया है कि सत्य अमूर्त्त नही होता, वह सर्वदा मूर्त्त होता है। यथार्थ परिस्थितियो मे सहायता करने वाला कोई भी विचार, सिद्धान्त या सम्प्रदाय चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, इतिहास के अनुकूल होता है, अतः सामाजिक व प्रगतिशील होता है। क्या तुलसी के आदर्श आज मान्य हो सकते हैं? शुक्ल जी को वह मान्य थे, बहुत से पुराणपंथियों को आज भी वे यथावत् मान्य

होंगे, परन्तु परिवार-प्रथा के टूटते समय राजा के अस्तित्व के ही नाश हो जाने पर या व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाश हो जाने पर क्या तुलसी के आदर्श रह सकेंगे ? नहीं, परन्तु जिस प्रकार तुलसी के आदर्श अपने समय के सामन्तों, राजाओं और प्रजाओं को प्रेरित करने में सफल रहे, वहीं सूरदास के साहित्य में वर्णित कृष्ण की आध्यात्मिक, अलौकिक, एकान्तिक मधुर लीला आज के यथार्थवादी युग में मान्य न होने पर भी अपने समय के सांस्कृतिक आदान-प्रदान में सामाजिक रूप से जनता को निकट लाने में और व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन को प्रेम से ओत-प्रोत कर देने में सफल रही है।

इस सामाजिक कार्य के लिए वल्लभ व सूरदास आदि ने एक सिद्धांत निकाला जो शुद्धाद्वैत कहलाता है। मूर्ति को साक्षात् ब्रह्म बनाकर एक विशिष्ट पूजा-पद्धति चलाई गई और भ्रमक्ति को माध्यम बनाकर मधुर उपासना प्रारम्भ की गई। इस उपासना में तुलसी जैसा मर्यादावाद न होने पर भी, यह उपासना बंगाल से लेकर गुजरात तक और उत्तर प्रदेश से विजयनगर और महाराष्ट्र तक सारे भारत में सामाजिक समीकरण के कार्य में तुलसी से अधिक सफल हुई है।

जो कार्य सूफियों ने कर दिखाया, वही कार्य कृष्णभक्तों ने किया। दोनों में अलौकिकतावाद व अमर्यादावाद है; यों शुक्ल जी ने जायसी के पद्मावत में 'लोक-संग्रह' खोज लिया है परन्तु जायसी की 'प्रेम की पीर और पुकार' का प्रभाव अधिक पड़ा है, इसी बात का कम कि प्रेम का आदर्श हिन्दू शास्त्रों के अनुसार है या यवन शास्त्रों के अनुसार मनुष्य भाव को देखता है, बाह्य बातों पर वह ध्यान नहीं देता अतः जिस प्रेममय वातावरण की सृष्टि सूफियों द्वारा की जा रही थी, वही कार्य वल्लभ के मत ने अपने ढंग से किया है। सूरदास के प्रेम की अलौकिकता वस्तुतः आवरणमात्र है, लोक में प्रेम की प्रतिष्ठा ही उसका उद्देश्य है और यह कार्य लोकधर्म का ही एक अंग है। उसमें प्रयत्न व संघर्ष न हो, यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संघर्षरहित और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों से रहित होने पर भी कृष्ण-साहित्य ने भारतवर्ष में प्रेम की प्रतिष्ठा करने में तुलसी से अधिक सफलता पाई है और यह प्रेम व्यावहारिक जीवन की यथार्थ आवश्यकता थी इसीलिए वह सभी जातियों द्वारा स्वीकृत हुआ। अलगाव का उपदेश देने वाले अलग पड़ते गए और कृष्ण की बाँसुरी की तान सुनने वालों में तन्मयता इतनी बढ़ गई कि हिन्दू और मुसलमान एक साथ पुकार उठे—

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुंजन की छाँहीं॥
वह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत, तनु नाहीं॥

मथुरा अर्थात् दिल्ली, आगरा आदि के शहरियों में भी लोक-जीवन, ग्रामीण जनता और धरती से यह प्यार उत्पन्न करने वाला कृष्ण-साहित्य क्या एकांतिक आंदोलन था? अथवा क्या 'सिद्धावस्था' और 'साधनावस्था' का विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि से कृत्रिम नहीं है?

ऐतिहासिक दृष्टि से परम आवश्यक केन्द्रीय सामंतवादी व्यवस्था के सुचारु रूप से चलने में यदि साध्यावस्था का साहित्य प्रेरक बनता है तो यह साध्यावस्था दार्शनिक दृष्टि से चाहे सही हो या गलत, धार्मिक दृष्टि से वह मर्यादावादिनी हो या अमर्यादावादिनी, ऐतिहासिक दृष्टि से 'प्रगतिशील' होती है। किन्तु जिन्हे इतिहास की गति नहीं देखनी है, कुछ पूर्व निश्चित विचारों की सब परिस्थितियों और सब कालों में रक्षा ही जिनका उद्देश्य है वे अपने पूर्वाग्रहों के कारण ही साध्यावस्था या सिद्धावस्था का विभाजन करते हैं। अकबर के शासन के समय वह प्रत्येक विचार, प्रेरणा, विश्वास प्रगतिशील है जो जनता की विभिन्न परस्पर विरोधी जातियों और कबीलों को निकटतर लाकर, एक जाति या नेशन के निर्माण में सहायता देता है। इस तथ्य को नजरअन्दाज़ न करने वाले विचारक इस प्रकार का विभाजन नहीं करेंगे कि उस युग में 'कौन' 'हवाई' बातें करता है और कौन 'यहाँ' की चर्चा करता है, बल्कि वह ऐसा विभाजन करेंगे कि अनेक विदेशी कबीलों, जातियों व इस देश के विभिन्न कबीलों, जातियों और उपजातियों को एक जाति में परिवर्तन करने के प्रयत्न में जो भी विश्वास, विचार या भाव सहायक हैं, वह तो हुए प्रगतिशील; और जो इसके विरोधी है वे है प्रतिक्रियावादी, यही विभाजन शुद्ध है। सूफी, वैष्णव व सन्त, प्रगतिवादी परम्परा में आते हैं और मुल्ला व पंडितवर्ग दूसरी श्रेणी में। इस विभाजन में 'अतिव्याप्ति' दोष से बचने के लिए यह भी देखना होगा कि सन्तो, वैष्णवों व सूफियों में कौन-कौन तत्व ऐसे हैं जो ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुकूल हैं और कौन-कौन तत्त्व इसके विरोधी अर्थात् प्रतिक्रियावादी हैं। उदाहरण के लिए तुलसी में वर्णाश्रमधर्मवाद प्रतिक्रियावादी है, क्योंकि इससे हिन्दुओं के अपने शिविर में भी एकता का नाश होता है और कृषि, व्यापार, नौकरी आदि सभी क्षेत्रों में काम करने वाले ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पुनः पुराने सांचे में नहीं कसा जा सकता था, किन्तु साथ ही तुलसी में भक्तितत्व अर्थात् प्रेमतत्त्व तथा प्रेरणाप्रद आदर्शों की स्थापना आदि तत्त्व प्रगतिशील हैं। कृष्णभक्तों में वर्णाश्रमधर्म की उतनी चिन्ता नहीं थी और प्रेमतत्त्व अधिक व्यापक था अतः कृष्णभक्तों की आकर्षक प्रेमसाधना एक प्रगतिशील कदम है, परन्तु वल्लभाचार्य व विट्ठलनाथ जी के यहां 'मर्यादावाद' का विरोध होने पर भी सन्तों की तरह शास्त्र, यज्ञ, जातिवाद से पूर्ण स्वच्छन्दता नहीं है, अतः उस सीमा तक सन्त कवि वैष्णवों से अधिक प्रगतिशील हैं। वैष्णवों को वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक ही माना जाता था,

सन्तों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती थी। इसी प्रकार मुल्लावर्ग जो शासकों द्वारा इतिहासविरुद्ध कार्य केवल कुरान के आदेशपालन के नाम पर कराया करता था, पीड़ितों व शोषितों का साथ देने वाले और प्राचीन शास्त्रों की उदार व्याख्या करने वाले सहिष्णु पंडितों की तुलना में घोर प्रतिक्रियावादी था। अतः पंडितवर्ग पर विचार करते समय भी सावधान रहना चाहिये, सभी पुरोहित व पंडित एक ही श्रेणी में नहीं पटके जा सकते, उनमें भी प्रगतिशील तत्त्व तब स्पष्ट दिखाई पड़ते है जब उनकी तुलना प्राचीन स्मृतिव्याख्याकारों से की जाती है। 10वी शताब्दी के बाद के पंडितों ने अनावश्यक संकीर्णता की रक्षा करते हुए, समय की आवश्यकता को भी पहचाना है और वैदिक धर्म की पुनर्व्याख्या मे सर्वत्र जड़ता का प्रदर्शन नहीं किया है।



7 सन्त-कवि चरणदास-भूमिका : प्रासंगिकता

"धार्मिक दुःखानुभूति की अभिव्यक्ति मात्र धार्मिक नहीं होती वह वास्तविक जीवन के दुःखों की अनुभूति की अभिव्यक्ति भी होती है। धर्म दमितः दुःखी व्यक्ति की आह है; उसमें हृदयहीन मानव संसार का हृदय व्यक्त होता है, उसी तरह, जिस तरह आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा धर्म में व्यक्त होती है। धर्म, जनता के लिए अफीम है।"[1]

कार्लमार्क्स के इस उद्धरण में से प्रायः अन्तिम वाक्य सूत्र की तरह उद्धृत कर, यांत्रिक भौतिकवादी विचारक यह दिखाते है कि धर्म मात्र अफीम है क्योंकि वह यथार्थ से काटकर हमें फंतासी और क्रमहीन मनमानी कल्पनाओं में मग्न कर देता है और अपने समय के सत्य और संवेदन को पहचानने नहीं देता।

किन्तु 'धर्म' पर मार्क्स का पूरा वक्तव्य पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि धर्ममात्र यथार्थ से पलायन या यथार्थजन्य दंश को भुलाने वाली दवा (अफीम) नहीं है बल्कि धर्म, मनुष्य के वास्तविक जीवन के दुःखो द्वन्द्वों को व्यक्त करने का एक माध्यम भी है। वह अफीम ही नहीं, आह भी है, आत्महीन वातावरण में धर्म मानवात्मा की सहृदयता भी है, दर्द की दवा भी है। नारकीय परिस्थितियों में पूर्णता का स्वप्न और आनन्द है।

इस दृष्टि से भक्ति और साधनात्मक कविता, मनुष्य के वास्तविक वैयक्तिक-सामाजिक दुखोः सुखों की दस्तावेज है, उसमें मानवात्मा या मानवचेतना का मात्र पलायन या विस्मृति मे विभ्रमण नहीं है अपितु प्रतिकूल परिस्थितियो में छटपटाती मानव सहृदयता का उच्छ्वास भी है, ललितकल्पना का सुख-विलास भी है।

भक्ति साधना के विकास में दक्षिण मे आड़वार:नायनमार सन्तों की बाणियों में, भारतीय समाज के पीड़ित निम्न समुदायों की आह और उच्छ्वास था और निम्नजातियो या वर्गों के भावुकभक्तो ने, ईश्वर के प्रति संलग्नता के माध्यम से उसकी लीला में प्रवेश और प्रपत्ति चाही है ताकि वे वास्तविक और मूर्त तकलीफों :

1. कार्ल मार्क्स

न्याय और ममत्वहीन, सशक्त समुदायों के उत्पीड़न और भेदभाव से बच कर मुक्त महसूस कर सकें।

महाराष्ट्र में भक्त कवियों को, उस समय के सनातनी वैदिक परम्पराभिमानी ब्राह्मणों द्वारा अकथनीय कष्ट उठाने पड़े और निम्न जातियों को नीची निगाह से देखने वाली उच्च जातियों की महमन्यता का सामना करना पड़ा। इसके विरुद्ध महाराष्ट्र में 12वीं शताब्दी से, कृष्णभक्ति के माध्यम से, भावात्मक प्रतिक्रिया हुई। महानुभाव सम्प्रदाय का या मनभाव आन्दोलन का नेतृत्व श्री चक्रधर ने किया। इसमें काले कपड़ों का पहनना, जाति व्यवस्था का पूर्ण निषेध, वंशगत उपसमुदायों में संगठित होना, सरल रीतिरिवाजों का आविष्कार आदि प्रवृत्तियाँ थीं जो ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था के समानान्तर एक समसमाज बनाने की कोशिश थी।

इसी तरह महाराष्ट्र में दूसरा आन्दोलन सन्त ज्ञानेश्वर का था। इसमें एकनाथ ने ब्राह्मण होने पर भी जातिविरोधी भक्ति परम्परा का समर्थन किया, ज्ञानेश्वरी टीका लिखी और 16वीं शताब्दी में जाति से कुनबी किसान और साधारण दुकानदार श्री तुकाराम ने, भक्तिगायन द्वारा उच्च जातियों के पक्षपातों को सहा और अन्त में आत्महनन किया।

इसी परम्परा में, उत्तर भारत में निर्गुण और सगुण आन्दोलन चले, जिनमें निर्गुण-भक्ति के कवियों और साधकों ने, अपनी साधनात्मकः रहस्यात्मक अनुभूतियों की मस्ती और मौज में, ब्राह्मण और मुल्ला द्वारा पवित्रीकृत, सामाजिक व्यवस्था का सम्पूर्ण विरोध किया जबकि सगुणभक्ति कवियों, तुलसी-सूर आदि ने, भक्ति के क्षेत्र में जातिवैषम्य और बन्धन को शिथिल किया और सर्वसाधारण वर्गों के लिए भक्ति तथा मुक्ति के द्वार खोल दिये।

दरअसल, यह सामन्ती सामाजिक-व्यवस्था का विरोध था जो रहस्यवाद, रूढ़िभंजन, पाखण्ड खण्डन तथा ब्राह्मचारों के विरुद्ध विद्रोह का रूप लेता गया। इसीलिए निम्नजातियों, वर्गों से उभर कर आए भक्तों-साधकों को जनात्मा के संरक्षकों के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार भक्तिधर्मसाधना को जीवनध्येय मानने वाले कवि और योग-साधक, सामाजिक असन्तोषजन्य वेदना को ही प्रकट कर रहे थे।

इसी प्रवाह में सन्त चरणदास जी के आन्दोलन या सम्प्रदाय को समझा जा सकता है।

श्री चरणदास जी का समय 1703 ई. से 1782 ई. की अवधि

1712 ई. में मुहम्मदशाह रंगीला बादशाह बना। 1739 में नादिरशाह का हमला हुआ। 1744, 1751, 1756 तथा 1759 में अहमदशाह अब्दाली ने मुगल साम्राज्य और समाज को जड़मूल से हिला दिया। 1761 में मराठों की हार से विदेशी आतंक और उत्पीड़न अपरिमित हो गया और विलास, शोषण, दमन और कलह से आक्रान्त भारतीय शासक वर्ग पतनोन्मुख हो गया।

इस कठिन समय में सन्त चरणदास ने नादिरशाह का उत्पीड़न झेला, उसे प्रबोध भी और संन्यासपरक शांतिवाद के पथ पर चलकर, आक्रान्त और आक्रान्ता समुदायों को मानव-प्रेम, शान्ति, सहिष्णुता और ईश्वर भक्ति का पाठ पढ़ाया।

सन्त चरणदास ने पलटू साहब, जगजीवनदास, दरियासाहब, कबीर तथा गुरु नानक के सदृश धार्मिक ग्रन्थों के स्थान पर, गुरु को विशेष महत्व दिया और नाम-महिमा को स्थापित किया। गुरु और हरिनाम, ये दो बिन्दु, सन्त चरणदास के सम्प्रदाय मे सन्त साधकों की परम्परा से आए है और भक्ति वैष्णव परम्परा से। इसी प्रकार योग परम्परा से, चरणदास जी ने अष्टांगयोग और विशेषकर स्वरोदय नाद योग को ग्रहण कर, उसका विशेष विकास किया और भक्ति और योग साधना के इस संयोग से चरणदासी-सम्प्रदाय को विशिष्टता प्राप्त हुई।

सन्त चरणदास की साधना की यह भी विशेषता है कि उसमें हठयोग को चित्तशुद्धि और कायाशुद्धि का साधन मानकर उसे भक्ति के लिए प्रस्थान सूत्र की तरह माना गया है और योगज चित्तसंस्कार के बाद राधाकृष्ण की प्रेमाभक्ति का अवलम्बन किया गया है। वल्लभ सम्प्रदाय में हठयोग का विरोध है, तुलसी में भी हठयोगियों पर प्रहार किये गये है किन्तु चरणदासजी के सम्प्रदाय में आकर हठयोग और भक्ति का और वह भी प्रेमाभक्ति का विरोध समाप्त कर दिया गया है। भागवतपुराण में वर्णित कृष्णलीलाओं को चरणदासजी ने यथावत् अपनाया है किन्तु हठयोग को मधुरलीला प्रवेश के लिए आवश्यक माना है क्योंकि योग के बिना काया-साधना अधूरी रहती है।

इस प्रकार चरणदास-सम्प्रदाय में भक्ति और योग के समन्वय से, निर्गुण-सगुण भक्ति का द्वन्द्व भी समाप्त हो गया है। शायद यही कारण है कि अपनी समन्वयी दृष्टि और पंथ के कारण सन्त चरणदास मे नैतिक पवित्रता, अनुभूति की निविड़ता और रहस्यमयता के बावजूद, कबीर जैसी क्रान्ति कारिता नहीं है। सन्त चरणदास मे खण्डन की प्रचण्डता कम है। आराध्य के प्रति तन्मयता अधिक है।

सन्त चरणदास सम्प्रदाय के व्यावहारिक पक्ष की विशेषता यह भी है कि वह नैतिक पक्ष पर बहुत बल देता है। उसके दस निषेधों में, मिथ्याभाषण, विलास-भोग, कठोरता, वाचालता, चौर्य, हिंसा, घृणा, ईर्ष्या, अभिमान और प्रपन्च आदि का निषेध है। इस सन्दर्भ में सन्त चरणदास स्वधर्म या जाति के अनुसरण पर भी बल

देते हैं। इस व्यावहारिक धर्म की धारणा में कबीर की तुलना में चरणदास जी, परम्परावादी ठहरते हैं।[1] तथापि सन्त चरणदास, अपनी दृष्टि साधना और व्यवहार में इतनी ऊँची मनोभूमि उपलब्ध कर चुके थे कि उनका प्रभाव सभी पर पड़ता था और वे एक चमत्कारी-सन्त के रूप में प्रसिद्ध हो गए थे। उन्होंने अनेकों का पथ-प्रदर्शन किया था जिनमें आक्रान्ता नादिरशाह का नाम भी आता है।

सन्त चरणदास और उनके सम्प्रदाय का महत्व कविता की दृष्टि में भी है। सन्त चरणदास के भक्तिसागर में 310 शब्द या स्तुतियाँ और पद हैं। इसके सिवा सैकड़ों पद और चौपाइयाँ है, जिनमें हरिलीला का विशद वर्णन है, इनमें 'कुरुक्षेत्रलीला' तथा नासिकेतोपाख्यान भी है।

सन्त चरणदास के शब्दों और लीलाविषयक रचनाओं में एक पारदर्शिता है, जटिल और संकुल साधनात्मक अनुभवों को इतनी निर्मल अभिव्यक्ति देना इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि सन्त कवि भाषिक संरचना की चिन्ता न कर, अनुभव और बोध को सहज-कविता का विषय बनाते थे। यही कारण है कि सन्त चरणदास की काव्यभाषा, साधुओं-सन्तों की भाषा होने पर भी, वह उस सधुक्कड़ी भाषा से भिन्न है जो कबीर-नानक-दादू आदि में मिलती है।

सन्त चरणदास कथ्य को सम्प्रेषित करने के लिए मुक्त होकर भाषा का प्रयोग करते हैं। 18वीं शताब्दी में खड़ी बोली की क्रियाओं का प्रयोग रेखता या उर्दू में हो रहा था। चरणदास जी ब्रजभाषा के बीच इन क्रियाओं का प्रयोग करते दीखते हैं—

"ओछी बुद्धि मनुज की होगी,
सकल विकल अरु मन के रोगी।
(ब्रजचरित्र वर्णन)
कबहूँ चितवें द्रव्य चुराऊँ, वाका धन अपने घर लाऊँ
× × ×
फरजन्द -नन्द जू का, दिल बीच आँवदा।
वह साँवरा सलोना, महबूब यार मस्त
आहिस्त लटका चाल, मटक, मेरे आँवदा।
कुण्डल झलकते हैं दर, हर दो गोश में
आवाज बाँसुरी की, शोरी बजाँव दा।

भाषा की यह लीला सन्त चरणदास में अनेक रूप धारण करती है। प्रबोध के प्रसंगो में यह काव्यभाषा बोलचाल के निकट रहती है और किसी भी शब्द

1. सन्त चरणदास भी भक्ति के क्षेत्र में जाति नहीं मानते थे—
बहुतक सुर नर तरि गये, तप कर ब्रज के बीच।
जाति-पाँति को को गिने, ऊँचा, नीचा, नीच॥

का प्रयोग कर लेती है बशर्ते कि उससे श्रोता या पाठक बात समझ जाये। स्वभावतः सन्त चरणदास ने शास्त्रज्ञ होने पर भी, तद्भव-शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। वह प्रचलित शब्दों का ही इस्तेमाल करना चाहते हैं, स्वनिर्मित या शास्त्रीय शब्दों से बचते हैं। यह भाषा के तानाशाह तो नहीं पर लीलाधर अवश्य हैं।

स्तुति या महात्म्य के प्रसंगो मे यह सन्त कवि संस्कृत शब्द संरचना से क लेता है [1] तो उपदेश के संदर्भों में वह वार्तालापात्मक हो जाता है।[2] जहाँ योगज प्रत्यक्ष है वहाँ कवि फंतासी परक होकर गूँजते शब्दों तथा ध्वनियों क प्रयोग करता है। वस्तुत ऐसे ही स्थलों मे कविता गूढ़, व्यंजक और आंतरिक ह जाती है।[3] इसी प्रकार आराध्य के विरह और संयोग मे भी सन्त कवि में नवो- न्मेष होते हैं।

"मुख पियरो सूखे अधर,
आँखें खरी उदास।
आह जु निकसे दुःख भरी,
गहरे लेत उसास।

इस प्रकार की कसी हुई भाषिक संरचना की अनेक अनुभूति प्रवण कवि- ताएँ 'सन्त चरणदास के 'भक्तिसागर', में है। हमारा कर्तव्य यह है कि विशेष अध्ययनों द्वारा भक्तिसागर की साधारण तरंगों में से, असाधारण या प्रभावक कवितात्मक विन्यासों को अलगाया जाये और उनकी विवेचना हो अन्यथा सन्त चरणदास धर्म और साधना के प्रचारक मात्र बने रहेंगे। वे साहित्य की दृष्टि से मात्र उपदेशक ही माने जाते रहेंगे जबकि सन्त चरणदास, मात्र उपदेशक नहीं हैं। वे अपनी अनुभूतियों में बहुत गहरे गए थे और उन्हें बात को कहना ही नहीं, उसे पाठकों, श्रोताओं मे उतारना भी आता था।

सन्त कवियों की सहज कविता से हमारे जननिष्ठ कवि आज भी सीख सकते है और दुरूहता से बच सकते है। अपने परिवेश से परिचित चीजों को उठाकर बिम्ब खड़े करना तो कोई सन्तों से समझे--

---

1. मुकुट जटित शिर अधिक विराजत,
गहे बंसुरिया अधर चरणाम्
शंख, चक्र, गदा पद्म विराजत
कोटि मदन की छवि वरणाम्
2. "शनई शनई ताहि चढ़ावे, चक्कर चक्कर में पहुंचावे
भ्रू चक्कर के ऊपर ताहि, ब्रह्मरंध्र के लावे वाई।"
3. "बादर की सी गरज दद्‌दव दहन्द है।"

"पारा मारा न मरे, गन्धक होय न तेल,
केते पचि पचि मरि गये, शिर में मिट्टी मेल।
× × ×
चमकत बिजुली, गरजत गगना, बाजत अनहद घोर।

सन्त चरणदास, सर्वातीत–अतिक्रमण (ट्रान्सेन्डेन्स) के बल पर भक्ति और योग के अकथ्य अनुभवों और भावनाओं को इतने सहज ढंग से कह जाते हैं कि आश्चर्य होता है। आपाततः उनकी कविता-कला की ओर ध्यान नहीं जाता। सहज-कला की विशेषता ही यह है कि वह कथ्य के संवेग या प्रवाह में स्वयं अपना रूप उपलब्ध करती है। मनोगति जलधारा की तरह स्वतः अपना शब्द-मार्ग खोज लेती है।

सर्वातीतता या ट्रान्सेन्डेन्स में बाह्य परिदृश्यमान् जगत् आंतरिक चेतना आलोक से स्नात होकर, विस्मयकारक और अपूर्व लगने लगता है अतः जिस वृन्दा-वनधाम की कृष्णलीलाओं का भक्ति सागर में वर्णन है वे—स्वयं प्रकाश्यज्ञानात्मक होने से अलौकिक सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं—

"जगत दृष्टि सों रहै अलोपा,
मिलि है ताहि ध्यान जिन रोपा।
मथुरा मण्डल परगट नाहीं,
परगट है सो मथुरा नाहीं॥"

प्रत्यक्ष का मात्र यहाँ अलौकिकीकरण नहीं है अपितु यहाँ [illegible] और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरीकरण है और फिर उस आंतरिकीकृत [illegible] है अतएव बाहरी और भीतरी का द्वन्द्व समाप्त होकर एक [illegible] होती है, उसमें मनुष्य के आत्मगत-अ-लगाव (स्रो[illegible]) [illegible] और दंश नष्ट हो जाता है और सर्वत्र एक [illegible] का एक तिलिस्म बन जाता है जिसमें विचरने से [illegible] भव्य संसार उपजता है। साधना या अन्तर्मु[illegible] जाती है।

"चारि बरण सौं हरिजन ऊँचे,
भये पवित्तर हरि के सुमिरे,
तन के उज्ज्वल मन के सूचे।"

इस प्रकार 'हरिजन समाज' की परिकल्पना वर्णव्यवस्था की परिकल्पना के समानान्तर खड़ी की गई है अतः धर्म और साधना, यद्यपि श्रद्धा तथा विकास पर आधारित है पर वह सामाजिक वैयक्तिक विषमता और प्रपंच के विरोध में, पीड़ित और दलित मानवता के लिये विकल्प के रूप मे प्रस्तुत की गई है। वर्गविभक्त और फिरकापरस्त समाज में, ईश्वर और भक्तियोग के बल पर, करोड़ों साधारण और दुःखी जनो को मुक्ति का आश्वासन प्रदान करना, उस काल में एक जनोद्धारक कार्य था और इसीलिए सन्त चरणदास और उनके सम्प्रदाय को मध्यकालीन समाज का आत्मशिल्पी माना जाता है।

सन्तों और भक्तो के आत्मशिल्पी आंदोलन, से उपदेशों, संघों और प्रतिष्ठानों के बावजूद, हमारे समाज में बुनियादी परिवर्तन क्यो नही हुआ ?, सन्तों; भक्तों को पूज्य मान लिया गया पर उनकी 'कथनी', 'रहनी' मे कहां बदल पाई ? -समाज की यथा स्थिति के लिए उत्तरदायी जातिव्यवस्था और कर्मसिद्धान्त क्यों मान्य बना रहा ?

इसका कारण यह है कि हमारे भारतीय पुनर्जागरण (रिनेसां) में समूचे मध्यकाल या भक्तिकाल मे, सामन्ती उत्पादन-वितरण की प्रक्रिया में कोई खास तब्दीली नही हुई, औद्योगिक क्रांति नहीं आई, जैसा कि पश्चिमी योरोप में हुआ। वहाँ के पुनःर्जागरणकाल मे, नये आविष्कारों से, सामन्ती-उत्पादन-वितरण का आधार ही समाप्त होने लगा, जबकि हमारे देश में औद्योगिक तकनीकी परिवर्तन सन्त चरणदास के बाद 19वीं शताब्दी के अन्त में हुआ, होना शुरू हुआ।

किन्तु औद्योगिक-तकनीकी युग अभी शुरू ही हुआ है और सामन्ती मानसिकता, पुनरुत्थानवादी सम्प्रदायों और दलों के द्वारा संरक्षित होती है अतः सामन्तीयुग के भेदभावों और परपीड़क प्रवृत्तियों के अवशेषों के विरुद्ध वैचारिक क्रांति के अभियान में, सन्त चरणदास मत या अन्य सन्तोंभक्तो का उदारमानववाद महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

हमारा देश, यद्यपि औद्योगिक तकनीकी सोपान में है, व्यक्तिगत तथा राज्य गत-पूंजीवाद पनप गया है पर इस व्यवस्था मे जनतन्त्र के औपचारिक ढांचे के भीतर भी सामन्तकालीन मानसिकता (अन्धविश्वास, पृथकतावाद, अहंवाद, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, कर्मवाद, जातिप्रथा, भाषावाद आदि) बढ़ती जा रही है, उसके विरुद्ध संघर्षों में हमारे सन्त और भक्त कवि सुधार के अस्त्र के रूप में उपयोगी हो सकते है।

सार्वभौमिक स्तर पर भी. सन्त और भक्त कवियों का महत्व है क्योंकि

आज परस्पर विरोधी सामाजिक-संरचनाओं और व्यवस्थाओं (Systems) का द्वन्द्व (पूंजीवाद, समाजवाद) विश्व-विनाश के बिन्दु तक पहुँचता जा रहा है। ऐसे समय में सन्त-भक्त कवियों की रचनाएं शांति और जीवप्रेम की प्रेरणा देकर हमें सामूहिक विनाश से बचा सकती हैं।

मानव प्रकृति में जो आदिम तत्वों का नैरन्तर्य अभी भी दिखाई पड़ता है, सन्त-भक्त साधक और कवि उस मानव-स्वभाव में अन्तरस्थित क्रूरता, शोषण-प्रियता, असमानता और परिग्रह जैसी विकृतियों को दूर करने में बहुत आधारभूत कार्य कर सकते हैं। बशर्ते कि सन्त-भक्त कवियों की रचनाओं के मानवीय तथा सामाजिक पक्ष को अधिक रेखांकित किया जाए।

हमारी विराट सन्त-भक्त परम्परा में सन्त चरणदास और उनका आन्दोलन एक उज्ज्वल अन्तःसलिला के समान है जो करोड़ों लोगों में आज भी बह रही है और उनके मन और चेतना को ढाल रही है।

चुनौती यही है कि अपनी महान-सन्त-भक्त साधकों-कवियों की परम्परा का हम पुनः पुनः परीक्षण और पुनर्मूल्यांकन करें और उनके मानवीय सारतत्व को उसके मिथकीय तत्वों से पृथक करें।

□□□

8 बिहारी : मूल्यांकन की समस्या

प्राकृत काव्य में जो स्थान सातवाहन की 'गाथा सप्तशती' का है और संस्कृ में जो स्थान गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' का है, वही स्थान हिन्दी भाष (ब्रजभाषा) में बिहारीलाल की 'सतसई' का है। 'गाथा सप्तशती' का समय ई. सन् की प्रथम शताब्दी है, आर्यासप्तशती 12वीं शताब्दी की रचना है।[1] जिस प्रकार 'गाथासप्तशती' संस्कृत शृङ्गारकाव्य के लिए प्रेरणा-स्रोत रही, उसी प्रकार 'बिहारी सतसई' हिन्दी शृङ्गारकाव्य के लिए प्रकाशस्तम्भ बन गई। बिहारी के पश्चात् मतिराम,[2] रसनिधि[3], रामसहायदास,[4] (राम सतसई) विक्रमसाहि[5] (विक्रम सतसई) आदि कवियों की दोहों मे लिखी मुक्तक कविताओं पर बिहारी का प्रभाव दिखाई पड़ता है। बिहारी के परवर्ती कवियों ने बिहारी को ही आदर्श माना है, गाथा या आर्यासप्तशती को नहीं, यह स्मरण रखने योग्य बात है।

बिहारी के पूर्व हिन्दी में सूर, तुलसी और विद्यापति के पद प्रसिद्ध हो थे। बिहारी का वृन्दावन से सम्बन्ध था। मथुरा मे उनकी ससुराल थी अतः के भक्त कवियों से भी इनका परिचय अवश्य था। यह भी कहा जाता है कि प्रसि कवि केशवदास से उन्होंने काव्यशास्त्र पढ़ा था।

बिहारी ने भक्त कवियों की परम्परा में 'पद' न लिखकर दरबारी कवियो की शृङ्गारकाव्य परम्परा स्वीकार की। यह शृङ्गारकाव्य परम्परा संस्कृत-साहित्य में पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी। संस्कृत के काव्य के भी कई रूप हमारे सम्मुख है।

1—वाल्मीकि की परम्परा, जो तुलसीदास द्वारा स्वीकृत हुई।

---

1. बिहारी सतसई की समाप्ति-तिथि, अनुमानतः 1647 ई.
2. रचनाकाल 17वीं शता.
3. " " "
4. 19वीं शता. का प्रारम्भ
5. " "

2—कालिदास के महाकाव्य, नाटक और शृङ्गारकाव्य (मेघदूत)।

3—भारवि, माघ व श्रीहर्ष के अलंकृत काव्य।

4—अलंकृत गद्यकाव्य-वासवदत्ता, कादम्बरी आदि।

5—ऐतिहासिक काव्य—विक्रमाङ्कदेव चरित आदि।

काव्य के उपर्युक्त रूप राजाओं के दरबारों में राजकवियों द्वारा विकसित हुए। ऋषि वाल्मीकि की परम्परा को आगे चलकर भक्त तुलसी ने स्वीकार किया। इस ऋषि परम्परा को भारवि, माघ आदि अलंकृत काव्यकारों ने पूर्ण रूप से कभी नहीं भुलाया अतः वे सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग को प्रभावित कर सके—किन्तु कालिदास के बाद के कवियों पर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का प्रभाव बढ़ता दिखाई पड़ता है। वात्स्यायन में नगर, नायिका और विलास आदि के भव्य वर्णन है। सम्भवतः कामसूत्र कालिदास के युग में ही लिखे गए। कालिदास के युग में विलास अवश्य है परन्तु साथ ही आदर्श और कर्त्तव्य को भी नहीं भुलाया गया है। कालिदास के बाद में भी यद्यपि साहित्य में प्रेम व अलंकृति बढ़ती दिखाई पड़ती है तथापि यह स्मरणीय है कि भारतीय दरबारों में गम्भीरतापूर्वक विद्या और कला का अध्ययन होता था। भारवि, माघ और श्रीहर्ष जैसे पंडितों को 'क्रीत कवि' नहीं कहा जा सकता। अधिकार, युद्ध, विलास और विद्वता का एक साथ संयोग इस दरबारी साहित्य में दिखाई पड़ता है। इन दरबारी काव्यों में राजनीति, धर्म और दर्शन पर वार्तालाप बराबर पद्यबद्ध किए जाते थे। 'माघ के शिशुपालवध का द्वितीय अध्याय केवल 'राजनीति' पर गम्भीर वार्तालाप से ओतप्रोत है। नैषधीय में भी, जो शुद्ध प्रेम-काव्य है, अन्य जीवन-क्षेत्रों और अनुभवों को वाणी मिली है। सरस्वती और लक्ष्मी के बीच दूरी बढ़ गई थी, यह सही है तथापि इस दूरी को कम करना राजा का कर्त्तव्य समझा जाता था। राजा स्वयं 'कवि' होना अपने लिए अभिमान की बात समझते थे। रुद्रदामन (150 ई.), समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, भोज और लक्ष्मणसेन जैसे गुणग्राही राजा स्वयं अच्छे कलाकार थे। काश्मीर के राजा तो 'सरस्वती' के संरक्षक ही माने जाते थे। प्राकृत भाषा के कवि भी दरबार में संरक्षण पाते थे और राजा सातवाहन (हाल) ने स्वयं 'गाथासप्तशती' का संग्रह कराया था। अतः यह मान कर चलना कि 'दरबारी कविता' सम्पूर्ण रूप से जनता से दूर होकर केवल *राजाओं के विलास की वस्तु है, गलत है,—मैंने कहा कि सम्पूर्ण रूप से !*

अलंकृत काव्यों के अतिरिक्त दरबारों और दरबारों से बाहर विद्वत्समाज में (जो सामान्यतः जनता से अधिक सम्बन्धित था) एक और प्रकार के काव्य प्रचलित हुए जिनमें 'लोकतत्त्व' अधिक थे। व्यावहारिक जीवन में प्रत्युत्पन्नमति का चमत्कार दिखाने वालों ने सूक्तियां लिखी हैं और शास्त्र के बन्धनों से अलग रहकर बहुत से कवियों ने प्रेम का लोकसुलभ रूप वर्णित किया है। मुक्तप्रेम के इस चित्रण में अपेक्षाकृत सार्वभौमिक और सार्वकालिक तत्त्व अधिक हैं क्योंकि यह प्रेम

दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित है अथवा मुक्तप्रेम से जो विधि और निषेध को स्वीकार नहीं करता। शास्त्र विजड़ित समाज में ऐसे उन्मुक्त प्रेम को उच्चवर्ग मे भी अधिक आदर मिल जाता है और इसीलिए पंडित वर्ग ने इस उन्मुक्तप्रेम का भी खुलकर वर्णन किया है।

इस लोकसुलभ प्रेम में प्रेमी को केवल प्रेमी के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसके अधिकार, वैभव, युद्ध, संघर्ष आदि व्यापारों का वर्णन नहीं किया जाता। प्रेम के इस रूप के वर्णन का अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि जीवन के अन्य रूपों से ये कवि नफरत करते थे। भर्तृहरि शृङ्गारशतक व वैराग्यशतक का निर्वाह एक साथ कर सकते है जो विचारकों के लिए आज भी एक समस्या है। प्रेम का ऐसा वर्णन न तो किसी शास्त्रीय परिपाटी के अनुकरण पर हुआ है और न किसी राजा के मनोविनोद के लिए। बस, लोकजीवन की उन्मुक्त प्रेमभावना का निःसंकोच चित्रण इस प्रकार के प्रेमकाव्यो की विशेषता है, नायिकाभेद या अलंकारभेद की शर्तें पूरी करने के लिए नहीं। 'अमरुकशतक' ऐसी ही रचना है (समय 7वीं शताब्दी) तथा अमरुकशतक का टीकाकार (समय 13वीं शताब्दी) भी इसे स्वतन्त्र रचना मानता है। भर्तृहरि 'शृङ्गारशतक' मे शृङ्गार व विलास को मानवीय जीवन के एक सत्य के रूप में देखते है। शृङ्गारशतक पढ़ते समय स्पष्ट प्रतीत होता है कि कहीं न कहीं कवि का विचार सूत्र भावनाओं के भीतर छिपा हुआ है। परन्तु 'अमरुकशतक' मे निर्बाध प्रेम है, प्रेम का यथातथ्य चित्रण।

बिल्हण की 'चौरपंचाशिका' भी ऐसा ही प्रेमकाव्य है। इसमें कथा भी चलती है। एक कवि का प्रेम राजकुमारी से हो जाता है। राजा इस गुप्त प्रेम का पता पाकर कवि को प्राणदण्ड की आज्ञा दे देता है परन्तु कवि की कविता से प्रसन्न होकर राजकुमारी के साथ कवि का विवाह कर देता है। यह कथा लोक से ली गई है। इस प्रकार की कथाएँ प्राचीनकाल से ही चली आ रही थी। 'गुप्तप्रेम' के वर्णन का अवसर खोजने के लिए कवि बिल्हण ने लोक से ही यह कथा स्वीकार कर ली है। बिल्हण व अमरुक दोनो अत्यधिक सरल शैली मे प्रसन्नता और आमोद से युक्त प्रेम-चर्या का वर्णन करते हैं। 'बिल्हण' दरबारी कवि था परन्तु एक ओर वह 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में जहाँ राजा के यशगान के बहाने वीर और ओज की वर्षा करता है, वहीं वह लोक से कथा चुनकर प्रेम का लोकस्वीकृत रूप भी स्वीकार करता है— शास्त्र-चिन्ता से यह प्रेम स्वतन्त्र है।

संस्कृत काव्यकार अधिकतर शैव थे। शैव-दर्शन व साधना में जीवन की सभी इच्छाओं और भावनाओं का आदर है। शैव-दर्शन (आगमों पर आधारित) बौद्ध-साहित्य के विपरीत जीवन के प्रति प्यास जाग्रत करता है, उसके आकर्षणों को महत्व देता है। अतः शैवों ने प्रेम के उन्मुक्त चित्रण किए हैं और प्रेम को एक आनन्ददायी कल्याणमयी वृत्ति माना है। शैव कवि प्रेम-वर्णन में सृजन की अनादि

और शाश्वत लोला की सार्थकता देखता है; अतः प्रेम के वर्णन उसकी धार्मिक वृत्ति के भी अनुकूल पड़ते हैं। आप यों भी कह सकते हैं कि शैव जीवन की कोमल वृत्तियों को सहज ही धार्मिक आवरण में सजाकर सुन्दरता को उदात्त बनाकर उपस्थित कर सकते हैं। संस्कृत के प्रेमकाव्य में—कालिदास के 'कुमार सम्भव' और पुराणों में प्राप्त काव्य में सर्वत्र शैव दृष्टि प्राप्त होती है जो लोकानुभूति व उच्चवर्गीय विलास—दोनों स्तरों को एक करती दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने साधना व जीवन के भोगों के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया है।

संस्कृत काव्य के इस रूप का प्रभाव शैवों की तरह वैष्णवों पर भी दिखाई पड़ता है। वैष्णवसाधना भी लोकसाधना है। वह 'प्रेम' पर आधारित है। यह प्रेम किसी भी प्रकार का हो सकता है, समाज में जितने प्रकार के भी मानवीय सम्बन्ध है, उनमें से किसी भी प्रकार के प्रेम सम्बन्ध के द्वारा इष्ट देवता के साथ नित्य संयोग ही वैष्णव साधना का लक्ष्य है। वैष्णवों ने शैवों की तरह जीवन की कोमल अनुभूतियों को स्वीकार किया है, संन्यासवादियों, बौद्ध व जैनियों की तरह जीवन का निषेध नहीं किया। अतः उनमें व शैवों में अन्तर केवल यह है कि वैष्णव शिव की जगह विष्णु व पार्वती की जगह लक्ष्मी को स्वीकार करते हैं, जिनके अवतार है, राम और सीता, कृष्ण और राधा। अतः वैष्णव काव्य, जो जयदेव के पश्चात् त्वरित गति से बढ़ता है, लोकानुमोदित प्रेम से ओतप्रोत है। 'गीतगोविन्द' को पढ़कर यह कहना कठिन हो जाता है कि यह भक्तिकाव्य है या शृङ्गार काव्य! जैसा मैंने कहा कि शैव व वैष्णव दृष्टि अविरोधिनी दृष्टि है। प्रेम व्यापार उनके लिए विधाता के अनवरत रूप से चलने वाले सृष्टि-रचना-विधान का बाह्य रूप मात्र है अत. उनके लिए 'प्रेम व्यापार' घृणा की वस्तु नहीं, आदर की वस्तु है। अतः जयदेव के लिए 'गीतगोविन्द' विशुद्ध भक्तिकाव्य है परन्तु वैष्णव दृष्टि से हीन व्यक्ति के लिए, निश्चित रूप से 'गीतगोविन्द' एक शुद्ध शृंगार काव्य है। इस स्थिति को स्वीकार किए बिना आप वैष्णव काव्य के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार कर ही नहीं सकते। कीथ जैसे विद्वान भी वैष्णव काव्य की वासना-प्रधानता को देखकर चकित हो गए थे फिर भी उन्हें स्वीकार करना पड़ा है कि पार्थिव और अपार्थिव में जयदेव अन्तर नहीं मानते। कीथ ने यह भी कहा है कि भारतीय धार्मिक कवि देवताओं के रति-विलास का जमकर वर्णन करते हैं, यथा कालिदास ने कुमार सम्भव में किया। कीथ के अनुसार बाद के सारे कवियों ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है।[1] जैन व बौद्ध काव्यों में भी प्रेम के मादक चित्रण मिलते हैं। मेरा निवेदन यह है कि जयदेव का सम्बन्ध 'कुमार सम्भव' की काव्य परम्परा से किंचित भिन्न है, वह 'अमरुकशतक,' 'आर्यासप्तशती की पूर्व परम्परा के अधिक निकट

1. A History of Sanskrit literature—Keith.

है। जो नायिका गाथासप्तशती और अमरुकशतक आदि काव्यों में वर्णित हो रही थी, वैष्णव कवियों की तात्विक दृष्टि के कारण वही प्राकृत नायिका, अप्राकृत राधा में रूपान्तरित हो गई है और इस रूपान्तरण मे बौद्ध सहज साधना व शैवों-शाक्तों की 'लता-साधना' तथा प्राचीन पांच-रात्रों की 'लक्ष्मी उपासना' का बहुत बड़ा हाथ है। इस रूपान्तरण में गुह्य साधनाओं का योगदान किस प्रकार और किस सी तक हुआ है, यह विवेचन इस निबन्ध के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है परन्तु 'गुह्य साधना' का योगदान अवश्य रहा है, यह एक तथ्य है।

चंडीदास, विद्यापति और गाथा-सप्तशती तथा अमरुकशतक के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत में सर्वप्रथम और तत्पश्चात् संस्कृत के स्वतन्त्र प्रेम काव्यों में जो पार्थिव प्रेम का रूप वर्णित है वही पार्थिव प्रेम चंडीदास, विद्यापति व बाद के वैष्णव कवियों में स्वीकृत हुआ है। यदि अन्तर है, तो यही कि वैष्णव कवियों की तात्त्विक दृष्टि पार्थिव-प्रेम के साथ मिलकर एक हो गई है। साथ ही प्रेम के साथ-साथ विरह पर वैष्णवों ने अधिक जोर दिया है यथा सूरदास गोपियों के विरह का वर्णन अधिक विस्तार और वैविध्य के साथ करते है। चंडीदास व विद्यापति के विरह वर्णनों में ही वैष्णव दृष्टि स्पष्टतः इन काव्यों को पार्थिव प्रेमकाव्यों—गाथा सप्तशती व अमरुकशतक से अलग कर देती है, अन्यथा दोनों काव्यों में पर्याप्त समता दिखाई पड़ती है। अमरुकशतक व विद्यापति की समता देखिए—

दीर्घा चंदन मालिका विरचित दृष्ट्येव नेन्दीवरैः।
पुष्पानां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुंभाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मगलम्—

अमरुकशतक

इसके साथ विद्यापति के एक पद की तुलना कीजिए—

पिया जब आओब इ मझु गेहे
मंगल जतहु करब निज देहे।
कनआ कुंभ करि कुचयुग राखि
दरपन धरब काजर देई आंखि॥

'प्राकृत-पिंगल' नामक ग्रन्थ में संकलित प्राकृत की गाथाओं और परवर्ती वैष्णव कवियों की रचनाओ में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। 'सदुक्तिकर्णामृत', सूक्ति मुक्तावली आदि स्वतन्त्र काव्यो से भी वैष्णवकवियों ने प्रेरणा ली है।

स्वतंत्र पार्थिव प्रेम के साथ परवर्ती वैष्णव कवियों ने दार्शनिक तत्त्वों को ही नहीं मिलाया बल्कि संस्कृत की रीतिपद्धति को भी अपनाया। 'नायिकाभेद' काम सूत्रों से लिया गया। आगमग्रन्थों में भी नायिकाभेद के बीज मिलते हैं। यद्यपि आगमग्रन्थों में नायिकाभेद साधना की दृष्टि से किया गया है तथापि जाति के आधार पर नायिकाभेद आगमग्रन्थों की विशेषता है। वैष्णव सम्प्रदायों में आगे चलकर जो ललिता, विशाखा का महत्त्व बढ़ा है उस पर आगम ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है, किन्तु यह प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से आया है। प्रथम पुराणों में गुह्य-साधनाओं को स्वीकार किया गया। ये गुह्य-साधनाएं स्थानीय देवताओं व देवियों की पूजा-पद्धतियों पर आधारित थीं और साथ ही मुक्त यौन-सम्बन्ध इनकी विशेषता थी। नैतिकता का उग्र स्वर पौरोहित्य प्रधान उच्चवर्गों में अधिक दिखाई पड़ता है। पुराणों से यह प्रभाव वैष्णवसम्प्रदायों में गृहीत हुआ। बहुत से नाम जो प्राचीन पुराणों में नहीं मिलते, बाद में या तो कल्पित किए गए अथवा इन्हीं गुह्य-साधनाओं से लिए गए। उदाहरण के लिए "राधा" की कल्पना बौद्ध तान्त्रिकों के शून्य + करुणा, प्रज्ञा + उपाय अथवा शैवों के शिव + शक्ति अथवा पांचरात्रों के विष्णु तत्त्व + लक्ष्मी तत्त्व के अनुकरण पर की गई है। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत् में 'राधा' का नाम नहीं मिलता। पद्मपुराण व ब्रह्मवैवर्त्तपुराण परवर्त्ती पुराण हैं, उनमें 'राधा' की चर्चा अवश्य है। गाथा सप्तशती में 'राधा' का स्पष्ट उल्लेख केवल एक पद में है। संस्कृत साहित्य में 8 वी शता. के पूर्व के साहित्य में राधा का उल्लेख नहीं है। 'वेणीसंहार' नाटक का समय 8 वीं शता. है, इसमें राधा का उल्लेख मिलता है किन्तु 8वीं शताब्दी के बाद से राधा का उल्लेख बढ़ने लगता है। शाक्तों, शैवों व बौद्ध सहजवादियों की साधना का प्रचार सर्वाधिक रूप से 6वीं शता. से 12 वी शता. के बीच में मिलता है। 'शक्ति' का प्रभाव इस युग में बहुत बढ़ जाता है। इस प्रकार लोककाव्य में प्रचलित 'राधा' और 'राधातत्त्व' की स्वीकृति परवर्ती वैष्णवकाव्य में लोक-साहित्य व 'गुह्य-साधना' के प्रभाव से हुई, यह मानना चाहिए।

वैष्णवों में निम्बार्क व चैतन्यमत में 'राधा' का प्रभाव अधिक है। वल्लभ मत में राधा का प्रभाव निश्चित रूप से बंगालियों के प्रभाव से गुसाईं विट्ठलनाथ जी के समय से हुआ है। सूरदास में राधावाद पर्याप्त मात्रा में मिलता है। 'रास-वर्णन' में राधा के साथ अन्य शक्तियों का विस्तृत वर्णन 'सूर' ने किया है जो मूलतः भागवत् के आधार पर है। नन्ददास ने स्पष्टतः 'नायिकाभेद' किया है। सूर साहित्य में 'राधा कृष्ण विहार' व 'चन्द्रावली-कृष्ण-रति-विहार' के दर्शन करने के

लिए सखियां आतुर दिखाई गई हैं। कुंज मे 'युगलमिलन' के आनन्द को देखने के लिए सखियां कुंजरध्रों पर घटों खड़ी रहती थी।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश का समय है, 16 वी शता. का प्रारम्भिक भाग। इस सम्प्रदाय मे युगल उपासना का महत्त्व विशेष बढ़ा। 'युगल किशोर' की रतिकेलि के दर्शन और कल्पना द्वारा मानसिक आस्वादन को ही इस सम्प्रदाय ने महत्ता दी है। साधक अपने मानसपटल पर, राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ की नित्य स्फुरणा द्वारा आनन्दित रहता है। वह युगल की केलि की कल्पना नही करता अपितु 'हरिप्रसाद' से प्रेम-विह्वल भक्त के चित्त पर यह लीला स्वतः प्रकाशित हो जाती है। अतः इस सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार धारा समझाई नही जाती, वह 'गुह्य' और 'गूढ' है। राधा की कृपा से ही 'राधातत्व' समझ में आता है अतः उसी की उपासना मुख्य है। चंडीदास नामक किसी प्रश कवि के पदो मे बंगला भाषा में प्राप्त राधा को 'किशोरी' कहा गया है। "किशोर तत्व" को राधा तत्व की तरह "अगम्य" कहा गया है। योगियों ने राधा का सम्बन्ध "अगम की धारा" से भी जोड़ा है, धारा को उलट देने से 'राधा बन जाता है, ऐसा राधास्वामी मत के प्रवर्तक शिवदयाल का कहना है।'[2] मतलब यह कि परवर्ती वैष्णव कवियों मे 'राधा' मुख्य हो जाती है, कृष्ण गौण। 'राधा' को एक अगम्य पराशक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है, अनेक शक्तियों को नायिकाओं के रूप में देखा जाता है और शक्तिमान अर्थात् कृष्ण के साथ इन शक्तियों की मधुर और गुह्य लीलाओ को ही कवि वाणी का विषय बनाता है।

युगल-उपासना और शक्तिमान कृष्ण द्वारा अपनी शक्तियो के साथ 'भोग-लीला' का सम्बन्ध आगे चल कर काव्य-शास्त्र से भी सम्पृक्त हो जाता है। भक्त कवियो के पश्चात् यह भी एक नया विकास है। सूर, तुलसी काव्यशास्त्र की शिक्षा नही देते परन्तु केशव, देव, कुलपति, मतिराम आदि वैष्णवकवि काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी देते है क्योंकि पुनः कवि को दरबार मे आश्रय मिलता है। भक्त इन दरबारो से दूर रहते हैं। कुछ भक्त दरबारो की होड़ मे जनता का ध्यान बादशाही

---

1 गहि बहियां लै चले स्यामघन, सघन कुंज के द्वार।
पहिलै सखी सबै रचि राखी, कुसुमनि सेज सँवार।
नाना केलि सखिन संग बिहरत, नागर नंद कुमार,
आलिगन-चुम्बन-परिरंभन, भेंटत भरि अंकवार।
श्रमजल बिन्दु इंदु-आनन पर, राजत अति सुकुमार।
मानौ विविध भाव मिलि बिलसत, मगन सिंधु रस सार।
कुंज-रंध्र अवलोक सहचरी-अपनो तन मन वारें।
निरख-निरख दंपति नेत्रन सुख, तोर तोर त्रन डारें।

2. राधा का क्रमिक विकास—शशिभूषणदास, सूर सारावली।

दरबारों से अलग खींचने के लिए 'ठाकुर' जी का अलग दरबार लगाते है । सूरदास ठाकुर जी के ऐसे ही दरबार के कवि थे । परन्तु रीतिकाल के कवि 'पार्थिव ठाकुर' जी के कवि हैं अतः वे एक ओर शिक्षक भी हैं — राजा, सामन्त और नवाब स्वयं उनसे काव्य-शास्त्र सीखते हैं और दूसरी ओर शृङ्गारिक रुचि प्रधान दरबारी वातावरण को सरस पद्यों से पुलकित भी करते हैं और तीसरी ओर यह सब शृङ्गार, राधा-कृष्ण के साथ सम्बन्धित होने से अपनी वैष्णवता— अपने संस्कारों की रक्षा में भी सहायता देता है अतः राधा कृष्ण का नाम लेना पूर्णतः बहानेबाजी नहीं है, यद्यपि एक सीमा तक यह भी है । उसका एक धार्मिक आधार भी है जिसकी रक्षा अच्छे रीतिकालीन कवियों ने बराबर की हैं । उदाहरण के लिए 'देव' का प्रेम-सिद्धान्त "स्वकीया-भाव" पर आधारित है । गृहस्थधर्म की कल्पना 'देव' में सुन्दर है । देव किशोर व किशोरी को सिंगार का सार समझ कर उन्हें आराध्य देव मानते हैं, व्यभिचार का आदर्श मानकर वे कृष्ण की उपासना नहीं करते ।

स्वयं कवि बिहारीलाल वृन्दावन के नागरीदास जैसे भक्त व साहित्य मर्मज्ञ का सत्संग करते रहते थे । बिहारी की रसज्ञता से शाहजहाँ बहुत खुश था । रहीम खानखाना ने बिहारी की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की । फलतः हिंदू राजा भी बिहारी का आदर करने लगे क्योंकि बिहारी के आदर द्वारा वे शाहजहाँ की कृपा भी पा सकते थे । यही नहीं बिहारी ने आमेर के राजा जयसिंह की घोषणा की चिंता किए बिना उसे विलास प्रियता में मग्न देखकर सचेत कर दिया था । अतः रीतिकाल के कवि क्रीतदास न थे, उनमें भी स्वाभिमान व सम्मान शेष था । यही कारण है कि महान सम्मान पाकर भी देव व बिहारी जैसे कवियों ने आश्रयदाताओं की शिकायत की है और आत्म-भर्त्सना भी की है ।

उच्चकोटि के दरबारी कवियों का जनता व उच्च शिक्षित वर्गों में सम्मान होने के कारण बादशाह व सामंत उनके साथ अदब से पेश आते थे और अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे । यही कारण है कि औरंगजेब जैसे कट्टर बादशाह की 'वृन्द' कवि ने सरे दरबार निन्दा की थी क्योंकि जसवन्त सिंह के मरने के बाद बादशाह ने जोधपुर के मन्दिर गिरवा देने का आदेश दिया था ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि रीतिकालीन कवियों में भक्तों के समान चरित्र-बल था अथवा वे जनता के दुःखों से द्रवित होकर आर्त्तपुकार करते थे अथवा वे जागरूक आन्दोलनकारी थे परन्तु रीतिकालीन कवि को आलोचना की अदालत में जितनी सजा दी गई है, उतनी शायद अनावश्यक थी क्योंकि हमने तथ्यों को नहीं देखा । हम यह भी भूल गये कि, कई रीतिकालीन कवि राज्यवर्ग के शिक्षक थे, विद्वान थे और समादृत व्यक्ति थे, क्रीतदास नहीं; हम यह भी भूल गए कि रीतिकालीन कविता के एक बहुत बड़े अंश में धार्मिक चेतना भी मुखरित हुई है । वह धार्मिक चेतना विलास की विरोधिनी नहीं है, यह सही है परन्तु साथ ही 'विलास' एक व्यापक शब्द है । कला, संगीत और काव्य भी विलास में ही आते हैं, इन तीनों

क्षेत्रों में उसी परवर्ती वैष्णव चेतना का प्रभाव है जिसका विवेचन हम ऊपर कर चुके है। अतः रीतिकालीन कवि परवर्त्ती वैष्णव साधकों के साथ मुसलमानी दरबारों में देशी भाषा, देशी काव्यशास्त्र, देशी विश्वास और देशी रीतिरिवाजों का संरक्षक और प्रचारक हैं'। हिन्दू मुस्लिम एकता का स्वर 'कृष्ण काव्य' से 'पुष्ट हुआ है और गुजरात से लेकर बङ्गाल तक कृष्ण-राधा के प्रेमगीतों ने, जिसमें रीतिकाल के प्रेम-पद्य भी सम्मिलित है, हिन्दू मुस्लिम जनता को निकट लाने में बहुत अधिक हाथ बंटाया है। 'राधा-कृष्ण' प्रेम चूंकि साम्प्रदायिक विधि-निषेध से रहित था, उसमे प्रत्येक युवती व युवक अपने हृदय की धड़कनों का स्पन्दन सुन सकता था अत. संगीत व काव्य दोनों क्षेत्रों में मुसलमानों ने उसे स्वीकार कर लिया। 'सम्प्रदायों' को मुसलमानों ने स्वीकार नहीं किया किन्तु उन्होंने 'कृष्ण' को स्वीकार कर लिया, क्यों ? क्योंकि कृष्ण को परवर्ती वैष्णव कवियों ने सामन्ती व्यवस्था के अनुकूल अनजाने में ही रूप दे दिया था अर्थात् अमरुकशतक व गाथा सप्तशती के पार्थिव प्रेम को जो जयदेव, चंडीदास, विद्यापति, सूरदास आदि द्वारा उदात्तता प्राप्त हो रहा था, रीतिकालीन कवियों ने स्वीकार कर लिया था, उसकी उदात्तता की रक्षा की उन्होंने सर्वत्र चिन्ता नहीं की, उन्होंने पार्थिव, स्थूल और प्राकृतिक प्रेम के गीत राधा कृष्ण के साथ सम्बद्ध करके कहे और उसका परिणाम' जहां एक और विलास वृद्धि में हुआ वहीं दूसरी ओर वही रीतिकालीन काव्य सामाजिक समीकरण के कार्य में सफल भी हुआ। दरबारी कवि मथुरा वृन्दावन के भक्तों की एक उस शाखा के रूप मे काम करते रहे जिसने शहर की जनता को मथुरा वृन्दावन की ओर मुड़ने मे काफी सहयोग दिया। रीतिकालीन कवि तुलसी की तरह आदर्श नही दे सके ; सूर की तरह विरह की वास्तविक पीर व वात्सल्य भी उनमें नही है परन्तु पार्थिव को अपार्थिव बनाने की धुन में वे अपार्थिव को प्राप्त न कर सकने पर भी, सामाजिक-मिलन और सास्कृतिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में अवश्य सफल हुए है। घोर शृङ्गार लिखने वालो ने ऐसी रचनाएँ भी की है जो किसी भी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकती है। कवि बिहारी के कतिपय दोहे देखिये—क्या प्रेम का यह वर्णन स्पृहणीय नही है ?

कागद पर लिखत न बनत, कहत सन्देसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ॥
मकराकृति गोपाल कै, सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-घर समरु, ड्योढ़ी लसत निशान ॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझति नहि कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्जल होइ ॥
त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जनु चख तृषा बुझाय ॥

सखी सिखावति मानविधि, नैननि बरजति बाल ।
हुरुए कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ।।

इस प्रकार के बीसियों दोहे स्वयं बिहारी सतसई में है, अन्यत्र भी हैं परन्तु रीतिकालीन काव्य के अच्छे अंशों को चुनकर उनका उचित स्थान निर्धारित करने की जैसे विचारकों की इच्छा ही नहीं है । सम्भवतः अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि रीतिकालीन काव्य की प्रशंसा करने पर आलोचक के अस्तित्व का खतरा है क्योंकि लोग कहेंगे कि यह रीतिकालीन काव्य की प्रशंसा करता है और मजा यह है कि कालिदास, माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में उन्हे साक्षात् ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है । दिखाऊ नैतिकता का आवरण ओढ़कर जब-जब काव्य को देखा गया है, तब तब यही परिणाम हुआ है ।



9 युगपुरुष महावीर प्रसाद द्विवेदी

कुछ व्यक्ति यह समझते है कि साहित्य कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट चेतना और शैली का वरदान है। यदि किसी प्रवृत्ति के कार्य-कारण की शोध न की जाए और केवल प्रतीति पर ही ध्यान दिया जाए तो यह बात स॰ प्रतीत होती है। अन्ततः हिन्दी उसके लेखकों द्वारा ही विकसित और संवर्धित हुई। किन्तु विज्ञान ने हमारी व्यक्तिवादी धारणाओं के आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है। जब हम किसी विशिष्ट व्यक्ति की चेतना का विश्लेषण करने चलते है तो उसकी विशिष्टता या अद्वितीयता के अन्तर्गत अनेक ऐसे तत्व मिलते है, जो उस व्यक्ति की उस अद्वितीय चेतना के स्वरूपनिर्माण में अनिवार्य रूप से सहायक तत्वों के रूप मे सम्मुख आने लगते है। लेखन एक बहुत ही संकुल क्रिया है। जिन्हें लेखक 'अनायास प्राप्त' या 'स्वयंप्रकाश्यज्ञान से उद्‌भूत' समझ बैठता है और बार-बार विचार करने पर भी वह यह नही समझ पाता कि उसे अमुक 'धारणा' या बिम्ब या 'सत्य' कैसे प्राप्त हुआ, वे धारणाएँ; बिम्ब और विचार आदि उस लेखक के सामाजिक पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ से उत्पन्न होते हैं। शून्य में भ्रमणशील कीटाणु कवि नहीं हो सकते। ठोस यथार्थ जीवन से क्षोभ का जन्म होता है जो एक स्नायुविक प्रक्रिया है। ये 'क्षोभ' सुखकर और दुःखद दोनो प्रकार के हो सकते हैं। इन तनावों से मुक्ति का उपाय एक स्नायुविक प्रक्रिया के रूप मे ही हमारी चेतना में उदित होता है, भले ही इसका स्पष्ट विश्लेषण सम्भव न हो। इन 'दबावों' और 'तनावो' को समझे बिना उनसे उत्पन्न उपाय रूप मे प्राप्त 'आविष्कार' और 'सत्य' समझे ही नही जा सकते।

इन 'दबावो' और 'तनावो' के लिए मनुष्य का आर्थिक और सामाजिक जीवन उत्तरदायी होता है। इनमे वांछित परिवर्तन के लिए मनुष्य साधनों की खोज करता है और साधनों के अनुसार उनसे प्राप्त 'समाधानो' में अन्तर आजाने से युगपरिवर्तन होता है। इस नए युग में पुनः नए ढङ्ग के आवेशों और दबावों का जन्म होता है, बहुत कुछ 'तनाव' पुराने ही चले आते है। कार्य-कारण पर विचार न करने वाला व्यक्ति समझता है कि इस संकुल परिस्थिति का स्रष्टा कोई दैवी शक्ति है अथवा यह कि इसके आगे हम विवश है अथवा यह कि इसमें 'असाधारण प्रतिभा' या 'अवतार' ही परिवर्तन कर सकता है किन्तु इन 'दबावों' का एक

आवश्यक परिणाम यह होता है कि मनुष्य की सामूहिक चेतना पर भी इनका सामूहिक प्रभाव पड़ता है और अनिवार्य रूप से कुछ या अधिक ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं जिनके पथप्रदर्शन में मनुष्य समाज अपने ऊपर पड़ने वाले वाह्य-परिस्थिति-जन्य इन दबावों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ऐसे ही 'युगपुरुष' थे, जिन्हें उस युग के स्नायुमण्डल पर पडने वाले वाह्य और आन्तरिक परिस्थिति-भार ने उत्पन्न किया था, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" की समाज-मनोवैज्ञानिक व्याख्या यही है।

द्विवेदीजी बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस पच्चीस वर्षों की साहित्यिक चेतना के नेता रहे। 'सरस्वती' के सम्पादक होने के पूर्व (सन् 1903 ई.) सन् 1885 में भारतेन्दुजी अस्त हो चुके थे। भारतेन्दुयुग जागरणयुग था। जागरण इसलिए आवश्यक हो गया था कि विदेशी साम्राज्यवाद इस देश के व्यवस्थित शोषण के द्वारा इंग्लैण्ड में पूँजीवाद का विकास कर रहा था। इस 'दबाव' को देश के संवेदनशील मस्तिष्क महसूस कर रहे थे अतः रीतिकाल के विरुद्ध नए प्रकार के साहित्य का जन्म हो रहा था। साधन क्या था? प्रेस और साहित्य! अतः भारतेन्दुयुग का प्रायः प्रत्येक लेखक पत्रकार भी था और लेखक भी। 1869 ई. में स्वेज नहर खुल गई थी, देशी उद्योग-धन्धों का सङ्कोचन और कृषि पर भार, यह मुख्य प्रवृति थी। 1868-69 तथा 1877 ई. के अकालों मे 20 लाख से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु! सन् 1894-1900 ई. के बीच उत्तरभारत में पुनः अकाल। दूसरी ओर ईसाई मत का प्रचार ब्रिटिशसाम्राज्यशाही के एक आवश्यक अङ्ग के रूप में हो रहा था। 1802 ई. में न्यू टेस्टामेन्ट का हिन्दी में अनुवाद हो चुका था। 1809 से 1826 ई. के मध्य हिन्दी की मुख्य-मुख्य उप भाषाओं में ईसाईमत के ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे थे। हिन्दी प्रदेश के लिए यह एक 'सांस्कृतिक सङ्कट' के रूप में प्रस्तुत हुआ, इस 'तनाव' का कारण अंग्रेजी साम्राज्यवाद था, अतः कलावादियों की तरह द्विवेदी युग का लेखक इसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता था। 1858 ई. का ब्रह्मसमाज, 1875 ई. का आर्यसमाज तथा रामकृष्णमिशन, हिन्दू धर्म महा मण्डल, गुरुकुल, डी. ए. वी. कालेज, विधवाश्रम, अनाथालय, गो रक्षिणी सभाओं आदि का आयोजन उक्त 'दबाव' के विरुद्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। हिन्दी में जो शुरू से ही एक पुनरुत्थानवादी प्रवृति मिलती है, उसका श्रेय बहुत कुछ साम्राज्य-वादियों की धार्मिक अन्धता को है।

अकाल, टैक्स, ईसाईमत का चतुर प्रचार, भारतीय आशा-आकांक्षाओं का दमन, साम्प्रदायिक तत्त्वों को सरकार द्वारा प्रोत्साहन, सांस्कृतिक सङ्कट और हीनता का भाव—इस ठोस यथार्थ का अवश्यम्भावी परिणाम यही होता कि राष्ट्रीय चेतना एक झटके के साथ पुरानी चेतना के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लेती—भारतेन्दु युग में गद्य के क्षेत्र में यह कार्य प्रारम्भ हो चुका था। गद्य जागरण का नया माध्यम बन चुका था, द्विवेदीजी ने इस 'जागरण माध्यम' को समर्थ और 'शुद्ध' करने का बीड़ा उठाया।

काव्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु युग का माध्यम ब्रजभाषा ही रही, द्विवेदीजी ने दृढ़ता से
खड़ी बोली की शक्ति पहचान कर उसे इस जागरण युग का माध्यम बनाया। कोई
राष्ट्र तभी जगता है जब उसके कथन, विश्लेषण, व्याख्या और गायन की भाषा एक
हो। भारतेन्दुयुग में काव्य की भाषा ब्रजभाषा और जागरण की भाषा खड़ी बोली
थी। इस अन्तर्विरोध को समाप्त करना था, एक 'छलांग' की आवश्यकता थी और
द्विवेदीजी ने 'उछाल' के साथ यह कार्य पूरा किया। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त,
रामचरित उपाध्याय और लोचनप्रसाद पाण्डेय—ये तीन उच्चकोटि के कवि दिए।
उनके लौह अनुशासन का प्रभाव हरिऔधजी पर भी पड़ा। कभी-कभी उनके प्रभा
और तानाशाही को देख कर आश्चर्य होता है। आखिर हिन्दी जगत् ने एक पत्रिका
के सम्पादक को इतना महत्त्व क्यों दिया ?

आज किसी भी प्रबल पत्रिका का सम्पादक वह गौरव प्राप्त नहीं कर सकता
जो द्विवेदीजी को प्राप्त था। कारण यह था कि वह राष्ट्र का प्रथम जागरण था,
शताब्दियों से सोए देश की प्रथम अंगडाई ! हिन्दी का आन्दोलन राष्ट्रीय आंदोलन
का सर्वस्व था; ऐसी स्थिति मे किसी एक ऐसे व्यक्ति को नेतृत्व मिलना स्वाभाविक
और सहज था जो राष्ट्रीय मानस पर पड़ने वाले 'दबावो' से पीड़ित होकर भी
उनका स्वरूप समझ सके और उनसे मुक्ति प्राप्ति के लिए संघर्ष कर सके। आज
का हिन्दी साहित्य अनेक नए पुराने सिद्धांतों, वर्गों और चेतनाओं का एक संघर्ष-
पुञ्ज बन गया है अतः सारे साहित्य के एक नेता के स्थान पर 'ग्रुपलीडर' अधिक
सामने आते है। तब राजनैतिक संघर्ष सीधा और स्पष्ट था, अब वह सैद्धान्तिक
और सौन्दर्यबोध के स्तर पर चल रहा है। इतने सूक्ष्म संघर्ष के समय एक नेता
को स्वीकृति न मिलना स्वाभाविक है, जितने अधिक सिद्धान्त, उतने अधिक नेता !
द्विवेदी युग को यह सुविधा थी कि उस युग मे समस्याएँ थी, सिद्धान्त अधिक न थे,
मिलनबिन्दु अधिक थे, अतः इन मिलनबिन्दुओं की सख्या द्विवेदीजी में अधिक होने
के कारण उन्हें नेतृत्व प्राप्त हो गया। द्विवेदीजी सरस्वती के सम्पादक होने के
कारण नेता नही बने। वह इसलिए नेता बने क्योकि भारतीय चेतना पर होने वाले
आघातों की प्रतिध्वनि वह अधिक स्पष्टता और सहानुभूति के साथ सुन सके थे।

बहुत से लेखक ऐसे होते है जो अपनी सवेदना को ही महत्त्व देते है। वे
कार्यकारण विधि से न सोचकर केवल अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों को ही वाणी
देते है और प्रभाव के स्वरूप को परिवर्तित करने की बाह्य विधियो को मात्र प्रचार
समझते है। ऐसे लेखकों को उक्त तनावों और दबावो का पारद मानना चाहिए।
पारा यह नही जानता कि गर्मी क्यो पड़ती है। वह कब अधिक और कम की जा
सकती है, इससे भी उसे सरोकार नही। यह काम रसायनशास्त्रियो, भूगोलवेत्ताओं
और समाज के अन्य हकीमो का है। वे अनजाने ही समाज की अन्तश्चेतना के
दिग्दर्शक होते हैं। समाज के हकीम इनके लेखन को रोगनिदान करने के काम मे
ला सकते है। इसकी भी ये पारद लेखक चिन्ता नही करते। वे तो सारे दबाव को

व्यक्तिगत नियति के रूप में लेते हैं। स्पष्टतः ऐसे लेखक द्विवेदीजी को यह गौरव देने को प्रस्तुत नहीं हैं जो उन्हें हिन्दी में प्राप्त हुआ है। इन पारद-लेखकों के अनुसार द्विवेदी जी एक पत्रकार थे जिन्होंने भाषा की कुछ गलतियाँ दूर कीं, कुछ नए विषय सुझाए। वे यह भी मान लेते हैं कि हिन्दी का हरएक हिमायती अँगरेजी साम्राज्यवाद के विरोध में पड़ता है अतः आदरणीय है किन्तु वे यह मानने को प्रस्तुत नहीं है कि द्विवेदीजी साहित्य के कोमलतम रूप काव्य को सही दिशा दे सके। द्विवेदी जी ने उनके अनुसार साहित्य में इतिवृत्तात्मक पद्यों का ढेर लगवा दिया। श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' के स्वच्छन्दतावाद को आघात पहुँचा कर संस्कृतमय भाषा-छन्दों के आधार पर हिन्दी को पण्डितों की भाषा बना दिया और इस प्रकार हिन्दी जनभाषा के संस्पर्शों से कटकर केवल विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों की भाषा रह गई। कथा, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण और ललित निबन्धों को छोड़कर काव्य और आलोचना की भाषा द्विवेदीजी की कृपा के कारण पण्डिताऊ हो गई। यह स्मरणीय है कि रघुवरसहाय 'फिराक' जैसे उर्दू के लेखक भी इन पारद-लेखकों से इस बिन्दु पर सहमत हैं कि द्विवेदीजी ने ही खड़ीबोली का रूप बदल कर उसे क्लिष्ट बनाया और द्विवेदीजी के कारण हिन्दी में हिन्दू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को बल मिला।

किन्तु यह इतिहास को मनमाने ढङ्ग से देखना है। भारतीय नव-जागरण में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ दिखाई पड़ती है। हिन्दू-पुनरुत्थानवाद भी उसका एक अंग है जो साम्राज्यवादियों के कारण उत्पन्न हुआ, कुछ इसलिए भी कि हीन-भाव से पीड़ित जाति प्राचीन गौरव का अनुसन्धान करती ही है और प्राचीन गौरव में अबौद्धिक अंश कम नहीं होता। किन्तु द्विवेदीजी का मुख्य कार्य था—मध्यकालीन दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रोह। जब द्विवेदीजी नए छन्दों, नए काव्य-विषयों, प्रकृति के आलम्बनगत चित्रण आदि पर बल देते हैं, तब वे वस्तुतः मध्यकालीन और मुख्यतः रीतिकालीन संवेदना और सिद्धान्तों के विरुद्ध संघर्ष करते दिखाई पड़ते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि फिराक जैसे लेखक नारी, प्रकृति आदि के सम्बन्ध में अब तक रीतिकालीन दृष्टि अपनाए हुए हैं जबकि द्विवेदीजी का मुख्य कार्य था, मध्यकालीन मानवीय सम्बन्धों में क्रांति उपस्थित करना। स्वभावतः इसके लिए उन्होंने संस्कृत काव्य के श्रेष्ठ अंशों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। सामन्तकालीन दृष्टिकोण नारी को 'भोग' का साधन समझता है और दलित वर्ग को शोषण का साधन। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इन दोनों बिन्दुओं पर नूतन बोध का वरदान दिया।

भारतभारती, प्रियप्रवास तथा अन्य कथात्मक काव्य द्विवेदीयुग की चिंतन-धारा को स्पष्ट करते हैं। प्रियप्रवास की 'राधा' रीतिकालीन राधा के विरुद्ध एक सर्वथा नवीन मानव मूल्यों को प्रस्तुत करने वाली नायिका है। 'कृष्ण' थोड़े से अलौकिक लगने पर भी अधिक बुद्धिसंगत और परोपकारी जननायक हैं। साकेत की 'उर्मिला' और यशोधरा की 'गोपा' वस्तुतः द्विवेदीजी की काव्यचेतना की ही

प्रतिमूर्तियां है। रीतिकालीन 'भोग्या' नारी की मूर्ति से यह नवीन मूर्ति कितनी अधिक प्रेरणाप्रद, भव्य और सुन्दर है! इसमें सार्वभौमिकता है और ऐसे नारी पात्र आधुनिक युग के बोध के अधिक निकट हैं। इसी प्रकार देश की गरीबी के द्विवेदी युग में सतही तौर पर ही सही परन्तु मार्मिक चित्रण मिलते हैं। प्रकृति के रूपों के साथ द्विवेदीयुगीन कवि की प्रीति रीतिकालीन कवि की प्रीति के विपरीत अधिक मानवीय है। यह स्मरणीय है कि प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण द्विवेदीजी के ही प्रयत्न का फल था, अतः प्रेम के क्षेत्र में कठोर नैतिकतावाद से स्वच्छन्दतावाद को भले ही थोड़ी हानि हुई हो पर रीतिकालीन उच्छृङ्खलतावाद के विरुद्ध इस नैतिक कठोरतावाद से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती थी। किसी व्यापक रोग को दूर करने के लिए कटु औषधि की आवश्यकता होती है, द्विवेदीजी रीतिकालीन रोगों के एक औषधि के समान ही थे। आर्यसमाजी चेतना ने भी यही कार्य किया था। कठोर प्रतिक्रिया के कारण जहां लाभ होता है, वहीं दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जाता है। इसी प्रकार यदि स्वच्छन्दतावाद को द्विवेदी युग में कुछ हानि पहुंची तो उसकी क्षतिपूर्ति छायावाद द्वारा हो चुकी है। किन्तु छायावाद में नारी की जो भव्य मूर्ति चित्रित हुई है, उस भव्यता (देवि, मां, सहचरि, प्राण पल्ल) की पृष्ठभूमि में रीतिकालीन भोगवाद के विरुद्ध द्विवेदी का 'वक्रभ्रुकुटिवाद' ही था और इस योग-दान के लिए हमें द्विवेदीजी और उनके युग का आभार मानना होगा।'

इस प्रकार सामन्तवाद से सबसे अधिक पीड़ित वर्ग 'नारी' और 'दलित वर्ग'—इन दोनों को द्विवेदीयुग में अत्यधिक सहानुभूति प्राप्त हुई।

भाषा और छन्दों के संस्कृतीकरण के विषय में निवेदन यह है कि संस्कृत भाषा पण्डितों और पुरोहितों की बपौती नहीं है। वह भारतीय जनता की एक महान भाषा है जिसमें केवल पुरोहितों की ही प्रवृत्तियां सुरक्षित नहीं हैं बल्कि भारतवर्ष के पास जो कुछ अच्छा और बुरा था, वह सब सुरक्षित है। यह इतिहास की देन है कि भारतीय मानस का बहुलांश संस्कृत से अधिक निकटता अनुभव करता है। इस भारतीय मानस में बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक सम्प्रदाय भी हैं और साधारण जनता भी है। संस्कृत में मेघदूत भी है और सत्यनारायण की कथा भी। जैन, बौद्ध और ब्राह्मणवादी दर्शन में भी इसी संस्कृत के ही शब्द अधिक हैं अतः 'उच्च हिन्दी' में यदि संस्कृत के शब्द अधिक हों तो यह उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। काव्य में सूक्ष्म संवेदनों और धारणाओं को व्यञ्जित करने के लिए संस्कृत की शब्दावली से अधिक उपयुक्त शब्दावली और कहां मिलेगी? यह कोई दुःख की बात नहीं है कि द्विवेदीयुगीन 'प्रियप्रवास' को अहिन्दी भाषाभाषी सरलता से समझ लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि सृजन की भाषा को जानबूझकर संस्कृतमय बनाया जाए। इसका केवल अर्थ यह है कि हिन्दी का स्वरूप मूलतः संस्कृत के निकट रहेगा, जबकि उसमें बोलियों और अन्य भाषाओं के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग चलेगा। सैद्धान्तिक भाषा संस्कृत के अधिक समीप होगी। व्यवहार

की भाषा लोक के अधिक निकट। दार्शनिक, वैज्ञानिक और सूक्ष्म धारणात्मक विषयों की अंगरेजी भी 'आमफहम' अंगरेजी नहीं होती, हो नहीं सकती। इसी प्रकार हिन्दी आलोचना, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति की भाषा मे संस्कृत के शब्द अधिक होंगे। किन्तु जहां आवश्यक हो उठेंगे वहां व्यावहारिक शब्दों का बहिष्कार नहीं होगा। काव्य के विषय में लोग यह भूल जाते है कि काव्य विविध रूपी होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के तीन बड़े कवियों में गुप्तजी, लोचनप्रसाद पाण्डेय और रामचरित उपाध्याय की भाषा के तीन रूप है। पाण्डेयजी की हिन्दी प्रियप्रवास की हिन्दी से अत्यधिक सरल है। हरिऔधजी ने भी भाषा के विविध रूप प्रस्तुत किये है। गुप्तजी के काव्य मे भी भाषा के विविध प्रयोग है। छायावाद की भाषा यदि फिराक जैसे कवियों को पसन्द नहीं है तो विवशता है। बात यह है कि एक खास ढांचे की ही कविता को पसन्द करने वाले पारद लेखक हिन्दीकाव्य की विविधरूपता को देख ही नहीं पाते। हिन्दी में प्रसाद, महादेवी, निराला ने कठिन और सरल सभी प्रकार के प्रयोग किए हैं। उदात्त शैली में कामायनी, राम की शक्ति-पूजा और दीपशिखा लिखे गए हैं तो गुरुभक्तसिंह, नेपाली, बच्चन आदि ने सरल भाषा अपनाई है। गद्य के क्षेत्र में प्रसाद और महादेवी ने भी अपेक्षाकृत सरल भाषा में लिखा है।

मुख्य बात यह है कि द्विवेदीजी ने हिन्दी के लिए संस्कृत का अक्षय भण्डार खोल दिया किन्तु उन्होंने यह कहीं नही लिखा कि केवल हिन्दी क्रियाओं को छोड़ कर सभी शब्द संस्कृत के हों। सूक्ष्मतम संवेदनों और उदात्ततम धारणाओं के लिए शैली की भङ्गिमा 'हिन्दुस्तानी' नहीं बन पाती, वह उच्च हिन्दी ही हो जाती है, सरल विषयों के लिए सरल हिन्दी। द्विवेदीजी के गद्य-प्रयोगों में एक निबन्ध 'भैंसा-गाड़ी' पर भी है और उनकी आल्हा शुद्ध बैसवाड़ी में।

द्विवेदीजी की 'तानाशाही' भारतवर्ष के सामान्य जनों के प्रतिनिधि लेखक की तानाशाही थी। डा. जॉन्सन से उनकी तुलना सीमित तुलना है। द्विवेदीजी राष्ट्रभाषा हिन्दी के शिक्षक और दिशानिर्देशक थे। कोई शिक्षक न सर्वज्ञ होता है, न उसके प्रयत्नों में सर्वत्र पूर्णता होती है। विकास अन्तर्विरोधात्मक होता है और द्विवेदी-युग में हिन्दू-पुनरुत्थान जैसे तत्वों को इतिहास की प्रक्रिया में रखकर देखना चाहिए कि उसे उत्तेजित करने वाली कौनसी परिस्थितियां थी। द्विवेदी जी को ही उसका उत्तरदायी ठहराना गलत है क्योंकि द्विवेदीजी भारतीय स्नायुमण्डल पर पड़ने वाले तनावों, दबावों से उत्पन्न युग-पुरुष ही नहीं थे, उनके निर्माण में भारतीय मानस के वे सभी तत्व काम कर रहे थे जिनका निर्माण भारतीय इतिहास ने एक सुदीर्घ परम्परा मे कर दिया था। महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके युग ने हिन्दी और हिन्दुस्तान के लिये जो कुछ किया, यदि हम उसे न भूलें तो हिन्दी के लेखकों को भविष्य के प्रति शङ्कालु होने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु क्या हम द्विवेदीजी के चरणचिन्हों पर चलने के लिए पूर्णतः प्रस्तुत हैं? जब तक हिन्दी के विषय मे द्विवेदीजी का स्वप्न पूर्ण नहीं होता तब तक उनका पितृ-ऋण हमारे सिर पर है!

□□□

10 बाबू गुलाबराय की सैद्धांतिक आलोचना

बाबू गुलाबराय के आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से तीन ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। 'नवरस' (संवत् 1986 वि.), 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप'। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाबूजी की व्याख्यात्मक आलोचना-पुस्तकों में सैद्धान्तिक आलोचना का अभाव है। रामचन्द्र शुक्ल-युग के और आज के नवीनतम आलोचकों की व्याख्यात्मक आलोचनाओं की विशेषता ही यह है कि उनमें मिश्रित आलोचनात्मक शैली प्रयुक्त होने के कारण व्याख्यात्मक आलोचना के साथ-साथ सैद्धान्तिक आलोचना भी चलती है।

नवरस 1929-30 ई. की कृति थी। इस समय तक जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में विदेशी सिद्धान्तों को भारतीय परिस्थिति की अनुकूलता की दृष्टि से उन्हें अपनाया जा रहा था, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में देशी-विदेशी साहित्य-सिद्धांतों का मिश्रित रूप प्रयुक्त हो रहा था। 'नवरस' सबसे पहली पुस्तक है जिसमें शास्त्र की पिटी हुई लकीर से हटकर नये दृष्टिकोण से रस के सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। वह पहली पुस्तक है जिसमे काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के उदाहरणों को छोड़ हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों के उदाहरणों को मान दिया गया है (उसमें कुछ उदाहरण अनुपयुक्त भी है) और उसमें पहली बार रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया तथा स्थायीभावों का मौलिक सहज वृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। (सिद्धान्त और अध्ययन की भूमिका, पृष्ठ 27)।

नवरस का योगदान बाबूजी के शब्दों में ही स्वयं स्पष्ट है। 1929-30 में रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का कार्य बाबूजी ने ही किया, यह स्मरणीय है। यह अवश्य है कि बाबूजी का 'मनोविज्ञान' मैगडूगल और फ्रायड तक ही सीमित था। उदाहरणतः स्थायीभावों का सहज वृत्तियों से जो सम्बन्ध उक्त मनोवैज्ञानिक बताते है, वह प्रामाणिक इसलिए नही है क्योंकि उनमें सामाजिक विकास के दौरान में मनुष्य की विकसित भावराशि अथवा उदात्तीकृत भाव-प्रक्रिया पर विचार नही किया गया किन्तु यह कमी केवल बाबूजी में ही नही है, हिन्दी के सभी परम्परावादी आचार्यों में यह दोष मिलता है। हिन्दी में जिस मनोविज्ञान का प्रयोग होता आया है, वह 'शरीर-शास्त्र' के ज्ञान से वंचित रहा आया है। अतएव बाबूजी के रस और

मनोविज्ञान के सम्बन्ध में उनकी उपलब्धि मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करने में तथा सामान्य मनोविज्ञान (जीवन-निरीक्षण पर आधारित) से साहित्य को सम्बद्ध करने में है।

नवरस की कठोर आलोचना सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'रसमञ्जरी' में प्रकाशित की थी। निश्चित रूप से सेठजी द्वारा प्रदर्शित 'शास्त्रीय-अशुद्धियाँ' नवरस में है किन्तु सेठजी की शास्त्रीय शुद्धता के बावजूद बाबूजी महत्वपूर्ण आलोचक हुए क्योंकि उन्होंने परम्परा का अन्धानुकरण न करके पाश्चात्य ज्ञान से लाभ उठाया और नये ढंग से विचार करने का साहस किया।

बाबूजी की प्रतिभा विषय और व्यक्ति दोनों तत्वों को लेकर चली है। यही कारण है कि उनके सिद्धान्तों में किसी एक पक्ष का द्वितीय पर अधिक दबाव नहीं पड़ा। आचार्य शुक्ल की 'विचारसंगति' और 'दृढ़ता' की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "शुक्लजी की प्रतिभा विषय-प्रधान थी, इसी कारण वे भावपक्ष की अपेक्षा विभावपक्ष को अधिक महत्ता देते है"......"वे अभिव्यञ्जना की शैली की अपेक्षा काव्य की वस्तु पर अधिक बल देते है।" इस विषय-प्रधानता के कारण ही शुक्लजी जहाँ छायावाद, रहस्यवाद तथा कृष्णभक्त कवियों की सीमाओं को दिग्दर्शित करने में अधिक सफल हुए, वहीं वे इनकी उपलब्धियों का अवगाहन नहीं कर सके। यह कार्य बाबू गुलाबराय के दृष्टिकोण से अधिक सम्पन्न हुआ है। सूरदास, सुमित्रानन्दन पन्त, प्रसाद, निराला आदि कवियों की आलोचनाओं में बाबूजी विषय-विषयीगत सन्तुलित दृष्टिकोण के कारण अपेक्षाकृत शुक्लजी से अधिक सफल हुए हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र में कुछ मौलिक अभाव है। यहाँ यह विचार नहीं हुआ कि "अनुभूति किस प्रकार उत्पन्न होती है" और यह कि किस प्रकार ये अनुभूतियाँ सामाजिक कार्यों के लिए प्रेरक बनती हैं। रामवत् आचरण का उपदेश अवश्य है परन्तु बदलती हुई सामाजिक स्थितियों में उसका क्या रूप होगा, यह अविचारित ही रहा है। इसी प्रकार "रसवादियों की सबसे बड़ी भ्रान्ति भाव को समाज-निरपेक्ष वस्तु समझने में है।" "अनुभावों का सामाजिक कर्मप्रेरकत्व" भी यहाँ बिल्कुल स्वीकृत नहीं हुआ। 'रसकाव्य को देशकाल निरपेक्ष सार्वजनीन मानवसत्य' के रूप में देखने के कारण, एक बार इस तथ्य को स्वीकृति मिलते ही फिर इस विषय में केवल नायक-नायिकाओं के वर्गीकरण ही चलते रहे और फलतः हमारा परम्परावादी शास्त्र नये साहित्य की समीक्षा में ही अपर्याप्त प्रमाणित नहीं हुआ अपितु वह समाज के नूतन विधान के मार्ग में बाधक भी बनता गया। आज के सभी परम्परावादी साहित्यशास्त्री, जो पुराने साहित्यशास्त्र को 'सोशल कण्टेण्ट' देने में असमर्थ हैं, वे साहित्यिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से प्रतिक्रियावाद के अनजान में ही समर्थक है। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना में एक सीमा तक संक्रान्ति या गतिरोध का कारण यही है।

उक्त कमी न पण्डित रामचन्द्र शुक्ल दूर कर सके, न बाबू गुलाबराय, न अन्य परम्परावादी आलोचक किन्तु यह स्मरणीय है कि नये साहित्य की मांगों के अनुरूप शुक्लजी, बाबू गुलाबराय, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, डा. नगेन्द्र आदि आलोचकों ने पुराने शास्त्र की नवीन व्याख्याएँ अवश्य की है, और ये रोचक हैं। शुक्लजी, श्यामसुन्दरदास, वाजपेयीजी, नगेन्द्रजी, बाबूजी तथा अन्य आलोचक रस और साधारणीकरण की व्याख्याओं में पूर्णतः इसीलिए सहमत नहीं हो पाए क्योंकि इनमें प्रत्येक नए साहित्य की मांगों के अनुरूप शास्त्र से 'नये' सिद्धांतों का दोहन करना चाहता है। शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से इनमें प्रत्येक की व्याख्याएं 'पूर्णतः शास्त्र सम्मत' नहीं हैं, अनजान में ही इनके मन की चाह, शास्त्र को, ग्रन्थकर्त्ताओं के वास्तविक मन्तव्य को स्वीकार नहीं करने देती और यह हिन्दी के लिए एक सीमा तक हितकर ही हुआ है। भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि के मन्तव्यों को लेकर हिन्दी में जो विवाद चला है, वह मेरे कथन का प्रमाण है।

इस सम्बन्ध में बाबूजी ने आचार्यों की जो व्याख्या की है वह स्पष्टतः निर्भ्रान्त नहीं हो सकती थी। इसका एक कारण आचार्यों का संक्षिप्ततावाद भी है परन्तु इससे अधिक उक्त कारण है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में बाबूजी की उपलब्धि इस बात में है कि वह सर्वत्र सजग हैं कि ये सब सिद्धांत आज कहां तक उपयोगी है। उदाहरणतः शंकुक के मत की व्याख्या में वे कहते है कि उनके मत के अनुसार उपन्यासों के काल्पत पात्रों की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार शुक्लजी के 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद और साधारणीकरण' के सम्बन्ध में बाबूजी ने लिखा है कि 'व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा से सहृदयों का आलम्बन बनता है।' (पृष्ठ 169)

इस सम्बन्ध में बाबूजी 'आलम्बनगत गुणों के साधारणीकरण' पर बल देने वाले शुक्लजी के सिद्धांत के सम्मुख सीता के साथ डैस्डेमोना का उदाहरण रखते हैं। वह सीता और हेलैन को भी साथ रखकर विचार करते थे। बाबूजी न्याय-शास्त्री भी थे। अतः न्यायशास्त्र पर शुक्लजी के आक्षेपों का भी बाबूजी ने युक्ति-युक्त उत्तर दिया है। किन्तु साथ ही बाबूजी ने शुक्लजी का एक अन्य उद्धरण देकर बाबू श्याम सुन्दरदास द्वारा शुक्लजी पर किए गए आक्षेपों का भी उत्तर दिया है यद्यपि अभिनवगुप्त का अनुसरण कर शुक्लजी द्वारा उठाये गये तादात्म्यवादी झगड़े का समाधान भी कर दिया है। बाबूजी ने डा. नगेन्द्र की व्यक्तिवादी सादृश व्याख्या पर भी विचार किया है। डा. नगेन्द्र के अनुसार 'साधारणीकरण का अर्थ है, कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।'

स्पष्टतः डा. नगेन्द्र ने अपने मत का शास्त्र से दोहन किया है और यह इस अर्थ में उपयुक्त भी है कि युग धर्म के अनुसार कामधेनु रूपी शास्त्र से नए-नए सिद्धान्तों का दोहन करना चाहिये किन्तु भट्टनायक और अभिनवगुप्त कवि की

अनुभूति का साधारणीकरण मानते थे, यह कहना कठिन है। डा. प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रस गङ्गाधर' पर अपने शोध-प्रबन्ध में शास्त्र की काफी अंशों में प्रामाणिक व्याख्या की है। यद्यपि अब भी यह विचारणीय है कि अन्ततः आचार्यों का मन्तव्य क्या था। बाबूजी जानते थे कि यह विवादास्पद है अतः वह शुक्लजी के वाक्य का संकेत लेकर डा. नगेन्द्र की व्यक्तिवादी व्याख्या को संतुलित करते हैं। बाबूजी के अनुसार 'राम सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है। यही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है।' (पृ. 177) इस प्रकार यहां बाबूजी शुक्लजी के साथ हैं और साथ ही डा. नगेन्द्रजी के साथ भी हैं। उदार दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक व्याख्या में सत्य का अंश है और बाबूजी का योगदान यही है कि वह प्रत्येक सिद्धांत से कुछ उपयोगी तत्त्व निकाल लेते हैं। उन्होंने शुक्लजी के आलम्बनगत गुणों के साधारणीकरण का विरोध किया और श्यामसुन्दरदासजी की इस व्याख्या का समर्थन किया कि साधारणीकरण पूर्ण परिस्थिति का होता है किन्तु साथ ही डा. नगेन्द्र की केवल विषयीगत व्याख्या को भी स्वीकार नहीं किया और आलम्बन के कुछ सामान्य गुणों की लोकधारणा को सम्भव मानकर शुक्लजी के 'लोक हृदय की पहचान' का समर्थन किया। शुक्लजी की प्रतिभा के विषय में लिखा कि वह विषयगत प्रतिभा थी और डा. नगेन्द्र की प्रतिभा के विषय में लिखा है कि वह विषयीगत है। (पृष्ठ 176) बाबूजी के समन्वयवाद का यह उत्कृष्टतम उदाहरण है।

'काव्य की आत्मा,' 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' जैसे निबन्धों में बाबूजी ने व्यावहारिक और स्वानुभूतिपरक दृष्टि अपनाई है। यहाँ भी प्रत्येक सम्प्रदाय से उपयोगी तत्त्व ग्रहण करने पर बल है किन्तु कोई नया सिद्धान्त प्रवर्तित नहीं है। कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शायद सर्वप्रथम बाबूजी ने ही हेगेल के कलावर्गीकरण पर हिन्दी में लिखा था। उनका "कविता और स्वप्न" शीर्षक निबन्ध कुछ अधिक मौलिक है क्योंकि यह बाबूजी का अपना क्षेत्र है। सत्य और सौन्दर्य के विचार में 'बदलते हुए सत्य' पर विचार नहीं है, यद्यपि इस तथ्य पर बल दिया गया है कि लौकिक सत्य काव्य का मेरुदण्ड है। रस और मनोवेग में बाबूजी ने अपने मनोविज्ञान का चमत्कार दिखाया है और अनुभावों के प्रसङ्ग में चार्ल्स डार्विन तक को उद्धृत किया है। इससे इस तथ्य पर बल दिया गया है कि हमारे पूर्वजों की अन्तर्दृष्टि कितनी गम्भीर थी या यह कि मानव जीवन का निरीक्षण करने में हमारे पूर्वज कितने निपुण थे। शब्दशक्ति भारतीय साहित्य-शास्त्र का एक उज्ज्वल पक्ष है। शब्द पर तथा शब्दशक्ति पर जितना सूक्ष्म और उपयोगी विचार इस देश में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं हुआ, इस तथ्य पर बाबूजी की आलोचना से भलीभाँति प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः भारतीय आलोचना का यह पक्ष प्रौढ़तम है।

अभिव्यंजनावाद और कलावाद के निबन्ध में बाबूजी शुक्लजी से कहीं अधिक प्रामाणिक भूमि पर हैं। शुक्लजी का क्रोचे पर रोष का कारण यह युगधर्म था कि कलावाद को क्रोचे के अभिव्यजनावाद में शरण मिलती थी किन्तु क्रोचे के साथ कई स्थानों पर अन्याय हो गया है। बाबूजी ने क्रोचे को अधिक उदारता के साथ देखा है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि चिन्तामणि भाग 2 के पृष्ठ 97 पर शुक्लजी ने क्रोचे के कथन का विकृतीकरण कर दिया है (242)। अतः यह कहना बाबूजी के प्रति अन्याय होगा कि बाबूजी अपने समन्वयवाद के कारण 'अस्पष्ट' हो जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह स्पष्ट कहना भी जानते हैं।

काव्य के रूप में बाबूजी व्यावहारिक स्तर पर अधिक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों की व्याख्या में भारतीय और पाश्चात्य दोनों मानदण्डों का प्रयोग किया है। सरलता और सम्पूर्णता के कारण उक्त दोनों ग्रन्थों का प्रचार छात्रों में ही नहीं अध्यापकों में भी खूब हुआ। किसी एक क्षेत्र के विशेषज्ञ अध्यापक बाबूजी पर प्रायः खीझते हैं कि बाबूजी ने यहाँ भूल कर दी है, वहाँ भूल कर दी है, किन्तु हिन्दी में साहित्यालोचन के पश्चात् सबसे अधिक जनप्रिय पुस्तकों के लेखक बाबूजी ही थे। हम उन्हें बाबू श्यामसुन्दरदास की ही परम्परा में कार्य करते हुए पाते हैं, अन्तर यह है कि बाबू श्यामसुन्दरदास ने केवल पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया था जबकि बाबूजी के ग्रन्थों में पाठ्यपुस्तकनिर्माण और स्वतन्त्रचिन्तन का कुछ इस ढंग से मिश्रण हुआ है कि उन्हें केवल पाठ्यपुस्तक लेखक कह कर बड़ी सुविधा से उनके साथ अन्याय किया जा सकता है। किन्तु साथ ही उनका दूसरा मौलिक पक्ष भी उनके ग्रन्थों में इतना स्पष्ट है कि उन्हें बड़ी सरलता से सर्वथा मौलिक समालोचक और सर्वाधिक सन्तुलित समीक्षक के रूप में भी देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में भी स्वयं बाबूजी ही वस्तुतः प्रमाण हैं, वह अपने को कभी केवल पाठ्यपुस्तक लेखक के रूप में नहीं मानते थे और अपनी मौलिकता से परिचित थे किन्तु साथ ही उनका यह कभी आग्रह नहीं रहा कि उन्हें सर्वश्रेष्ठ आलोचक मान लिया जाय। बाबूजी वस्तुतः शुक्लयुग और शुक्लोत्तर युग के एक महत्वपूर्ण आलोचक थे, इस तथ्य को जो स्वीकार नहीं करता, वह स्वर्गीय आलोचक के प्रति ही अनुदार नहीं है, स्वयं अपने प्रति भी अनुदार है।

□□□

11 भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य शुक्ल

भारतीय काव्यशास्त्र का स्वरूप पारम्परिक है और वह पारम्परिक साहित्य (और कलाओं) के स्वरूप को समझने और उसके आस्वादन एवम् प्रभाव के परिज्ञान के लिए दीर्घकालीन अवधि में विकसित होता रहा है।

परम्परा शब्द का भारतीयों की दृष्टि से अर्थ यह है कि वह पूर्ववर्ती या आर्ष अभिमतों/सूत्रों/कारिकाओं की युगानुरूप अथवा अपने काल में, अपनी बोध-शक्ति से व्याख्यायित—परिवर्द्धित/परिशोधित होती चलती है अतः पम्परा, भारतीय अर्थ में विकासवान होती है अथवा उसमें नये विकास की सम्भावना होती है। अतएव अंगरेजी के 'ट्रेडीशन' से 'परम्परा' अधिक व्यापक और गतिशील अर्थ से सम्पन्न शब्द है।

स्वभावतः 'परम्परा' रूढ़ि से भिन्न होती है। किन्तु रूढ़ बुद्धिवाले भी परम्परा के विशाल और बहुविध प्रवाह में, उत्पन्न होते रहते हैं और वे आर्ष सूत्रों से एक इंच भी इधर-उधर न जाकर उनके जड़ अर्थ या एक बार चलन में आ गये अर्थ को ही मानते रहते हैं और अपने युग की चिन्ताओं और चुनौतियों या नये प्रश्नों और आविष्कारों को नकारकर लकीर के फकीर बनकर 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' कहते रहते हैं। तथापि यह सत्य है कि परम्परा विकासशील होकर भी आर्ष या आप्त वाक्यों के मूलार्थ के निकट रहने का प्रयत्न करती है और परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होने वाली व्याख्याओं में संगति स्थापित कर शास्त्र को लोक के सन्दर्भ में प्रासंगिक बनाने का प्रयत्न करती रहती है।

इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा के ही आचार्य थे। आचार्य वह हो सकता है जो परम्परा या मूल सूत्रों या बीज-अवधारणाओं की युगानुरूप व्याख्या कर, बदली स्थितियों और बदलते समाज और संस्कृति एवम् सृजन में उन्हें प्रासंगिक बना दे। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने यह किया था अतः उन्हें आचार्य संज्ञा दी जा सकती है।

किन्तु बीज विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः।[1]

---

1. दण्डी : काव्यादर्श

प्राचीन आचार्यों द्वारा विशिष्ट परिकल्पनाओं के मूल तत्त्वों का ही उद्घाटन हुआ है। उसी मूल बीज का परिष्कार करने के लिए हमारा यह परिश्रम है। आचार्य शुक्ल की काव्यशास्त्रीय व्याख्याओं पर यह अभिमत यथावत लागू होता है।

आचार्य शुक्ल अभिमतो मे ही नही, रुचि में भी परम्परा-वादी थे अतः वाल्मीकि— कालिदास आदि संस्कृत के महाकवियों और तुलसी, जायसी, सूर आदि भक्तिकालीन कवियों में जो सामान्य काव्यप्रवृत्ति है, उससे वह तादात्म्य कर चुके थे। भारतीय कालजयी या क्लासिकल कवियों की रचनाओं की सामान्य विशेषता है—भावप्रधानता अतः हृदयसंवादी कविता को वे सर्वोच्च महत्त्व देते हैं। भावात्मकता, हमारे देश की कविता में ही नहीं, नाटकों में भी प्रधान थी। ए. बी. कीथ ने यूनानी और भारतीय नाटकों की तुलना करते हुए यह लक्षित किया था कि भारतीय रूपको में भावों (रसो) का चित्रण सर्वोत्कृष्ट है किन्तु उनमें न प्रश्ना-कुलता है, न यथार्थ-वाद है क्योंकि जीवन और समाज सम्बन्धी सभी प्रश्नों के उत्तर शास्त्र दे चुके थे और वे जीवन के प्रयोजन भी निश्चित कर चुके थे। परिवर्तनहीन, निश्चित मर्यादावाले समाज में जीवनदृष्टि और समाजदृष्टि निश्चित और मान्य थी अतः भारतीय नाटककारो के सामने केवल भाव-चित्रण का कार्य था, जिसमें वे अद्वितीय थे।

आचार्य शुक्ल भी इसी भारतीय पारम्परिक रुचि और प्रवृत्ति के व्याख्याकार थे अतः उनके काव्य-सिद्धांत (Poetic Theory) में हृदयगत भावों की व्यापकता, निजता की निमग्नता और सामान्य एवम् स्थायी भावदशाओं में रमते हुए, लोकहृदय के साथ तादात्म्य पर बल अधिक है, मानव व्यक्तित्व की विविधायामता, नवीनजीवन और समाज-दृष्टियों एवम् मूल्यों को वे 'व्यक्तिवैचित्र्य' की कोटि मे डाल देते हैं।

हृदयसंवादी या भावुक कविता का स्थायी महत्त्व उनकी दृष्टि में यह है कि दिन-पर-दिन जटिल होती हुई सभ्यता मे मनुष्य के भाव दब जाते हैं या छिप जाते हैं। सभ्यता के प्रपंच को वेधकर सहृदय कवि, मूल मानवभावो को पुनः-पुनः अभिव्यक्त कर, मानवमात्र की सामान्यता (general humanity) की रक्षा करता है यानी अमानवीयकृत 'परिस्थितियों-पद्धतियो' में पड़े मनुष्य के मूल को कवि बचाये रखता है अतएव आचार्य शुक्ल की दृष्टि मे कवि ज्ञानयोगी, कर्मयोगी के ही समकक्ष 'भावयोगी' होता है।[2]

---

2. "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का संचार होता है.... इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"
आचार्य शुक्ल : रसमीमांसा, पृ. 1

कवि मूल मानवता का रक्षक है। वह जगत के नाना रूपों का साक्षात्कार कराता है और संकुचितवृत्तियों से हमारे चित्त को ऊपर उठाता है। वह अमानव बनानेवाली स्थितियों में भी हमें मनुष्य बनाये रखता है। यह शुक्लजी की दृष्टि में कविता की भूमिका है।

यहां द्रष्टव्य यह है कि शुक्लजी का काव्यसिद्धान्त मानवमात्र के लिए है, वर्गमानव के लिए नहीं। प्रश्न यह होगा कि परिवर्तन की दृष्टि से, अवांछनीय—अमानवीय विषम सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन की दृष्टि से इस अत्यन्त व्यापक काव्यसिद्धान्त में विषमता से मुक्ति के लिए कोई गुंजाइश है या नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि अपने पारम्परिक इस भाव-सिद्धांत या रससिद्धांत के भीतर आचार्य शुक्ल ने परिवर्तनकारी तरंगों या बाढ़ों की भी सम्भावना रखी है और इस दृष्टि से उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र का सीमा-विस्तार किया है। ऐसा भी नहीं है कि परम्परा में सृष्टि, स्थिति और प्रलय की अवधारणाएं न हों। भारतीय काल-सिद्धांत में जन्म, स्थिति और संहार की दृष्टि सर्वस्वीकृत है। इसी मूल भारतीय दृष्टि का विस्तार करते हुए आचार्य शुक्ल स्थिति और गति के द्वन्द्व और बाद में पुनः स्थिति पर विचार करते हुए काव्यसिद्धान्त को फैलाते है।

"यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बंधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता से पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर वह उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि, लोकगति के रूप का भी साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बंधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है, तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख, शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवनप्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है, जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखलता का वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।"[3]

पारम्परिक दृष्टि के भीतर भी परिवर्तन या क्रान्ति का बोध छिपा हुआ है, आचार्य शुक्ल के इस परिच्छेद से यह स्वतः प्रमाणित है। न्यूनता यदि है तो यह कि परिवर्तन की प्रक्रिया यानी गति का बोध तो यहां है पर बल, स्थिति यानी मर्यादा-वाद पर है और यह कि आचार्य शुक्ल परिवर्तन के कारणों, कारकों (वर्गों) और परिवर्तन की प्रकृति पर कुछ नहीं कहते पर परिवर्तन की प्रक्रिया और उसकी अनिवार्यता पर उनका ध्यान था, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है।

3. वही पृष्ठ 14

लोकगति या लोकचेतना या लोकसम्वेदना की सरिता में जब बाढ़ आती है तभी तो उसे 'क्रांति' कहा जाता है और यह भी ठीक है कि वह स्थायी दशा नहीं होती। काल की अवधि की दृष्टि से स्थिति अधिक काल तक चलती है, उथल पुथल अल्प समय तक रहती है पर उथल-पुथल अनिवार्य है। यदि विषमता है तो बाढ़ आनी ही है, यह बोध आचार्य की शब्दावली में स्पष्टतः रेखांकित हुआ है।

यदि यह सही है और मैं समझता हूँ कि यही सही है तो आचार्य शुक्ल के अनेक अवधारणाओं और अभिवृत्तियों का रहस्य भी खुल जाता है। जीवन प्रक्रिया में स्थिति, गति और पुनःस्थिति का विश्वबोध स्पष्ट होने के कारण ही आचार्य शुक्ल गांधीवादी—तोलस्तोयपन्थी हृदयपरिवर्तनवाद पर व्यंग्य करते और तिलकपन्थी गरम नीति और क्रांतिकारियों के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं। इस कारण वह कोमल रसो (शृङ्गार, हास) के साथ-साथ राम के कालाग्निसदृश, लोक पीड़कनिशाचरनाशक क्रोध (वीर रस, भयानक रस, रौद्र रस) की अभ्यर्थना करते है और इसी कारण वह लोकपरक क्रोध के नीचे, करुणा के बीजभाव का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करते है जो इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि समकालीन पूँजीवादी-सामन्तवादी सभ्यता और व्यवस्था के अधिष्ठाताओं—संचालकों—मालिकों—मुसाहियों के विरुद्ध जो आक्रोश सामयिक वामपन्थी राजनीति और साहित्य में उमड़-घुमड़ रहा है, वह यकीनन वर्गघृणा पर आधारित है पर उसमें निजी नफरतें नहीं हैं, यानी वह व्यक्तिगत विकृत क्रोध नहीं है और उसकी पृष्ठभूमि में करुणा का बीजभाव है।

इसी उक्त जगत् की स्थिति, गति और पुनः स्थिति के प्रत्यय के कारण तथा मानववादी भारतीय परम्परा के संस्कार के कारण आचार्य शुक्ल जगह-जगह पूँजीवाद और व्यक्तिवाद का घोर विरोध करते है यों स्थिति पर, गति से अधिक बल के कारण वह सोवियत रूस की साम्यवादी क्रान्ति और शोषित जनसाधारण की वर्णहीन व्यवस्था का समर्थन नहीं करते अतः आचार्य शुक्ल का विश्वबोध तथा लोकवाद पूर्णतः क्रांतिकारी नहीं है, यह भी स्पष्ट ही है।

यही स्थिति उनके वस्तुवाद की है। वह पारम्परिक अधिदर्शनात्मक विश्वबोध को प्रारम्भ और परिणति के रूप में मानते हैं तथापि जगत के विकास की प्रक्रिया को वैज्ञानिक विकासवाद से व्याख्यायित करना चाहते हैं। यह शांकर अद्वैत और नागार्जुन शून्यवाद की तुलना में, वैष्णव आचार्यों के सत्-चित् आनन्द की शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्म या परमसत्ता को मानते है और जगत् में परमसत्ता का आविर्भाव और प्रलय मे उसी का तिरोभाव देखते है अतः यह वस्तुवाद वैष्णवी अद्वैत वेदान्त के मेल मे आ जाता है तथापि वह 'अध्यात्म' और अधिदर्शन के विरोधी हैं।

'भूतवाद भौतिक जगत के उपयुक्त है पर दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारण परम्परा के अनु-

सन्धान रूप में। इसके परे जो बातें हैं वे दूसरे क्षेत्र की हैं और दूसरे उपायों से जानी जाती हैं। आध्यात्मिक बातों को रसायन और भूतविज्ञान के शब्दों में बताना असम्भव है। इसी से उनका अस्तित्व ही अस्वीकार किया जाता है। वे केवल भ्रांतिलक्षण मानी जाती हैं। पर ऐसी अनधिकार चेष्टा अनुचित है,।[4]

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल को, सैद्धान्तिक शब्दावली में 'वस्तुगत प्रत्ययवादी' (Objective Idealist) ही कहा जा सकता है, वैज्ञानिक भौतिकवादी नहीं।

किन्तु जगत् में ब्रह्म का आविर्भाव—तिरोभाव मानने के कारण आचार्य शुक्ल इस सारे संसार या प्रकृति को ब्रह्म की कविता या कला के रूप में देखते थे और कविता के लिए वस्तुगत जगत् और समाज को ही पर्याप्त मानते थे। अपनी वस्तुगतता के कारण वह अज्ञेय ब्रह्म के साथ प्रेम-सम्बन्ध की रहस्यवादी पेशकश को अमूर्त्तता और कृत्रिमता के कारण उपयुक्त नही कहते थे। रहस्यवादियों में भी साधको का रहस्यवाद तो उनकी समझ में आ जाता था, क्योंकि मीरा, कबीर, जायसी आदि सच्चे साधक थे पर छायावादियों की रहस्यवादी कविता में उन्हें अनुभूतियों की कृत्रिमता और ऊँची उड़ान प्रतीत होती थी।

सिद्धान्ततः ब्रह्म या अदृश्य परमसत्ता में यदि कोई विश्वास करता है, तो उस अमूर्त्त, निर्गुण सत्ता के प्रति प्रेम भी सम्भव मानना होगा क्योंकि आत्मा और परम-आत्मा में अन्तर न मानने से अंश की अंशी के प्रति उन्मुखता, व्याकुलता, विरह और संयोग या एकता के आभास या अनुभव हो सकते हैं। यह आध्यात्मिक प्रेम और विरह भी, मानवीय-प्रेम की भाषा में व्यक्त होने से प्रभावक भी होगा। सूफियों में ही नही, सभी निर्गुण सन्त कवियो —कबीर, दादू, नानक आदि साधको की कविता मे व्यक्त प्रेम, अपनी मानवीयता के कारण प्रभावित करता है। मानवीय प्रेम के सादृश्य के कारण स्वयं शुक्लजी ने रहस्यवादी रचनाओं की प्रशंसा की है क्योंकि साधको की अनुभूतियों में सच्चाई थी और वे सादृश्य-सम्बन्ध स्थापन में निपुण थे।[5]

अन्ततः आध्यात्मिक प्रेम के वर्णनों मे भी प्रेम का ही वर्णन होता है। इसके सिवा उस प्रेम के दिक्कालातीत होने के कारण पाठक या श्रोता मे चेतना के उन्नयन के कारण (Transcendence) अमूर्त्त ही सही, पर मुक्ति की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। यही कारण है कि श्रोता आज तक निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति मीरा —कबीर—नानक—दादू आदि सन्तों की वाणियों मे तन्मय हो जाते है।

4. आचार्य शुक्ल : चिन्तामणि भाग-3, पृ. 179
5. "नाना रागबन्धनों से युक्त इस ससार के छूटने का दृश्य कैसा मर्मस्पर्शी है। भावुक हृदय में उसका क्षणिक साम्य, मायके से स्वामी के घर जाने मे दिखाई देता है।" आचार्य शुक्ल : रसमीमांसा, पृ. 252

मानव-चेतना, दिक्काल और संसार के विग्रहों-व्याधियों, क्षणभंगुरताओं और अपूर्णताओं के आर-पार जाने की प्रक्रिया में पड़कर एक उदात्तीकृत मनोभूमि में पहुँच जाती है। रहस्यवादी कविता में निमग्नता का यही मनोवैज्ञानिक कारण है।

अन्तर्मुखता के मनोविज्ञान पर विचार करते हुए मार्क्सवादी आलोचक ए. प्रोगानोव लिखते हैं कि मानवचेतना, सामान्यतः बहिर्मुख रहती है, व्यावहारिक जीवन में उसे बहिर्मुख रहना ही है परन्तु चेतना भीतर की ओर, अपनी ओर भी मुड़ती है। उसे चेतना की अन्तर्मुखी क्रिया की घनीकृत देहरी या ड्योढ़ी कह सकते हैं। इस स्थिति में कलाकार की चेतना स्वयं अपना विषय (वर्ण्यविषय) बन जाती है।[6]

वस्तुत. रहस्यवादी कविता में चेतना, अपने को ही वर्ण्यविषय बना लेती है और उसकी तड़प और अतिक्रमणशील तरंगों को, मानवीय प्रेम की भाषा में व्यक्त करती है।

अतएव अध्यात्मवादी दृष्टि से जो साधनात्मक कविता कही जाती है, मनोवैज्ञानिकदृष्टि से उसे अन्तर्मुखी आत्मविश्लेषणात्मक मनोविज्ञानपरक कविता कहा जा सकता है। सच्चे रहस्यवादी कवियों की रचनाओं में जो चीज़ प्रभावित करती है वह उनके विश्वास की सच्चाई, अनुभूति की तीव्रता और अन्तर्मुख प्रेम और बहिर्मुखी क्षेत्रों का सादृश्य।

इसके सिवा आचार्य शुक्ल ने यह भी नहीं सोचा कि एक विशेष कालावधि मे रहस्यवादी कविता क्यों उभरती है? भारतीय समाज की परम्परा वर्ण-वर्ग-प्रधान रही,है यानी भारतीय समाज में करोड़ों मनुष्यों को, स्त्रियों और निम्नवर्ग के लोगों को नीच माना गया है और उन्हे पुरुषप्रधान वर्गसमाज में नीची निगाह से देखा गया है अतः शास्त्रीय-विचारधारा के समानान्तर, गुरु और स्वानुभव के बल पर रहस्यवादी साधकों और योगियों की आगम-परम्परा में वर्णदम्भ, आडम्बर और भेदभाव के विरुद्ध लगातार लड़ाई लड़ी गयी है। रहस्यवादी कविता को दरअसल, इस सामाजिक विरोधप्रतिरोध की दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए था। छायावाद में भी प्रेम की स्वच्छन्दता का संघर्ष, सामन्ती मर्यादावादी विधि-निषेधों के विरुद्ध था।

---

6. ["Consciousness is also turns inwards....We are discussing self-awareness and self-knowledge—the extreme thresholds of the consciousness's subjective activity .. where the artist is not only the subject but also the object of his art."

Problems of Contemporary Aesthetics
Moscow, 1984, Page 232]

आचार्य शुक्ल ने गति या विद्रोह को मानकर भी, स्थिति या मर्यादावाद पर अधिक बल दिया है, यह कहा जा चुका है और यह भी कि आचार्यश्री स्वभावतः और रुचि की दृष्टि से ही नहीं, अपनी वैष्णवी विचारधारा या अभिव्यक्तिवादी वेदान्ती सिद्धांत के कारण व्यक्त जगत् तक ही कविता को सीमित रखना चाहते थे। वह अज्ञेय की जिज्ञासा को रहस्यवादी कविता में स्वीकार कर लेते थे पर अज्ञेय सत्ता के साथ प्रेम सम्बन्धों को राग की निर्विशेषता के कारण मान्यता नहीं देते थे। इससे सिद्ध—नाथ—सन्त कवियों के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो सका यद्यपि आचार्य शुक्ल ने कई जगह सन्त कवियों की प्रशंसा की है।

आचार्य शुक्ल के काव्यसिद्धांत में, भारतीय काव्यशास्त्र को प्रकृति के संदर्भ में विस्तार दिया गया है। प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन यद्यपि वाल्मीकि और कालिदास आदि में मिलते हैं तथापि समग्रतः कविता का विषय नरक्षेत्र ही रहा है अतः काव्य शास्त्र में भी प्रकृति को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिल सका। आचार्य शुक्ल ने, प्रकृति को स्वतंत्र स्थान देने पर बहुत जोर दिया है और प्रकृति के संश्लिष्ट या ब्यौरेवार वर्णनों के 'प्रकृतिरस' को रेखांकित किया है। अप्रस्तुतविधान या उपमान या बिम्बों या प्रतीकों के रूप में ही प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग काफी नहीं है अपितु प्रकृति के साथ तादात्म्य से जन्य जो आनन्द आता है, उसका स्वतंत्र महत्व है। प्रकृति रस के ग्रहण से मनुष्य के हृदय का विस्तार होता है और सृष्टि के साथ मनुष्य का नाता जुड़ता है।

प्रकृति वर्णन को आचार्य शुक्ल ने देशभक्ति से भी जोड़ा है। वह कालिदास के मेघदूत में मात्र शृंगाररस नहीं देखते, उन्हें उसमें 'प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर प्रेमदृष्टि' दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल 'प्रकृतिरस' के प्रत्यय द्वारा पारम्परिक रस-सिद्धांत की सीमा को फैलाते हैं।

रससिद्धांत में चूंकि भाव-प्रधानता पर बल दिया गया है अतः आचार्य शुक्ल भावप्रेरित उक्ति को ही कविता मानते हैं। भावहीन उक्ति, उनके लिए सूक्ति है, जिसे कविता का उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार भावप्रेरित कल्पना को ही वह कवितात्मक कल्पना मानते हैं। भावहीन मनमानी स्वच्छन्द उड़ानों, फन्तासियों और ऊहात्मक आभासों एवम् असामान्य, अजीब संयोजनों को शुक्लजी कविकल्पना नहीं मानते। इसी कारण व्यक्तिवैचित्र्यवादी और कलावादी काव्यकला सिद्धान्तकारों—क्रोचे, ब्रेडले और कार्मिज का खण्डन करते हैं और आई. ए. रिचर्ड्स के इस प्रत्यय का समर्थन करते हैं कि जीवनानुभूति और कलानुभूति की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं होता।

यह ठीक है कि इस बिन्दु पर आचार्य शुक्ल का रुख और तर्क कलावाद और स्वच्छन्दतावाद की मनमानियों के विरुद्ध संघर्ष में हमारे लिये काम के हैं

तथापि प्रश्न यह होगा कि आधुनिक कला और साहित्य में स्पष्टतः भाव की जगह बौद्धिकता की प्रधानता है। नयी कविता और कला में मार्शल प्रूस्त, काफ्का, जेम्स ज्वॉयस के उपन्यासों—अमूर्त अभि-व्यंजनावादी चित्रकला में, अतियथार्थवादी कविता और कथा-साहित्य में, मूल्यों और चेतना का संघर्ष है। उसमें पारम्परिक रूप का विरूपण और भावुकता के स्थान पर नये परिप्रेक्ष्यों का बोलबाला है। ऐसे साहित्य और कलाओं को पारम्परिक रस-सिद्धान्त से कैसे जांचा जाये ?

आचार्य शुक्ल के सामने यह चुनौती थी। इसके दो विकल्प हो सकते थे। या तो आचार्य शुक्ल आधुनिक सृजन को रद्द कर देते क्योंकि उनके अनुसार उसमें भावप्रेरित कला नहीं है, भावातीत कल्पना की क्रीडा है अथवा दूसरा विकल्प यह था कि वह भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य रससिद्धांत का क्षेत्र फैलाकर भाव की पुनर्व्याख्या कर आधुनिक साहित्य के लिए थोड़ी-बहुत गुंजाइश पैदा करते।

'थोड़ी-बहुत गुंजाइश', इसलिए कि आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व और रुचि, आदर्श और मूल्य, आधुनिक व्यक्तित्व के समानान्तर चलते हैं। वहां वैयक्तिक-स्वतन्त्रता, प्रयोग-शीलता और नये मूल्यों की वैयक्तिकता के स्थान पर प्राचीन मर्यादाओं और लोकप्रचलित मानसिकताओं की ही स्वीकृति है, लोकरूढ़ियों और लोक-विश्वासों से व्यक्ति की टकराहटों के द्वन्द्व और संगति का क्षेत्र आचार्य शुक्ल में विचार का विषय नहीं बना है, अतः कलावाद के विरुद्ध उनके विकट संघर्ष में प्रायः यह लगता है कि शुक्लजी भावात्मक या भावप्रेरित साहित्य और कला को मानकर, शेष सब आधुनिक, बौद्धिक, मूल्यमीमांसागत, प्रयोगपरक साहित्य और कलादि को अस्वीकृत कर, अपने भारतीय रससिद्धान्त को बचा ले जाते हैं।

यह सत्य है कि आचार्य शुक्ल का भावनावादी काव्यप्रतिमान, बौद्धिक/अतिकल्पनाप्रधान/यथार्थवादी सृजन पर लागू नहीं हो सकता। उसे यथावत् लागू करने पर विवेच्य साहित्य और कला के साथ अन्याय होने लगता है। तथापि प्रशंसनीय यह है कि आचार्य शुक्ल ने रसात्मक/भावात्मक काव्य को मूर्धन्यता देकर भी, भाव और रस की व्यापक व्याख्या कर, भाव-रस के वृत्त में उस साहित्य को भी शामिल करने की पेशकश की है जिसमें लोक हृदय और भाव के आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं होता, रसभोक्ता की जगह 'शील द्रष्टा' की स्थिति आ जाती है।

आचार्य शुक्ल इसके लिए सर्वप्रथम भाव-वृत्त में ज्ञान को खींचकर लाते हैं—

"ज्ञान ही भावों के प्रसार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियजज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया

और सभ्यता बढ़ती गयी त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान, बुद्धि व्यवसायात्मक होता गया.......उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार करना पड़ेगा।"[7]

"इन्द्रियज संवेदन वेदनाप्रधान होता है, वासना प्रवृत्तिप्रधान होती है और भाव वेद्यप्रधान (आलम्बनप्रधान)⋯⋯प्रत्ययबोध की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने भाव शब्द का प्रयोग किया है। रति क्रोध, भय आदि की वासनात्मक अवस्था में किसी चेतनदशा की अपेक्षा नही⋯⋯वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया⋯⋯(अतः) प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेग-युक्त प्रवृत्ति, इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम भाव है।"[8]

'प्रत्यय-बोध' पर इतना बल यहाँ इसलिए दिया गया है क्योंकि आचार्य शुक्ल प्रत्ययप्रधान सृजन को भी रस-चक्र में खींचकर लाना चाहते थे।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आचार्य शुक्ल पूर्णतः बौद्धिक व्यापार को, भावविधान के अन्तर्गत स्वीकृति देना चाहते थे—

'भावविधान के अन्तर्गत केवल 'बुद्धि का क्रिया करना' यह बात होती है, स्वयं क्रिया नहीं। केवल बुद्धि की विलक्षणतासूचक जो बातें होती हैं, वे रस में नहीं घुलतीं।'[9]

स्पष्ट है कि इस सीमा विस्तार में कुछ बौद्धिक सृजन तो समेट लिया गया, पर वही, जिसमें बुद्धि सक्रिय तो होती है पर उसका सम्पूर्ण वैलक्षण्य रस-चक्र में आ ही नहीं सकता अतः आचार्य ने साफ कहा कि काव्य में बौद्धिक क्रिया के समस्त ऊहापोह के लिए गुंजाइश नहीं है पर "घटनाक्रम प्रधान आख्यानों (उपन्यास, कहानी आदि) में तो वे अच्छी तरह खप जाती हैं; पर रसप्रधान प्रबन्धकाव्यों में वे इसका परिपोषण नहीं करती।"[10]

निष्कर्ष यह निकला कि शुक्लजी का काव्य सिद्धांत, पारम्परिक भारतीय काव्यशास्त्र के काव्यसिद्धांत से कुछ अधिक व्यापक होने पर भी, अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त नहीं है। आचार्य ने स्वीकार कर लिया कि रससिद्धांत को इतना व्यापक नहीं बनाया जा सकता कि उसमें आख्यान साहित्य भी आ जाये क्योंकि बौद्धिकता के लिए काव्य मे एक हद के बाद स्थान नहीं हो सकता। होगा तो ऐसा काव्य रसात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

डा. नगेन्द्र ने इस भेदक तत्त्व की परवाह न कर रससिद्धांत को इतना व्यापक बनाया कि उसमें अतिव्याप्तिदोष आ गया अतः वह स्वीकृत नहीं हो सका।

---

7. आचार्य शुक्ल : रसमीमांसा, पृ. 15
8. वही, पृ. 117
9. वही, पृ. 133
10. वही, पृ. 134

इस आधार पर कि कला और साहित्य मात्र के मूल में कोई राग या भावश्लेष रहता है अतः सब प्रकार का साहित्य रसचक्र के भीतर आ जाता है, अतिव्याप्ति है। और यह भी गलत है कि जहाँ-जहाँ राग प्रेरक रूप में होगा, वहाँ रस मान लिया जायेगा। रस, राग और भाव की परिपक्वावस्था में ही माना गया है अन्यथा वैरागी में भी रस मानना होगा। वैरागी में भी मुक्ति की सूक्ष्म इच्छा या राग होता है पर वहाँ रस नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सैमुअल बेकेट के 'वेटिंग फ़ार गोदो' में रसानुभूति नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ स्थिति का बोध है, रागात्मकता वहाँ नहीं है।

तथापि आचार्य शुक्ल के 'बीजभाव' की धारणा से ऐसे स्थिति-बोधपरक और बौद्धिक/प्रतिकल्पनापरक असामान्य सृजनों की व्याख्या की जा सकती है। क्या सैमुअल बेकेट के नाटक के मूल में करुणा का बीजभाव नहीं है? क्या काफ्का की उस दृष्टि के नीचे करुणा नहीं है जो व्यवस्था : सत्ता को एक अगम्य दुर्ग या जीवन को एक प्रहेलिका के रूप में देखती है? क्या जेम्स ज्वायस के 'यूलिसिस' के असामान्य/अभद्र/विरूपित पात्र, अमानवीकृत सामाजिक व्यवस्था के शिकार होने के कारण करुणा नहीं जगाते?

निष्कर्ष यह कि डा. नगेन्द्र के अतिव्याप्तिवादी रससिद्धांत की जगह, आचार्य शुक्ल के बीजभाव वाला प्रत्यय अधिक अन्तर्दृष्टिसम्पन्न और उपयोगी है।

इसके सिवा, आचार्य शुक्ल 'असम्बद्ध भावों के रसवत् गृहण' की बात भी कहते हैं—

"नियतप्रधान भाव और नियत संचारी दोनों अलग-अलग असम्बद्ध रूप में भी आते हैं। इस असम्बद्ध रूप में भावपूर्ण रस पुष्ट चाहे न माने जायें पर उनका ग्रहण रस के समान ही होता है क्योंकि श्रोता या दर्शक के हृदय में उनके द्वारा किसी-न-किसी प्रकार का भावसंचार अवश्य होता है।

आलम्बन को सामान्य रूप न प्राप्त होने पर भाव का साधारणीकरण तो न होगा, जिससे श्रोता का ध्यान आलम्बन पर रहे और वह उसके प्रति उसी भाव का अनुभव करे, जिस भाव को आश्रय प्रकट करता है पर आश्रय के भावात्मक स्वरूप का श्रोता को साक्षात्कार होगा जिससे उसके (आश्रय) सम्बन्ध में वह अपनी कोई सम्मति या अपना कोई भाव स्थिर कर सकेगा।"[11]

पारम्परिक काव्यशास्त्र में तो रस वही माना जाता है, जहां आलम्बन या पात्रों की रचना, 'लोकहृदय' के अनुरूप हो, यथा, राम, कृष्ण, आदि ताकि उनके साथ आश्रय और श्रोता/दर्शक तादात्म्य कर सके, भाव और रस में कोई बाधा/विघ्न न आये। किन्तु रसनिरपेक्ष साहित्य और कला में तो पात्रों में व्यक्तिवैचित्र्य होगा, 'लोकहृदय' वहां रम नहीं सकता, वह तटस्थ होकर शीलद्रष्टा हो जायेगा परन्तु

11. वही, पृ. 17

प्रशंसनीय यह है कि आचार्य इस दशा में भी रसात्मक अनुभूति का एक प्रकार मान लेते हैं और भारतीय काव्य सिद्धांत का क्षेत्र बढ़ा देते है । वह यहां तक कह गये हैं कि इस प्रकार के रस-निरपेक्ष सृजन में श्रोता या दर्शक वर्णित भावानुभूतियों आदि के अतिरिक्त किन्हीं अन्य भावों का भी अनुभव कर सकता है ।'[12]

स्पष्ट है कि पारम्परिक रसप्रधान काव्यों में व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है पर रसनिरपेक्ष काव्य में श्रोता । पाठक का व्यक्तित्व सजग/तटस्थ रहता है या रह सकता है और वह वर्णित विषय या भाव या प्रत्यय के समानान्तर रहकर अन्य किसी भाव या बोध या सोच-विचार में लगा रह सकता है । अतः आचार्य शुक्ल साधारणीकरण वहीं सम्भव मानते है जहां 'लोकहृदय' के अनुरूप पात्रों का सृजन हो किन्तु असाधारणीकृत दशाओं में भी श्रोता/पाठक/दर्शक को, 'शीलद्रष्टा' की स्थिति में भी, एक विशेष प्रकार की रसानुभूति या कवितात्मक आनन्द आयेगा, इसमें सन्देह नहीं है ।

'आनन्द' के हलके या मनोरंजनात्मक अर्थ का ही आचार्य ने विरोध किया है परन्तु वह आनन्द शब्द के उच्चतर अर्थ से परिचित थे । आनन्द भारतीय काव्य-शास्त्र में दुख-सुख से परे उच्चतम कोटि का अनुभव माना जाता है तभी करुण, भयानक और बीभत्स रसों में आनन्द की सम्भावना मानी गयी है । आचार्य शुक्ल इस अर्थ का खण्डन नही करते । वह तो आनन्द के व्यक्तिगत सुखभोग के अर्थ के विरोधी हैं ।'[13]

इसी प्रकार अलौकिक शब्द के विषय में भी व्यर्थ भ्रम फैलाया जा रहा है । भारतीय काव्यशास्त्र, काव्य और कलादि में भावित भाव और रस को लौकिक-अनुभव से भिन्न मानते है पर उसे किसी और लोक का मान बैठना गलत होगा । वस्तुतः अलौकिक का अर्थ यह है कि लोकानुभव या जीवनानुभव, काव्य और कला में गुणात्मक रूपान्तरण प्राप्त कर लेता है । लोक में रति की प्रकृति और काव्य में वर्णित रति, रस बनकर शृंगार रस कहलाती है क्योंकि वह वास्तविक रति पर आधारित होकर भी गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है अतः रसचक्र में अलौकिकता का अर्थ उच्चतर अनुभव है, वास्तविकता के परे किसी अतीन्द्रिय चीज़ का नाम अलौकिकता नहीं है ।

रस चक्र को विस्तृत कर रस-निरपेक्ष सृजन की सम्भावना मानने पर भी यह स्मरणीय है कि आचार्य शुक्ल भाव प्रधान या रसपरक काव्य को ही मूर्धन्य स्थान देते हैं । तन्मयीभाव के इस प्रकार के सृजन मे व्यक्तित्व की पृथकता का विलयन हो जाने से शुक्लजी इस रसदशा को व्यक्तिवादी कलानुभूतियों की दशा से

12. वही, पृ. 174
13. "आनन्द शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ मे ग्रहण करना नहीं जँचता ।"—रसमीमांसा, पृ. 199

श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि रसनिरपेक्ष कला-काव्यादि में भेदवाद बना रहता है, संविद् की विश्रान्ति वहां नहीं हो पाती। आचार्यश्री ने व्यक्तिवाद को भेदवाद या अहंवाद का मूलस्रोत माना था और पाश्चात्य देशों में इसके प्रचलन को, भारतीय परम्परा के रसवादी साहित्य और कला के विरुद्ध ठहराया था। आचार्य शुक्ल इतने जागरूक थे कि उन्होंने यह भी देख लिया था कि 'नयी समीक्षा' में व्यक्तिवाद स्थान बदल कर व्यक्तित्व से कृति पर आ गया है।

"व्यक्तिवाद.....की नींव भेदभाव पर है। अब तक 'कवि के व्यक्तित्व' के नाम पर भेद प्रदर्शन होता था, अब उसकी कृति 'कृति के व्यक्तित्व' के नाम पर होने के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। अब तक किसी कविता में उसके (कवि के) व्यक्तित्व को प्रधान वस्तु कहने की चाल थी। पर अब 'कृति' ही प्रधान वस्तु कही जाने लगी है और उसकी सत्ता कवि और श्रोता (या पाठक) दोनों से स्वतन्त्र ठहरायी जाने लगी है।"[14]

आज शुक्लजी के जन्मशताब्दी वर्ष में जो आचार्य शुक्ल की जयजयकार कर रहे हैं, उनमें वे भी व्यक्तिवादी अहंग्रस्त 'प्रगतिशील' आलोचक भी हैं जो अपने घोषित मार्क्सवाद के साथ, नयी समीक्षा के प्रत्ययों का मनमाना घोल तैयार करते रहे हैं। आचार्य शुक्ल में परस्पर विरोधी प्रत्ययों का घपला नहीं है। उन्होंने भारतीय परम्परा के काव्यशास्त्र का सीमाविस्तार अवश्य किया है पर इतना नहीं कि वह अपनी पारम्परिक बुनियाद (रसवाद) से च्युत हो जायें और त्रिशंकु की तरह न देश के न विदेश के क्रियाकारी दिखाई पड़ने लग जायें। उनके काव्य-सिद्धांत की सीमा है पर उनमें आयातित अवधारणाओं/प्रविधियों का मनमाना मिश्रण नहीं है।

आचार्य शुक्ल आदर्शतः तथा स्वभावतः व्यक्ति वैचित्र्य और चमत्कारवाद के विरोध में पारम्परिक रसवाद का विस्तार कर रहे थे। परन्तु इस चक्कर में वह वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद का भेद नहीं करते, न स्वच्छन्दतावाद और आधुनिक सृजन में वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद के भेद के आधार पर विवेचन करते हैं। चूंकि स्वच्छन्दतावाद और आधुनिक कला और साहित्य में व्यंजना या ध्वनि की प्रधानता है अतः वह इस पारम्परिक सिद्धांत का भी खण्डन करने लगते हैं कि रस व्यंग्य होता है, अभिधेय नहीं।

"आप अवधि बन सकूँ कहो तो क्या कुछ देर लगाऊँ, मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।" (मैथिलीशरण)

"इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत, और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब अपने आप ही मिट जायेगी, तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी कैसे? पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि के अग्राह्य

14. आचार्य शुक्ल : रसमीमांसा, पृ. 244

वाच्यार्थ में है। इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट होता है कि वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"

किंतु ध्वनिमत के अनुसार रमणीयता इस व्यंजनाप्रक्रिया, या अभिव्यंजना-शैली में है, जिसका प्रयोग व्यंग्यार्थ के लिए, हुआ है कि उर्मिला अपने पति से असीम प्रेम करती है, उसके लिए प्राण देना चाहती है—इस विरह में आकुलता और पति के प्रति उत्कट भाव, व्यंजना-प्रक्रिया द्वारा ध्वनित हो रहा है। वाच्यार्थ अनुपपन्न होने पर (स्वयं मिटकर, लक्षणा को लाना असम्भव है) जब श्रोता या पाठक का ध्यान उस अनुपपन्नता को दूर करने के लिए इस व्यंग्यार्थ पर जाता है कि उर्मिला विरहाकुलता से पीड़ित है तो उसके हृदय की निष्ठा, प्रेम, विरह के कष्ट आदि की कल्पना से अनुपपन्न वाच्यार्थ का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। अतः व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ अनुपपन्न ही रहेगा तब सौन्दर्य का अधिवास वाच्यार्थ में कैसे होगा? अतएव, हमारा मत यह है कि सौन्दर्य का अधिवास, व्यंग्यार्थबोध और व्यंजना-प्रक्रिया के ज्ञान में है, इस बात में कि कितने ढंग से नायिका ने अपना मनोभाव झलका दिया है। यदि उर्मिला सूचित कर देती कि वह विरह से पीड़ित है और कालावधि दुःसह है, तो इस वाच्यार्थ से रमणीयता उत्पन्न नहीं हो सकती थी। अतः आकर्षण का कारण वाच्यार्थ को बाधित रूप में प्रस्तुत करने के बाद, व्यंग्यार्थ द्वारा उस बाधा के दूरीकरण में है अतएव वाच्यार्थ में काव्यसौन्दय का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः अभिधावादियों ने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यंजना के विरुद्ध ही नहीं, लक्षणा शक्ति के विरुद्ध भी लम्बा संघर्ष किया था। पूर्वमीमांसकों ने लक्षणा और व्यंजना को कभी नहीं माना था। 'अभिधामातृवृत्तिका' जैसे ग्रन्थ इसी परम्परा में लिखे गये थे। आचार्य शुक्ल इसी अभिधावादी परम्परा के बल पर व्यंजना का विरोध करते है, तथापि उनका प्रयोजन यही था कि हिन्दी कविता में बढ़ता चमत्कारवाद/ऊहात्मकता और व्यंजना का गूढ़वाद कम हो और कविता में प्रकृति के आलम्बनों के सहज वर्णन हों जो अपनी वस्तुपरता से पाठक/श्रोता को प्रभावित कर सकें।

इसीलिए मैंने यह कहा है कि शुक्लजी के व्यक्तित्व, रुचि और प्रयोजन को समझकर तब उनके काव्य सिद्धांत और खण्डन-मण्डन को समझना चाहिए अन्यथा आचार्यश्री में असंगतियां ही असंगतियां दिखाई पड़ेंगी।

इसी प्रकार शुक्लजी जो लोकहृदय और रस का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसके पीछे प्रयोजन यह है कि लोकमानस में, इतिहास, संस्कृति और अभिजातीय प्रभाव आदि के कारण कुछ पात्रों और घटनाओं के प्रति प्रियता-अ और वे जनमानस के आदर्शों के प्रतिरूप होते हैं। यथा, राम का चरि

जन के आदर्शों का प्रतिरूप (माडल) है अतः रामलीला में श्रोता या पाठक या दर्शक स्वभावतः राम या ऐसे ही लोकप्रिय पात्रों के साथ तादात्म्य कर लेता है और इस प्रकार के प्रसंगों में पूर्ण साधारणीकरण हो जाता है।

जिस प्रकार अपने काव्यसिद्धांत में आचार्य शुक्ल 'सामान्य मानव' की धारणा पर अपनी व्याख्या आधारित करते हैं (वर्गमानव की नहीं) उसी प्रकार वह 'लोक-हृदय, 'जनचित्तवृत्ति', लोकमानस आदि में भी, वर्गातीत-मानवमात्र की उस सामान्य सामूहिक अवचेतन की व्याख्या को आधार बनाते हैं, जिसमें एक पूरा मानव समुदाय अपना भेदभाव भूलकर अपने आदर्श नायकों/पात्रों की जीवनकथा में तल्लीन होता है, यथा रामलीला में भारतीय जनमानस लीन हो जाता है। साधारणीकरण रामलीलाधारित काव्यों में इसलिए हो जाता है क्योंकि रामादि की विशिष्टता के बावजूद उनमें 'सामान्य' मानवीय गुण भरे जाते हैं अतः ऐसे विशिष्ट पात्र अपनी सामान्य मानवीयता से जन समाज के तादात्म्य के आलम्बन बन जाते हैं।

स्पष्ट है कि इस काव्य सिद्धांत में पारम्परिक पात्रों को ही आलम्बन बनाने पर बल है अन्यथा उनके मनमाने या विकृत 'विधान से' चमत्कार तो होगा पर साधारणीकरण नहीं होगा। शुक्लजी ने इसीलिए माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाथ' काव्य में पारम्परिक पात्रों की उलट-फेर पर कशाघात किया है।

स्पष्टतः रस और साधारणीकरण की दृष्टि से शुक्लजी का काव्यसिद्धांत ठीक है परन्तु प्रश्न यही है कि बदलते हुए समाज में, पारम्परिक पात्रों की पुनर्व्याख्या होगी ही और वैयक्तिकता भी बढ़ेगी। 'अन्धायुग', 'एक कण्ठ विषपायी', 'संशय की एक रात', 'ब्रह्मराक्षस', 'आत्मजयी'-जैसी कृतियों में पुराकथा या मिथक की नयी वैयक्तिक व्याख्याएँ हैं। जाहिर है कि शुक्लजी वाला 'लोकहृदय' इनके आलम्बनों के साथ तादात्म्य नहीं कर सकता और साधारणीकरण असीमित नहीं, सीमित ही होगा। तब ऐसी रचनाओं का मूल्य शुक्ल जी की निगाह में क्या होगा?

स्पष्टतः आचार्य शुक्ल ऐसी रचनाओं को उतना महत्व नहीं दे सकते, जितना वह लोकहृदयमर्मवादी तुलसी, सूर और जायसी की रचनाओं को देते हैं। क्लासिक, कालजयी, जगत् और जीवन का विशद चित्रण करने वाली, मार्मिक स्थलों से ओतप्रोत, आदर्शों और भावनाओं के समुद्र में अवगाहन कराने वाली प्रबन्ध रचनाओं के सामने शुक्लजी स्वच्छन्दतावादी और आधुनिक रचनाओं को पूर्ण महत्व प्रदान कर ही नहीं सकते थे। क्लासिकी रुचि और भारतीय आदर्शों के प्रति अन्य निष्ठा के कारण आचार्य शुक्ल स्वच्छन्दतावादियों, रहस्यवादियों और आधुनिकों के व्यक्तिवैचित्र्यवाद का जमकर विरोध करते हैं।

यही कारण है कि शुक्लोत्तर आलोचना में आधुनिकों यानी वैयक्तिक और व्यक्तिवादियों तथा वर्गमानववादियों, दोनों कोटि के साहित्यचिन्तकों ने शुक्लजी की अवधारणाओं की आलोचना की है। मसलन आचार्य केशवदास की कविता को,

सीमा से अधिक रगड़ने के कारण केशव के काव्य के आकर्षक पक्षों का अनुसन्धान किया गया है। सिद्धों, नाथों और सन्त-कवियों की काव्य-उत्कृष्टताओं के विवेचन मे राहुल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी से अधिक सहृदयता और कवितात्मक उत्कर्ष दिखाया है। मैंने अपनी 'भ्रमरगीत' पुस्तक में शुक्लजी की साधनावस्था और सिद्धावस्था की कोटियों की आलोचना करते हुए दिखाया है कि प्रेम की वृत्ति अत्यधिक कोमल होती है और उस पर परिस्थिति के गाम्भीर्य का तर्क चलता नहीं है। श्रीहर्ष के नैषधीयम् मे हंस-हंसिनी के प्रेम का यह हाल है कि कमल के पत्ते की ओट में चले जाने से ही हंसिनी घबराकर आर्त्तनाद करने लगती है। फिर सूर की गोपियों के विरह में शुक्लजी जो 'बैठे-ठाले' का प्रेम और विरह देखते हैं, उसमें वह यह नहीं देख पाते कि मथुरा-दरबार निकट होने पर भी गोपियाँ प्रेमिका की आत्मगरिमा की रक्षा करती हैं और दूध-दही बेचने के लिए मथुरा जाने पर भी वे दरबार में जाकर कृष्ण से नहीं मिलतीं। यह निकट रह कर भी, दूर रहने को विवश गोपियों के जीवन-प्रसंग में शुक्लजी को परिस्थिति की गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती।

इसी प्रकार आधुनिकों में स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार और नव-कवितावादियों ने भी आचार्य शुक्ल को नहीं अपनाया क्योंकि शुक्लजी में वैयक्तिक दृष्टिजन्य मूल्यों के संघर्ष के लिए स्थान ही नहीं है। इसी प्रकार शिवदानसिंह चौहान जैसे मार्क्सवादियों ने आचार्य शुक्ल के पारम्परिक समाजबोध (वर्णाश्रमधर्म, ब्रह्मवाद, अवतारवाद आदि) के कारण उन्हें ऐतिहासिक महत्व का आलोचक तो माना है परन्तु उनकी समकालीन प्रासंगिकता स्वीकार नहीं की है।[16] इसी प्रकार 'दूसरी परम्परा की खोज' में डा. नामवरसिंह आचार्य शुक्ल के प्रति आलोचनात्मक हैं और आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के प्रति सम्पूर्ण स्वीकृति का भाव प्रदर्शित करते है यों अब वह यह महसूसते है कि शुक्लजी पर जो उन्होंने उक्त पुस्तक में लिखा है, उस पर पुनर्विचार की जरूरत है।[17]

शुक्लजी पर मार्क्सवादी डा. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में व्यवस्थित विचार किया है और ग्रहणीय पक्षों को उन्होंने रेखांकित किया है किन्तु इस पुस्तक मे आचार्य शुक्ल की विचारधारा और आलोचनाओं में असंगतियों को दबी जुबान में कहा गया है, शुक्लजी के सकारात्मक पक्षों का ही रेखांकन अधिक है।

वस्तुतः शुक्लोत्तर आलोचना में पारम्परिक या भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रविधि के स्थान पर सौन्दर्यशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, शैलीवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणात्मक, रूपवादी या आधुनिक नयी समीक्षापरक, संरचनात्मक, ऐतिहासिक-

16. 'साक्षात्कार' शुक्ल विशेषांक, 1985
17. हिन्दी विभाग, राजस्थान वि. वि. परिसम्वाद 1984 (वक्तव्य)

भौतिकवादी या मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आदि अनेक नवीन विश्लेषण-अस्त्र-शस्त्रों और प्रविधियों का प्रयोग हुआ है अतः साहित्य की पुरानी विवेचना, एक सीमा तक ऐतिहासिक महत्त्व की ही रह गयी है तथापि यह सत्य है कि आचार्य शुक्ल की अवधारणाओं और कोटियों को अपने-अपने विचारधारात्मक विश्वबोध के वृत्त के भीतर रखकर प्रयुक्त किया जा सकता है। उनका यथावत् ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि शुक्लजी का क्लासिकल और पारम्परिक प्रतिरूप (मॉडल) आधुनिक और यथार्थवादी साहित्य की पूर्णतः व्याख्या नहीं कर सकता।

मैंने अपनी पुस्तक 'भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन'[18] में आचार्य शुक्ल और परवर्ती व्याख्याकारों का विशद विवेचन करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि भारतीय काव्यशास्त्र और उसकी प्रासंगिकता के सन्दर्भ में किसी भी एक व्याख्याकार का यथावत् अनुसरण न कर शास्त्रों की व्याख्या-परम्परा में से ग्रहणीय तत्त्वों को प्रस्थानबिन्दु मानकर उनके पल्लवन या विकास ही आवश्यकता है।

उदाहरण के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों, विशेषकर भरत—भट्टनायक—अभिनवगुप्त—शंकुक—मम्मट—विश्वनाथ और पण्डितराज की व्याख्याओं में—द्वन्द्वात्मक चिन्तन के उज्ज्वल स्थल हैं। रस को एकघन, अखण्ड और निर्द्वन्द्व अनुभूति या अनुभव मानकर उसके स्वरूप की व्याख्या में द्वन्द्वात्मक तर्कभाषा का प्रयोग किया गया है किन्तु उसे अलौकिक और 'ब्रह्मानन्द सहोदर' इस अभिप्राय से कहा गया है क्योंकि वह लोकानुभव अर्थात् प्रकृत/वास्तविक जीवन-अनुभव का रचना में अनुवाद नहीं है अपितु वह वास्तविक जीवनानुभव का कलाकौशल या कविप्रतिभा से रूपान्तरित या गुणात्मक-दृष्टि से उच्चतर अतः अलौकिक अनुभव है। इसी प्रकार 'रस' को शास्त्रों में जो 'ब्रह्मानन्द' नहीं माना गया उसका कारण यही है कि उसमें आत्म-अन्वेषण या आत्मपरामर्श (Self awareness) की स्थिति आ जाने यानी उच्चतर भावभूमि में पहुँच जाने पर भी, जीवनानुभवों/वासनाओं/भावों का स्पर्शमाध्यम या संश्लेष रहता है अतः मैंने रसानुभव को 'जीवनानन्द-सहोदर' कहा है।

आचार्य शुक्ल रसानुभव को अखण्ड, एकघन, तन्मयकारी मानकर भी उसकी कोटियाँ मानते हैं। यह रससीमाविस्तार तो है पर पारम्परिक दृष्टि के व्याख्याकार इसे शास्त्रविरोध कहेंगे। रामदहिन मिश्र ने आचार्य शुक्ल को 'विलायती' व्याख्याकार कहा भी है और अब 'रससिद्धांत की शास्त्रीय समीक्षा'[19] में आचार्य सुरजनदास

18. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन, अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर
19. आचार्य सुरजनदास : रस सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा (सी-82, रामदास मार्ग, तिलकनगर, जयपुर से प्रकाशित)

स्वाजी ने आचार्य शुक्ल, डा. नगेन्द्र आदि रस-सिद्धांत के व्याख्याकारो पर आरोप लगाया है कि हिन्दी वाले अशास्त्रीय भटकावों से ग्रस्त हो गये है। किन्तु अभी-अभी प्रकाशित, 'रसालोचनम्' में आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा ने स्वामी सुरजनदास जी के गतानुगतिकतावाद को छोड़कर रस-सिद्धांत की भौतिकतावादी-समाजवादी व्याख्या की है और रसानुभूति को जीवनसत्यानुभूति माना है—

लोको मूलं हि सत्यस्य, लोके सत्यं प्रतिष्ठतम्
लोकाधारस्ततो रस्यः, कविनाऽभिनिवेशिना
लोकसंत्येऽनुरागश्चेत् काव्यस्य रसनीयता।[20]

आचार्य ब्रह्मानन्द की पुस्तक से यह आरोप ध्वस्त हो जाता है कि हिन्दी के विद्वानों ने बिना समझे-बूझे शास्त्रों के साथ स्वेच्छाचार किया है। ब्रह्मानन्दजी तो रस को जीवन-सत्यस्वरूप मानते है अतः उससे यथार्थवाद के सिद्धांत की पुष्टि हो जाती है। यकीनन, यह आचार्य शुक्ल की व्याख्या परम्परा का ही विकास है, जिसमें शास्त्र को कामधेनु मानकर युगानुरूप अन्तर्दृष्टियों का दोहन वैध है।

परम्परा कोई स्थिर भण्डार नही है कोई जड़ 'स्टॉक' नहीं है। वह तो हमारे भीतर, लोकमानस और विद्वत् समूह के अन्तर्गत सतत प्रवहमान धारा है, जो निरन्तर धावमान है। अतएव भारतीय काव्यशास्त्र के 'बीज-प्रत्यय' (की कन्सेप्ट्स) हजारों वर्षों से पल्लवित होते आ रहे है। हिन्दी में यह कार्य सर्वप्रथम, अपने युग और साहित्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने किया था अतः हिन्दी के काव्यशास्त्र की भागीरथी के वह भगीरथ है और उनकी 'रसमीमांसा' तथा 'चिन्तामणि' के निबन्धों को काव्यशास्त्र की गंगोत्री या हरिद्वार की 'हर की पैड़ी' कहा जा सकता है।

परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रीय गंगा आचार्य शुक्ल के चिन्तन-मनन से मुक्त होकर असीम विस्तार और गहराइया पाती हुई प्रवाहित हो रही है और होती रहेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी के अभिनव भरत और महापात्र विश्वनाथ भी माने जा सकते हैं। उन्होने हिन्दी के काव्यशास्त्र की आधार-भूमि (नीव) तैयार की और महापात्र विश्वनाथ ने जिस तरह भरत की परम्परा में रस ध्वनि आदि की व्याख्या की है, उसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने, विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[21] के आधार पर रस-सिद्धात की व्याख्या कर उसका क्षेत्र-विस्तार किया है। किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की व्याख्या का कार्य वहा रुका नही, वहा से प्रारम्भ हुआ है। इसी अर्थ मे आचार्य शुक्ल को 'गंगोत्री' माना जाना चाहिए।

मैं समझता हूं, आचार्य शुक्ल का यही महत्त्व और उनका यही स्थान है।

---

20. डा. ब्रह्मानन्द शर्मा : रसालोचनम्, सात-क-पन्द्रह-जवाहरनगर, जयपुर राजस्थान, 1985

21. आचार्य शुक्ल के सम्मुख यदि अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' और 'लोचनम्' होती तो सम्भव है, उनकी व्याख्याओं का रूप कुछ और होता।

12 | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-मूल्यांकन : पुनर्मूल्यांकन

कतिपय मार्क्सवादियों ने शुक्ल जी को "विश्वप्रपंच" (हेकल की, रिडल ऑफ द यूनीवर्स का अनुवाद) की भूमिका पढ़कर, उन्हें विकासवादी और भौतिकवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु इस ग्रन्थ में भौतिकवादी-विकासवादी विश्वबोध को, विस्तार सहित और प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने के साथ, शुक्लजी प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट्स) दार्शनिकों का मत भी पेश करते हैं और अन्त में, अध्यात्मवाद जिसे वह 'भाववाद' कहते है, को मान्यता देते हैं:—

"क्या विकासवाद जगत् के समस्त व्यापारों की मूल की सम्यक व्याख्या कर देता है ? सच पूछिए तो उसकी पहुँच की भी हद है। शरीरव्यापार और मनोव्यापार, दोनों में एक ही प्रकार के नियमों की चरितार्थता, दोनों का साथ-साथ उत्तरोत्तर क्रम से विकास दिखाया गया है सही पर दोनों एक नहीं सिद्ध हो सके हैं। विकासवाद के मारे निरूपण मन या आत्मा की प्रथमोत्पत्ति नहीं समझा सके हैं और तो जाने दीजिए, किस प्रकार संवेदनसूत्र का भौतिक (स्थूल) स्पंदन, संवेदन के रूप में परिणत हो जाता है, यही रहस्य नहीं खुलता।"[1]

"विज्ञान अपनी पद्धति से चैतन्य को इस भूतशक्ति के अन्तर्गत करने में समर्थ नहीं हुआ है अतः चैतन्य और शक्ति का ही द्वैत अब रह गया है। सांख्य ने जहां छोड़ा था, वहीं पर विज्ञान ने भी लाकर छोड़ दिया है।"[2]

"भूतवाद भौतिक जगत् के उपयुक्त है पर दार्शनिक सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारण परम्परा के अनुसंधान रूप में। इसके परे जो बातें हैं वे दूसरे क्षेत्र की है और दूसरे उपायों से जानी जाती हैं।"[3]

अतः बड़े लेखकों–विचारकों को "प्रगतिशील" और "जनवादी" सिद्ध करने अर्थात् उनके प्रगतिशीलीकरण के चक्कर में होता यह है कि जो मार्क्सवाद वैज्ञानिकता

---

1. चिंतामणि तृतीय भाग, पृष्ठ 163
2. वही, पृष्ठ 176
3. वही, पृष्ठ 179

और वस्तुगतता का दम मरता है, वह अंतर्मुखी हो जाता है और विवेच्य व्यक्ति की सही स्थिति का पता नहीं चल पाता।

सत्य यह है कि आचार्य शुक्ल भौतिकवादी नहीं थे। वह आत्मवादी और भाववादी ही थे। यहां तक के वह रामभक्त भी थे। वह क्षात्रधर्म का सौन्दर्य 'शीर्षक लेख अन्त में, भगवान रामचन्द्र की जय' का घोष करते है।

लेकिन परमसत्ता या चैतन्य की, जड सत्ता से समानान्तरता मान कर भी, शुक्ल जी 'रहस्यवाद' का विरोध करते है। वह सामान्य रहस्य की भावना को मानते है परन्तु एकांतिक रहस्यवादी भावना और उसकी अभिव्यक्ति को कल्पित या बनावटी कहते है। सिद्धान्ततः यह वदतोव्याघात है क्योंकि जब अध्यात्म का क्षेत्र आपने, भूतजगत की वैज्ञानिक व्याख्या से भिन्न और समानान्तर मान लिया तो फिर रहस्यमय सत्ता की अनुभूति के लिए एकातिक रहस्यमय प्रेम-सम्बन्ध को भी मानना होगा। तब उस परम चैतन्य या ब्रह्म की अनुभूति के लिए 'सिद्धावस्था' और 'साधनावस्था' दोनों कोटिया वांछनीय लोकोपकारक होंगी। तब तुलसीदास के प्रति-रूप या मॉडल को ही आदर्श नही माना जा सकता, तब तुलसी और सूर, सरहपा, गोरक्ष, कबीर और अन्य सभी परम सत्ता के सगुण, निर्गुण रूपों के विश्वासी कवियों की वाणी को आध्यात्मिक अमृत की वाणी मान कर उसकी वन्दना करनी होगी।

किन्तु आचार्य शुक्ल अध्यात्मवाद के बावजूद, सगुणवादी भक्त होने के कारण, निर्गुणनिराकार ब्रह्म का भौतिकजगत् में आविर्भाव या अभिव्यक्ति मानते हैं अतः लोककल्याण उनके विश्वबोध का अंग है, मात्र औपचारिकता नही। यह 'लोकमगल' उनके लिए कोई अवधारणा नही है, 'उनके विश्वास और बोध का अभिन्न अंग है अतः जहां कोई व्यक्ति या कृति 'लोकमंगल' 'मर्यादा' चिन्मयी प्रकृति और प्राणी मात्र के हितों के विरुद्ध जाती है, वहा आचार्य शुक्ल उसको इतना वेधते हैं कि बहुत बार परिप्रेक्ष्य ही गायब होने लगता है।

आचार्य शुक्ल के अभिमतो को, उनके व्यक्तित्व, विश्वबोध, 'विश्वास और उनके आदर्शों से अलग करके देखना गलत है, अप्रामाणिक है। उनकी जो विशिष्टता है, वही उनकी सीमा भी है। उदाहरण के लिए शुक्ल जी सिद्धसाहित्य, नाथसाहित्य और सन्तसाहित्य और यहां तक कि कृष्णभक्तसाहित्य के प्रति भी उतने उदार नही है जितने सगुण रामभक्त कवियो, विशेषकर तुलसी–साहित्य के प्रति।

वस्तुतः तुलसीदास के आदर्श आचार्य शुक्ल के भी आदर्श थे पर वह प्राचीन आर्य (भारतीय) धर्म और वर्णाश्रमी मर्यादा मानकर भी उदारता के साथ उस व्यवस्था का समर्थन करते है। एक आदर्श अवधारणा के रूप में वह उस पारम्परिक व्यवस्था को प्रस्तुत करते है।[1]

1. वेद व्यासजी ने अत्यन्त उदारभाव से कहा है कि धर्मात्मा पुरुष वर्णाश्रमधर्म (आर्य या हिन्दू धर्म) के बाहर भी हैं.........देश काल के अनुसार जहां जो धर्म व्यवस्था स्थापित थी, वहां के लिए वे उसी को उपयुक्त समझते थे, वही पृष्ठ 185.

तुलसी-साहित्य, विशेषकर रामचरितमानस में इस आदर्श-व्यवस्था को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है अतः उसे वह सर्वोत्कृष्ट समझते थे क्योंकि उसमे जीवन और समाज की आदर्श-व्यवस्था की सम्पूर्णता और सांगोपागता है। जहां सब कुछ है, वही पूर्णता है अतः शुक्लजी तरह-तरह की कोटियो और तर्कों की उद्भावना कर तुलसी का पक्ष-समर्थन करते है।

उदाहरण के लिए रामचरितमानस में सीताराम का प्रेमचित्रण उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ है क्योंकि परिस्थिति की गभीरता रामचरितमानस में है, गोपियों के प्रेम में नहीं अतः गोपी प्रेम को वह 'साध्यावस्था' का प्रेम कहते है।

किंतु परिस्थिति का तर्क महत्त्वपूर्ण होने पर भी, उस पर बहुत अधिक बल देने से, मानवीय प्रेम के अन्य कवियों के प्रति अन्याय भी हो जाता है। प्रेम एक कोमल मनोवृत्ति है। वह परिस्थिति की जरा सी विपरीतता में भी गंभीर व्याकुलता उत्पन्न कर सकती है। नैषधीयम् के कवि श्रीहर्ष प्रेमवृत्ति को अधिक समझते है। उन्होने हसयुगल का वर्णन किया है। जब हस, कमल के पत्ते की ओट म तैरता हुआ चला जाता है तो हंसिनी व्याकुल होकर आर्त्तनाद करने लगती है। गोपियां, मथुरा से दूर नही थी पर परिस्थिति का गाम्भीर्य यहां यह था कि वे, नारी की गरिमा के प्रति सचेत होने के कारण वे कृष्ण के दरबार मे नही जा सकती थी। निकट रहने पर भी न मिल पाने का सकट आचार्य की दृष्टि से ओझल ही रहा।

कालिदास के उत्तरमघ म परिस्थिति गंभीर नही है। स्वच्छन्दता वादियों और उनके बाद जिस वैयक्तिक प्रेमभाव का वर्णन हुआ है, उसमें राक्षसो द्वारा नारी-अपहरण और लंकाकाण्ड के बिना भी वर्जनाग्रस्त समाज से व्यक्ति की टकराहट के कारण गभीरता का अभाव नही है और वास्तविकता तो यह है कि नियकीय स्तर पर वर्णित कोई भाव, आज के व्यक्ति का अपना भाव बन ही नही पाता अतः जहां वह एक मानव-आदर्श के रूप मे रामचरितमानस का आदर करता है वही वह कृष्ण भक्तों विशेषकर सूरदास के सागर मे प्रेमानुभूति की सामुद्रिकता और तीव्रता पाता है। उसे सूरदास 'नारी मुक्ति' के कवि प्रतीत होते है। यहा वह वर्णाश्रम धर्म की वर्जनाओ के विरुद्ध विद्रोह की ध्वनियां सुनता है। सूरदास व्यवस्था-विरोधी, मानव-प्रेम के कवि प्रमाणित होते है।

समाज ने प्रेम मे सच्ची निष्ठा रखने वालों को सदैव प्रियता दी है, आतंककारी आदर भले ही न दिया हो। उदाहरण के लिए सूफियो के साहित्य में एकान्तिक प्रेमियों को महत्ता दी गई है। वहा परिस्थिति की वैसी गंभीरता नही है अतः परिस्थिति पर अधिक बलाघात से प्रेम की स्वतन्त्र भावना के साथ न्यायहीन हो जाने का भय है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी की कठोरताओं का निराकरण करने के लिए सिद्ध नाथ और सन्त-साहित्य के लोकमंगलकारी रूप तथा कविता की

दृष्टि के अनेक उत्कृष्टताओं का अन्वेषण किया और सूरदास का भी नवीन दृष्टि से मूल्यांकन किया है। शुक्लजी की मार से क्षत-विक्षत केशवदास का भी पुनरुद्धार किया गया है। स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय ने केशव की कला, विनोद-क्षमता और भाषा-सामर्थ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है। किन्तु दूसरी परम्परा की खोज (डॉ. नामवरसिंह) के प्रयत्न में द्विवेदी जी को परमप्रगतिशील और शुक्लजी को वर्णाश्रमधर्म के विश्वासी या ब्राह्मणवादी सिद्ध करने की धुन में घपला यह हो गया है कि आलोचना वकालत में बदल गई है। मतलबन यह है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लजी की ही परम्परा में, कुछ अधिक उदार और कुछ अधिक जनवादी विचारक थे पर वे न द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी थे, न साम्यवादी राजनीति और समाज संरचना के स्पष्ट पक्षधर थे। अतः "दूसरी परम्परा" का निर्माण मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा हुआ है जो प्रत्ययवादी-भाववादी विश्वबोध और सामन्ती वर्ण-वर्गहीन सम-समाज की रचना करना चाहते हैं। यह द्वितीय परम्परा श्री राहुल, शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. रांगेय राघव आदि द्वारा निर्मित हुई है और हो रही है। प्रथम परम्परा में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेई तथा डॉ. नगेन्द्र प्रभृति आलोचकों को समझना चाहिये।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में "दूसरी" नहीं, कई परम्पराएँ बोलती हैं। उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यापक मानववादी-भावावेग, आचार्य नरेन्द्रदेव का समाजवाद, संतों की अन्तर्दृष्टि और प्रपंच, पाखंड विरोध तथा आधुनिक अनेक विचारकों का विचार-प्रवाह था अतः वे नए-पुरानों आर्य और आधुनिकों, सभी को सन्तुष्ट करते हैं। तथापि उनकी वैष्णवता और करुणा, आचार्य शुक्ल की तरह स्पष्ट तथा सत्यकथन में बाधक थी अतः द्विवेदी जी युगद्रष्टा विचारक अधिक थे, आलोचक कम। आलोचना की दृष्टि से आचार्य शुक्ल के विवादास्पद अभिमतों, विचारणाओं तथा कोटियों में अधिक सर्जनात्मकता और विचारोत्तेजकता है। शुक्लजी, द्विवेदी जी की तरह, गुणदोषविवेचन में अधिक प्रखर और निःसंकोची थे।

आचार्य शुक्ल का साहित्य निकष या रचना प्रतिमान भी कम विवादास्पद नहीं है पर वह उनकी अन्य कोटियों की तरह आलोचनात्मक चिन्तन के लिए अत्यधिक उर्वरक और प्रेरक साबित हुआ है। शास्त्रीय प्रामाणिकता की दृष्टि में उनका रसवाद उन्हीं का अपना रसवाद है। अतः मौलिक है।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने सही लिखा है कि "उनकी (शुक्लजी) सारी मान्यताएँ, परम्परा प्रतिष्ठ भारतीय चिंतन से कहीं न कहीं हटकर है। इसलिए उन सारी मान्यताओं को उनका अवदान ही कह सकते है। उनका संकल्प था कि शास्त्र के क्षेत्र में प्रत्येक निष्कर्ष तथ्याभूत, वस्तुमुखी और तर्क प्रतिष्ठ होना चाहिये अतः वे अपने चिंतन को यथासम्भव प्राकृत परिधि में ही रखते थे। परम्परा प्रतिष्ठ

मान्यताएँ प्रायः अतिप्राकृत शक्ति पर समाधृत हैं इसलिए शुक्लजी का उनसे संवाद नहीं हो पाता। दूसरा उनके व्यञ्य जगत की परिधि का लोकमंगलवाद भी उन्हें अपने बनाए हुए रास्ते पर चलने को विवश करता था।[1]

मैं समझता हूँ यही शुक्लजी की प्रगतिशीलता थी कि उन्होंने रस को काव्य का प्रतिमान मानकर भी, उसकी अलौकिकता को नहीं माना, "शील द्रष्टा" की स्थिति की परिकल्पना की और कविता का मूल तत्व अभिधा शब्द शक्ति में खोज लिया तथा लोकमानस और लोकमंगल को काव्यप्रतिमान बना दिया। तथापि यह प्रतिमान विवादास्पद बना है क्योंकि शुक्लजी का निकष, महाकाव्यों पर तो लागू हो जाता है, वह भी भारतीय पारम्परिक महाकाव्यों पर किंतु उसके आधार पर हम व्यक्तिनिष्ठ, शीलवैचित्र्य प्रधान, प्रगतिपरक, प्रयोगशील, मूल्यसंघर्षपरक, बौद्धिक और विचारधारात्मक सृजन का विश्लेषणः मूल्यांकन नहीं कर सकते। शुक्लजी ने, उनके अपने प्रतिमान के विरुद्ध पड़ने वाले साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं किया अतः स्वच्छन्दतावादियों के साथ ज्यादती हुई। शुक्लजी के प्रतिमान से आधुनिक साहित्य और कला का भी मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि उनके प्रतिमानों में लचक लाकर उन्हें कार्यपरक (Functional) बनाया जा सकता है।

मार्क्सवादी प्राय: शुक्लजी के 'लोकमंगल' की अवधारणा का अपनी दृष्टि से प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार तुलसी की प्रगतिशील व्याख्याओं से मदद ली गई है। इसी तरह रस को भाव प्रधान काव्य तक सीमित न कर उसकी सृजनप्रक्रियापरक व्याख्या कर उसको आधुनिक साहित्य और कला के लिए कार्यक्षम बनाया जा सकता है। उनके "बिम्बविधान" की धारणा को तो सभी ने मान लिया है यों अब उसमें भी संकेत विज्ञान (सिमियोटिक्स) के आलोक में परिशोधन की जरूरत है।

समकालीन यथार्थदर्शी साहित्य को आचार्य शुक्ल के "बीजभाव" की अवधारणा के आधार पर समझा जा सकता है। यथार्थ के विविधरूपी चित्रण हुए हैं। प्रेमचन्द की परम्परा में जहां तक और यथातथता है, वहीं आधुनिक पूँजीवादी समाज और संस्कृति में विकृत विरूपाक्ष मानव-यथार्थ को दिखाने के लिए अतियथार्थवादी, अतिकल्पना प्रधान (फैंटेसी) रूपकात्मक-विरूपात्मक तथा अमूर्त कला और साहित्य में, तटस्थ बौद्धिक परिप्रेक्ष्य होने पर भी उसके मूल में जन प्रेम या करुणा का "बीजभाव" निहित रहता है।

इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिंतन और आलोचना, हमारी महत्त्वपूर्ण धरोहर है। उसमें भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का बुद्धि संगत दोहन है जो समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन में मददगार है। आचार्य शुक्ल का विश्वबोध, अपने

---

1. दस्तावेज, शुक्ल-विशेषांक, पृष्ठ 81.

विश्वासों के बावजूद, भौतिकजगत् की यथार्थता पर बल देता है और वह साम्राज्य-वादी या उपनिवेशी-मानसिकता और संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष में हमारा पथ-प्रदर्शक है। शुक्लजी की लोकमंगल की धारणा संभावनापूर्ण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को उनकी इस जन्मशताब्दी वर्ष में पूजा का विषय न बनाकर, उनका आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। साहित्यिकमालो-चनाजनक आचार्य शुक्ल को अनालोचनात्मक परिप्रेक्ष्य से नहीं परखा जा सकता, न उसकी मूल्यवत्ता ही प्रकट हो सकती है।



13 प्रेमचन्द की प्रासंगिकता

प्रासंगिकता का प्रश्न उन लेखकों के विषय में उठ सकता है जो वर्तमान-काल की समस्याओं और चुनौतियों को प्रतिबिम्बित न करते हों या इनसे उनके लेखन का दूरदराज का सम्बन्ध हो। किन्तु प्रेमचन्द जिस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ उभरे थे, उसके ध्येय अभी अधूरे हैं अतएव स्वतन्त्रता के पूर्व प्रेमचन्द जो सामाजिक चेतना अपनी रचनाओं और लेखों में प्रदर्शित करते हैं, वह हमें आज भी प्रासंगिक लगती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास, 'गोदान' को छोड़कर, आज सरस और कलात्मक दृष्टि से अनाकर्षक (डल) लग सकते हैं किन्तु वे राष्ट्रीय आन्दोलन को सर्वाधिक मात्रा में चित्रित करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़कर कोई भी देशी-विदेशी पाठक तात्कालिक समस्याओं और संवेदनाओं से परिचित हो सकता है। उसे लगेगा सुमन, पद्मसिंह, कृष्णचन्द (सेवासदन), ज्ञानशंकर, राजा कमलानन्द, गायत्री (प्रेमाश्रम) सूरदास, विनय, सोफिया, इन्दु (रंगभूमि) चक्रधर, विशालसिंह, शंखधर (कायाकल्प) अमरकान्त, सलीम, सुखदा, डॉ. शान्तिकुमार (कर्मभूमि) रमानाथ, जालपा (गबन) धनिया, होरी, मालती, मेहता, मिर्जाजी (गोदान) आदि चरित्रों के कार्यकलाप, दृष्टिकोणों की टकराहट, आदर्शवाद और आदर्शहीनता का द्वन्द्व, तात्कालिक स्थितियों के साथ इन पात्रों का सहसम्बन्ध और संघर्ष—सभी कुछ, स्वतन्त्रता के संघर्षकाल की प्रामाणिक छवि का परिचायक है।

स्वतन्त्रता-संघर्षकाल के किसी भी इतिहास में तात्कालिक जीवन का वह चित्र नहीं मिल सकता जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। यहां भारतीयों के जीवन और उनके अन्तर्मानस का प्रामाणिक दस्तावेज है। प्रेमचन्द का सुधारवाद भी तात्कालिक चेतना के झुकाव को जाहिर करता है। सुधारवाद गांधीवादी आन्दोलन का केन्द्रीय प्रत्यय था अतः वह प्रेमचन्द को भी प्रेरित करता है।

'गोदान' को तो सभी प्रासंगिक मानते हैं क्योंकि किसानों की जो त्रासदी 'गोदान' में है, वह आज भी विद्यमान है। स्वतन्त्रता के 39 वर्ष बाद भी भारतीय ग्रामों में होरी, धनिया, गोबर भरे पड़े हैं और पुराने जमींदारों की जगह नये भूपति स्थापित हो गए हैं। यह नहीं कि कोई विकास नहीं हुआ है, हुआ है किन्तु भारतीय

कृषकों में कुल मिलाकर—गरीबी, असहायता, उत्पीड़न, शोषण बढ़ा है क्योंकि—विकास का लाभ उन्हें मिला है, जो लाभ उठाना जानते है या समर्थ है। 'गोदान' का होरी आज भी यथावत् है।

प्रेमचन्द की तात्कालिकता से थोड़ी देर के लिए ध्यान हटाकर यदि मानव जीवन के आधारभूत बिन्दु की ओर बढ़ें तो प्रेमचन्द के कई पात्र (गोदानेतर) आज बुनियादी सवाल उठाते हैं। मसलन् सूरदास (रंगभूमि) समूचे औद्योगिक और तकनीकी तंत्र के सामने गांधीजी की तरह प्रश्नचिह्न लगाता है। सूरदास के प्रश्नों का उत्तर आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता नही दे पा रही है क्योंकि उसमें भौतिक विकास, मानवता की कीमत पर होता है। औद्योगिक तकनीकी सभ्यता के प्रतियोगी समाज में सदाचार, मानवीय गरिमा और प्रेम कैसे रह सकता है, यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है।

दूसरी दृष्टि से, सूरदास, सामाजिक चेतना का मत लेने वालों के सम्मुख एक आदर्श की तरह है। वह समूह की गलतफहमियों से घबराता नहीं, न वह अपनी छवि (इमेज) की चिन्ता करता है। सवाल यह है कि सूरदास जैसे अटल आदर्शवादी व्यक्ति आज के समाज में अपने को अप्रासंगिक क्यों पा रहे हैं? वे सत्ता, चुनाव, शक्तिस्रोतों, प्रभावकेन्द्रों आदि पर अवसरवादी, महत्वाकांक्षी, विकृत और व्यावसायिक राजनीति करने वालो का वर्चस्व देखकर अपने को त्रासदी का पात्र क्यों समझ रहे है? वस्तुतः आज की मूल्यगत अराजकता और कार्यगत भ्रष्टता की स्थिति में सूरदास की जीवनी एक अजीब त्रासद चुनौती-सी लगती है। हम उसको रद्द नही कर सकते क्योंकि सूरदास जो कहता है आज भी सच है और तब तक सच रहेगा जब तक यंत्र युग और मानवता के द्वन्द्व का समाधान नहीं मिलता। सूरदास हमें चिढ़ाता है किन्तु हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते। यह जीवन के मूल लक्ष्यों पर पुनर्विचार की प्रेरणा देता है कि हम क्यों जियें?

क्या मूल्य-ममताहीन जीवन का कोई अर्थ है? क्या मानवादर्शों के लिए संघर्ष में हम एक-दूसरे का मुख ताकें या अकेले ही लड़ते रहें? बार-बार निराश होने पर भी धीरज छोड़ दें या जन-चेतना को तीव्रतर करने के महान कार्य में तल्लीन रहें?

प्रेमचन्द के उपन्यासों के आदर्शवादी पात्र आज इसीलिए अधिक प्रासंगिक हो उठे हैं क्योंकि मनुष्यता, समता, बन्धुत्व और ममत्व के मूल्यों को आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता और व्यवस्था अप्रासंगिक सिद्ध करने पर तुली है। वह मानवीय मूल्यों और उत्कृष्ट आदर्शों की कीमत पर भौतिक उन्नति और विषमता को बढ़ा रही है, अतः इस स्थिति में प्रेमचन्द तात्कालिक गांधीवाद के नहीं, मनुष्यता के प्रतिनिधि-रूप में उभरते है जो अपने जैसे आदर्शनिष्ठ पात्रों द्वारा मानवता-विरोधी तत्वों और उनकी प्रणालियों के विरुद्ध दृढ़ता से आजीवन लड़ते है।

इन्सानियत बनाए रखते है। अतएव सूत्रवादी आलोचना 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसे सूत्र के आधार पर आज यह नहीं कह सकती कि आदर्शवाद प्रेमचन्द या उनके पात्रों की कमज़ोरी थी। आज यह शीशे की तरह साफ हो गया है कि ध्येयनिष्ठ व्यक्तियों के बिना न संस्थाएं चल सकती है, न परिवार, न देश, न समाज, अतः आदर्श का रूप क्या हो, इस पर मतभेद हो सकता है पर इस पर नहीं कि आदर्श-प्रियता के बिना सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक या संस्थागत जीवन सम्भव है। आज जो चारों ओर मूल्यगत अराजकता है, वह आजादी के बाद स्थापित पूंजीवाद के कारण है जो प्रतियोगिता में सिर्फ सफलता को मानता है, अपनाये गये साधनों या सार्थकता या मनुष्यता को नहीं।

पूंजीवाद मूल्यहीन, संग्रहमूलक, प्रतियोगी और शोषक व्यक्तियों के प्रभुत्व का स्थापक होता है अतः उसमें सर्वत्र प्रेमचन्द और उनके पात्र शोषित जन के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचन्द स्वयं रंगभूमि के 'सूरदास' है। प्रेमचन्द ने सरकारी सन्तों को गौरव नहीं दिया, जनवादी सन्तचरित्रों को गौरव दिया है।

प्रासंगिकता का एक और पहलू है जो कला की मूल समस्याओं से जुड़ा है। प्रेमचन्द मूलतः जीवन और सामाजिक वास्तविकताओं को सामने लाते है, किन्तु तात्कालिता के बावजूद उनके द्वारा चित्रित स्थितियों और पात्र 'प्रतीक' बन जाते हैं। यथार्थवादी कला जीवन, प्रकृति और समाज का वास्तविक रूप चित्रित करती है, कल्पना का उस पर रंग नहीं चढ़ाती। सवाल यह है कि ऐसी यथार्थदर्शक कला प्रतीकत्व पाकर अमर क्यों और कैसे हो जाती है?

'दो बैलों की कथा' कहानी में पशुओं की प्रेमगत वफादारी दिखाई गई है। क्या आज सुखी समाज आत्मनिर्वासन (एलियनेशन) से ग्रस्त नहीं है, और उसमें क्या यह कहानी अप्रासंगिक लगती है, प्रतीकत्व नहीं पा जाती? 'दो बैलों की कथा' में मानवीय अलगाव के विरुद्ध विद्रोह है और प्रेम की महत्ता की स्थापना है। प्रेमचन्द के दो बैलों को देखकर यह हसरत पैदा होती है, काश, मनुष्य भी इतना प्रेमी होता, उसमें भी वफादारी होती!

'शतरंज के खिलाड़ी' को पढ़कर आज के अन्धे राजनीतिज्ञों की राजनैतिक शतरंज याद आती है। देश बरबाद हो रहा है पर पूंजीवादी राजनीति की शतरंज या सत्ता का खेल जारी है।

'नशा' वर्गसंक्रमण की वर्तमान स्थिति में प्रासंगिक ही नहीं, प्रतीकत्व बन गई है। जो व्यक्ति नीचे वर्ग से मध्य या उच्च वर्ग में आए हैं यानी जो आजादी के बाद प्रलम्बाकार (वर्टीकल) उन्नति हुई है, उसमें वर्गसंक्रमित लोग अपनी असलियत भूल जाते हैं और अपन गुण के नशे में गर्वीले बनकर अपनी सहृदयता और जनोन्मुख सक्रियता खो बैठते हैं।

यह गौर करने योग्य तथ्य है कि कमलेश्वर और अन्य 'नई कहानी' के प्रव-

कामों ने 'कफ़न' और 'पूस की रात' को आधुनिक कहानी माना है क्योंकि इनमें आदर्शप्रियता नहीं, नग्न सत्य है।

किन्तु इन्हें कमलेश्वर वगैरह ने यथार्थ की नग्नता के कारण आधुनिक या 'नया' नही माना, इनमें उन्होने मूल्यहीनता देखकर इन्हें आधुनिक माना है। डा. इन्द्रनाथ मदान भी इन कहानियो को इसी कारण आधुनिक मानते है क्योंकि इनमें मूल्यवादिता नही है किन्तु प्रेमचन्द की इन कहानियों मे मूल्य ध्वंस, स्थितियों के कारण दिखाया गया है, व्यक्तिवाद के कारण नही। प्रेमचन्द मूल्य (वैल्यू) को वैयक्तिक नही मानते, सामाजिक मानते है। कुछ मूल्य व्यक्तिगत होते है पर वह अशतः समाज से सर्वदा जुड़े रहते है। किन्तु डॉ. मदान और एक सीमा तक, कई 'नई कहानी' के लेखक मूल्य को व्यक्तिवादी दृष्टि से देखते है और व्यक्तिवाद को ही आधुनिकता मानते है, अतः 'कफ़न' और 'पूस की रात' में वे ग़रीबी को नही, आदर्शहीनता को महत्व देते है। 'कफ़न' और 'पूस की रात' में मनुष्य की गिरावट या इच्छाशक्ति के अभाव का कारण अकिंचनता है जो भारतीय समाज का आज भी केन्द्रीय यथार्थ है अतः 'नई कहानी' में जितना यथार्थवाद है वह तो 'कफ़न' और 'पूस की रात' से जुड़ा लगता है लेकिन जितना विचलन है, वह प्रेमचन्द की यथार्थ-वादी परम्परा से भी विचलन लगता है।

यही कारण है कि साठोत्तरी कहानी मे प्रेमचन्द की वापसी है, जबकि अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद को–आधुनिकता मानने वाली कहानीकारों की जमात–प्रेमचन्द की परम्परा के समानान्तर एक दूसरी दुनिया की सृष्टि करती है जिसका केन्द्र 'व्यक्ति' है, उसके—अवचेतन, इच्छासंसार, आकांक्षाएँ और रिरिसाएँ हैं। अज्ञेय, इलाचन्द, निर्मल वर्मा जैसे लेखकों का मनोविश्लेषणपरक अथवा वैयक्तिक आयामो का दिग्दर्शन सामाजिक चेतना की मुहिम को मन्द करता प्रतीत होता है, अतः जो सामाजिक परिवर्तन मे ही, व्यक्ति का हित देख सकते है, वे विचारक और लेखक अज्ञेय की प्रासंगिकता का सवाल उठायेंगे, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध जैसे लेखको की प्रासंगिकता का नहीं, क्योंकि सामाजिक यथार्थ तथा सामाजिक चेतना की शुरुआत प्रेमचन्द ने की थी, उसे आगे ले चलने का उत्तरदायित्व हम पर है। तब प्रेमचन्द अप्रासंगिक कैसे हो सकते हैं ?

शुद्ध कला की दृष्टि से भी प्रेमचन्द प्रासंगिक हैं क्योंकि उनकी अमर रचनाएँ यह रहस्य खोलती हैं कि प्रामाणिक यथार्थ चित्रण, बाद में स्वयं प्रतीकत्व पा जाता है। राजेन्द्र यादव ने प्रतीकत्व कई जगह आरोपित किया है पर उनकी कहानियाँ प्रतीक नहीं हो सकी जबकि प्रेमचन्द, 'शतरंज के खिलाड़ी' या 'नशा' मे प्रतीकत्व लादने के चक्कर में न पड़कर, वास्तविकता के प्रतिनिधि पात्र और स्थितियों का चयन कर, सिर्फ यथार्थ का अंकन करते हैं। यथार्थ के चयन और उसकी जीवन्तता के कारण प्रेमचन्द की तात्कालिकता में सर्वकालीनता स्वतः

इन्सानियत बनाए रखते है। अतएव सूत्रवादी आलोचना 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसे सूत्र के आधार पर आज यह नही कह सकती कि आदर्शवाद प्रेमचन्द या उनके पात्रों की कमजोरी थी। आज यह शीशे की तरह साफ हो गया है कि ध्येयनिष्ठ व्यक्तियों के बिना न संस्थाएं चल सकती है, न परिवार, न देश, न समाज, अतः आदर्श का रूप क्या हो, इस पर मतभेद हो सकता है पर इस पर नही कि आदर्शप्रियता के बिना सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक या संस्थागत जीवन सम्भव है। आज जो चारों ओर मूल्यगत अराजकता है, यह आजादी के बाद स्थापित पूंजीवाद के कारण है जो प्रतियोगिता म सिर्फ सफलता को मानता है, अपनाये गये साधनों या सार्थकता या मनुष्यता को नही।

पूंजीवाद मूल्यहीन, संग्रहमूलक, प्रतियोगी और शोषक व्यक्तियों के प्रभुत्व का स्थापक होता है अतः उसमें सर्वत्र प्रेमचन्द और उनके पात्र शोषित जन के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचन्द स्वयं रंगभूमि के 'सूरदास' है। प्रेमचन्द ने सरकारी सन्तों को गौरव नही दिया, जनवादी सन्तचरित्रों को गौरव दिया है।

प्रासंगिकता का एक और पहलू है जो कला की मूल समस्याओं से जुड़ा है। प्रेमचन्द मूलतः जीवन और सामाजिक वास्तविकताओं को सामने लाते है, किन्तु तात्कालिता के बावजूद उनके द्वारा चित्रित स्थितियो और पात्र 'प्रतीक' बन जाते है। यथार्थवादी कला जीवन, प्रकृति और समाज का वास्तविक रूप चित्रित करती है, कल्पना का उस पर रंग नहीं चढाती। सवाल यह है कि ऐसी यथार्थदर्शक कला प्रतीकत्व पाकर अमर क्यों और कैसे हो जाती है ?

'दो बैलों की कथा' कहानी में पशुओं की प्रेमगत वफादारी दिखाई गई है। क्या आज सुखी समाज आत्मनिर्वासन (एलियनेशन) से ग्रस्त नही है, और उसमें क्या यह कहानी अप्रासंगिक लगती है, प्रतीकत्व नही पा जाती ? 'दो बैलों की कथा' में मानवीय अलगाव के विरुद्ध विद्रोह है और प्रेम की महत्ता की स्थापना है। प्रेमचन्द के दो बैलों को देखकर यह हसरत पैदा होती है, काश, मनुष्य भी इतना प्रेमी होता, उसमे भी वफादारी होती !

'शतरंज के खिलाड़ी' को पढ़कर आज के अन्धे राजनीतिज्ञों की राजनैतिक शतरंज याद आती है। देश बरबाद हो रहा है पर पूंजीवादी राजनीति की शतरंज या सत्ता का खेल जारी है।

'नशा' वर्गसंक्रमण की वर्तमान स्थिति में प्रासंगिक ही नही, प्रतीककथा बन गई है। जो व्यक्ति नीचे वर्ग से मध्य या उच्च वर्ग में आए है यानी जो आजादी के बाद अलम्बाकार (वर्टीकल) उन्नति हुई है, उसमें वर्गसंक्रमित लोग अपनी असलियत भूल जाते हैं और अपन सुख के नशे मे गर्वीले बनकर अपनी सहृदयता और जनोन्मुख सक्रियता खो बैठते है।

यह गौर करने योग्य तथ्य है कि कमलेश्वर और अन्य 'नई कहानी' के प्रव-

कामों ने 'कफ़न' और 'पूस की रात' को आधुनिक कहानी माना है क्योंकि इनमें आदर्शप्रियता नहीं, नग्न सत्य है।

किन्तु इन्हें कमलेश्वर वगैरह ने यथार्थ की नग्नता के कारण आधुनिक या 'नया' नहीं माना, इनमें उन्होंने मूल्यहीनता देखकर इन्हें आधुनिक माना है। डा. इन्द्रनाथ मदान भी इन कहानियों को इसी कारण आधुनिक मानते है क्योंकि इनमें मूल्यवादिता नहीं है किन्तु प्रेमचन्द की इन कहानियों में मूल्य ध्रंश, स्थितियों के कारण दिखाया गया है, व्यक्तिवाद के कारण नहीं। प्रेमचन्द मूल्य (वैल्यू) को वैयक्तिक नहीं मानते, सामाजिक मानते है। कुछ मूल्य व्यक्तिगत होते है पर वह अशतः समाज से सर्वदा जुड़े रहते है। किन्तु डॉ. मदान और एक सीमा तक, कई 'नई कहानी' के लेखक मूल्य को व्यक्तिवादी दृष्टि से देखते है और व्यक्तिवाद को ही आधुनिकता मानते है, अतः 'कफ़न' और 'पूस की रात' में वे ग़रीबी को नहीं, आदर्शहीनता को महत्व देते हैं। 'कफ़न' और 'पूस की रात' में मनुष्य की गिरावट या इच्छाशक्ति के अभाव का कारण अकिंचनता है जो भारतीय समाज का आज भी केन्द्रीय यथार्थ है अतः 'नई कहानी' में जितना यथार्थवाद है वह तो 'कफ़न' और 'पूस की रात' से जुड़ा लगता है लेकिन जितना विचलन है, वह प्रेमचन्द की यथार्थ-वादी परम्परा से भी विचलन लगता है।

यही कारण है कि साठोत्तरी कहानी में प्रेमचन्द की वापसी है, जबकि अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद को–आधुनिकता मानने वाली कहानीकारों की जमात–प्रेमचन्द की परम्परा के समानान्तर एक दूसरी दुनिया की सृष्टि करती है जिसका केन्द्र 'व्यक्ति' है, उसके—अवचेतन, इच्छासंसार, आकांक्षाएँ और रिरिंसाएँ हैं। अज्ञेय, इलाचन्द, निर्मल वर्मा जैसे लेखकों का मनोविश्लेषणपरक अथवा वैयक्तिक आयामों का दिग्दर्शन सामाजिक चेतना की मुहिम को मन्द करता प्रतीत होता है, अतः जो सामाजिक परिवर्तन में ही, व्यक्ति का हित देख सकते है, वे विचारक और लेखक अज्ञेय की प्रासंगिकता का सवाल उठायेंगे, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध जैसे लेखकों की प्रासंगिकता का नहीं, क्योंकि सामाजिक यथार्थ तथा सामाजिक चेतना की शुरुआत प्रेमचन्द ने की थी, उसे आगे ले चलने का उत्तरदायित्व हम पर है। तब प्रेमचन्द अप्रासंगिक कैसे हो सकते हैं?

शुद्ध कला की दृष्टि से भी प्रेमचन्द प्रासंगिक है क्योंकि उनकी अमर रचनाएँ यह रहस्य खोलती हैं कि प्रामाणिक यथार्थ चित्रण, बाद में स्वयं प्रतीकत्व पा जाता है। राजेन्द्र यादव ने प्रतीकत्व कई जगह आरोपित किया है पर उनकी कहानियाँ प्रतीक नहीं हो सकीं जबकि प्रेमचन्द, 'शतरंज के खिलाड़ी' या 'नशा' में प्रतीकत्व लादने के चक्कर में न पड़कर, वास्तविकता के प्रतिनिधि पात्र और स्थितियों का चयन कर, सिर्फ यथार्थ का अंकन करते हैं। यथार्थ के चयन और उसकी जीवन्तता के कारण प्रेमचन्द की तात्कालिकता में सर्वकालीनता स्वतः

आ जाती है क्योंकि आगामी काल में विवरण बदल सकता है, मनुष्यता नहीं और मनुष्य की कोई भी यथार्थ दशा, बाद में भी प्रासंगिक रहेगी, क्योंकि वह मनुष्यता के प्रश्न को उठाती रहेगी। 'शतरंज के खिलाड़ी' को सत्यजित रे ने फिल्म के लिए इसीलिए चुना क्योंकि वह आज के 'खिलाड़ियों' पर लागू होती है।

आधुनिकतावादी कहते हैं कि प्रेमचन्द का लेखन एकरेखीय है, उसमे बहुआयामीपन नहीं है। किन्तु एकरेखीय या एकायामी-सा लगने वाला प्रेमचन्दीय लेखन प्रतीकत्व पाकर बहुआयामी, बहुरेखीय, वृत्ताकार और अनेकार्थक क्यों हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर कोई आधुनिकतावादी नहीं देता।

जो आधुनिकतावादी मनुष्य को उसके जीवन यथार्थ में न पकड़ कर, उसकी 'साइकी' या मनस्तत्व के सन्दर्भ में पकड़ते है, उनका लेखन जीवनानुरूप न रहकर मनोविश्लेषण के औपन्यासिक चित्रण-सा क्यों लगने लगता है ? उसके पात्र विक्षिप्त, सनकी, स्वेच्छाचारी, कामी और असामाजिक क्यों हो जाते है ? कामकुण्ठा ही क्यों उनमें केन्द्रीय स्थान पा लेती है ? सम्भव है, इस प्रश्न का उत्तर जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द, निर्मल वर्मा जैसे लेखकों की साइकी और अवचेतन मे मिले। मनोवेत्ता ही इस मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि का पता लगा सकते हैं कि अज्ञेय डी. एच. लारेंस को अपना प्रेरक लेखक क्यो मानते है, प्रेमचन्द को क्यों नहीं मानते या उनके यथार्थवादी मार्ग पर क्यो नही चल पाते ?

समाजविज्ञान का साधारण जिज्ञासु भी जानता है कि यथार्थ दर्शक लेखन से ही सामाजिक क्रान्ति सम्भव होती है। सोवियत रूस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि यथार्थवादी कथालेखन से बनी थी अतएव प्रेमचन्द सामाजिक बदलाव की दृष्टि से प्रथम बडे लेखक थे और आज भी है। प्रेमचन्द की परम्परा के पालन का अर्थ, सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन और श्रमजीवियों द्वारा, रक्तजीवियो (शोषकों) को अधिकारहीन करना है। इस तरह की मनोवृत्ति व्यक्तिवादी लेखक नहीं बना सकते क्योंकि वे पिण्ड की आन्तरिक जटिलताओं, अमूर्त्त उड़ानों, इच्छापूर्तियों और फन्तासियों मे फँस जाते हैं। इन व्यक्तिवादियों के लेखन का महत्व वैयक्तिक मनोविज्ञान की दृष्टि से तो है किन्तु सामाजिक चेतना की दृष्टि से देखने पर लगेगा कि जो प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा से हटा है, वह मानववादी परम्परा से भी हट गया है। वह अपने व्यक्तित्व मे मूल्यनिरपेक्ष (अमॉरल) हो गया है और उसका लेखन वैयक्तिक विचलन (Individual deviation) का शिकार हो गया है। यह याद रहे कि कलात्मकता के आधार पर इस प्रकार के विचलन में मानवीय सारवत्ता (ह्यूमन एसेंस) की मात्रा क्षीण हो जाती है।

प्रेमचन्द को 'पिछड़ा हुआ' सिद्ध करने मे डा. नामवरसिंह जैसे आलोचकों का भी जाने-अनजाने योगदान है क्योंकि प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का सवाल उठाये बिना, उसकी ओर संकेत किए बिना, उन्होंने 'निर्मल वर्मा' को 'नई

कहानी' का सिरमौर घोषित कर दिया और प्रेमचन्द की आत्मा को शान्त रखने के लिए यथार्थवादी मार्कण्डेय, शेखर जोशी और अमरकान्त की भी तारीफ करते रहे। यह कभी नहीं बताया कि इन दो ध्रुवों में क्या सम्बन्ध है या सम्बन्ध नहीं है? इस आलोचनात्मक नीति का परिणाम यह हुआ कि अमरकान्त, मार्कण्डेय जैसे लेखक तो प्रेमचन्दीय यानी सरल और पिछड़े हुए माने जाने लगे और 'नई कहानी' के मूर्धन्य निर्मल वर्मा मान लिए गए, यहाँ तक कि बेचारे राजेन्द्र यादव, राकेश और कमलेश्वर, इस ज्यादती से आज भी दुःखी हैं क्योंकि वे न इधर के रहे, न उधर के रहे। हाँ वे कुछ इधर के और कुछ उधर के होकर रह गए!

अतएव, मार्क्सवाद का नाम जपने और प्रेमचन्द पर राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय (समाजवादी देशों की मदद से) परिसंवादों में प्रेमचन्द के गौरवगायक आलोचक यदि साहित्य में प्रेमचन्द को पिछड़ा हुआ और सरल लेखक मानकर, पाश्चात्य आधुनिकता की चकाचौंध देने वाले लेखकों के मिथ्याचेतना-उत्पादक साहित्य को श्रेष्ठ और यथार्थवादी लेखन को कम श्रेष्ठ मानेंगे तो प्रेमचन्द के प्रति गद्दारी होगी और ऐसी आलोचना दावघात की आलोचना (टैक्टीकल क्रिटीसिज्म) कहलाएगी। जो नामवरसिंह, डा. रामविलास शर्मा में रोमांटिक या छायावादी प्रभाव खोजते हैं, वे यह भूल जाते है कि डा. रामविलास शर्मा ही प्रेमचन्द को सही परिप्रेक्ष में देख पाये हैं। रामविलासजी ने ही पाश्चात्य आधुनिकता के नक्काल लेखकों को एक्सपोज किया है जबकि नामवरसिंह एक जेब में प्रेमचन्द को और एक जेब में प्रेमचन्द-विरोधियों को डाले रहते है। इस तरह प्रेमचन्द की हानि अवसरवादी मार्क्सवादियों द्वारा अधिक हुई है।

प्रेमचन्द की परम्परा से वे लेखक भी अलग है, अन्ततः विरोधी भी, जिनके लेखन में आम जनता के प्रति विद्रूप का भाव है, जैसे श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' में। इस उपन्यास में जनता का उपहास मिलता है जबकि प्रेमचन्द जनता की गन्दगी, बुरी आदतों या जड़ता को दिखाकर उसका उत्तरदायित्व अभिजन पर डालते हैं, क्योंकि अभिजन और उनकी जनविरोधी व्यवस्था ही आम लोगों की व्यथा और विकृति के लिए जवाबदेह है।

अब प्रेमचन्द के विषय में यह भी भ्रम दूर हो गया है कि उन पर समाजवाद का प्रभाव गोदान लिखते वक्त ही था, उसके पूर्व नहीं था। 1930 के आस-पास से ही प्रेमचन्द के वक्तव्यों में समाजवाद के आधार पर महाजनी सभ्यता का विरोध मिलने लगता है। अमृतराय ने इस विषय में अनेक तथ्य दिए है। फिर भी बहुत से लोग यह नहीं मानना चाहते कि प्रेमचन्द गांधीवाद के साथ-साथ समाजवाद पर भी चिन्तन-मनन करते आ रहे थे।

आजादी के बाद क्रमशः हमारे समाज का मध्यवर्गीकरण हो रहा है। लाखों,

करोडो की तादाद मे नीचे से ऊपर प्रगति हो रही है किन्तु ये वर्गगर्भित शक्ति व्यवस्था या बाजार मे व्यवस्थित होकर स्ववर्गसीमित हो जाते हैं और अपने-अपने बिलो मे घुसे रहते हैं। सुख-सुविधाएं मिलते ही ये व्यक्ति मूल्यचारी न रहकर, इच्छाचारी, संग्रहशील और उन्नति-प्रतियोगिता (रैट रेस या घूहादौड़) मे शामिल हो जाते है। इनमे अहं, श्रेष्ठता-विशिष्टता की स्वचेतना, कटाव और अलगाव बढ़ जाता है। प्रेमचन्द इनकी जीवन-पद्धति पर प्रश्नचिह्न लगाते है और मानवीय ममता की मांग करते है। प्रेमचन्द को अप्रासंगिक सिद्ध किए बिना यह नवसमृद्धवर्ग और उसके वर्ग-प्रतिनिधि बुद्धिजीवी अपराधबोध से पीड़ित रहेंगे, अतः वे पाश्चात्य पूंजीवादी आधुनिकता की, जो वर्गवैषम्य पर आधारित है, वकालत करने लगते हैं और अन्धी प्रतियोगिता मे गर्क होकर प्रेमचन्द को धता बता देते है।

किन्तु प्रेमचन्द का जनाधार इतना विराट है कि इन्हें अप्रासंगिक सिद्ध करना असम्भव है। वर्तमान सभ्यता की चाकचिक्य से वंचित चालीस करोड़ से अधिक लोग गरीबी की रेखा से नीचे है, प्रेमचन्द इनके लिए प्रासंगिक लेखक है और उनके लिए भी जो व्यवस्था में व्यवस्थित होकर भी मानवीय सवेदना से ओतप्रोत हैं।

प्रेमचन्द को यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो वह अकेले लेखक है, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को कल्पना और कामवासना से मुक्त कर जीवन संघर्ष को उसके केन्द्र मे स्थापित किया। वह छायावाद युग मे अकेले दम पर (उससे प्रभावित न होकर) सामान्यजन को हाशिए से मरकज़ मे लाए। प्रेमचन्द मे वह मिथ्याचेतना या पौराणिकता या प्रत्ययवादिता (ब्रह्मवाद, आत्मावाद, रहस्यवाद आदि) नहीं जो छायावादियों में थी, अतः वह एक क्रान्तिकारी लेखक थे, मात्र सुधारवादी न सुधारवाद उनके समाधानों मे है, पात्र और परिस्थितियो के चित्रण में नहीं।

प्रेमचन्द की प्राय. शरदचन्द और गोर्की से तुलना की जाती है किन्तु व प्रतिभाओं की भूमिका और विशिष्टता देखी जानी चाहिए, उनमे तारतम्य स्थापि करने की कोशिशें व्यर्थ है। उदाहरण के लिए गोर्की और शरदचन्द को प्रेमचन्द से बडा लेखक माना जाता है क्योकि उनमें मानवमन का चित्रण करते समय नैतिक या सदाचार का आतंक नहीं है जबकि प्रेमचन्द जीवनसंघर्ष और सामाजिकता के लेखक हैं, वहशत, वहशीपन और मनोदशाओ की मनमानी से वह बचते है किन्तु अपने व्यक्तित्व और भूमिका के अनुरूप लेखक अपने को बांधते है, अतः प्रेमचन्द की शक्ति और नित्य नवीनता उनके द्वारा चित्रित वास्तविक जीवन संघर्ष मे है जो अपनी परिणति और प्रभाव मे स्वत. सांकेतिक और प्रतीकात्मक हो जाता है। यह शक्ति गोर्की और शरदचन्द मे कम है। इसके सिवा प्रेमचन्द के पात्र सक्रिय है, शरद के पात्रों में अनुभूत और तर्क है पर उनमे आत्मदमन अधिक है। शरद 'सूरदास' जैसा

पात्र नही रच सकते थे, न 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानी, जो एक पूरी सभ्यता के ह्रास की प्रतीक बन गयी है।

यदि दृष्टि मनोरंजन;किताबी मनोविश्लेषण, मनोविलास या चमत्कार पर है तो प्रेमचन्द निराश करेंगे किन्तु यदि दृष्टि मनुष्य और उसकी जद्दोजहद पर है, सामाजिक कायाकल्प पर है तो प्रेमचन्द सामखयाली से खरे यथार्थ की ओर ले चलने मे सबसे अधिक सहायक सिद्ध होंगे। रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से नया लेखक अतियथार्थवाद, अन्तश्चेतनापरक, छायाभास आदि कोई भी रचनाविधि अपना सकता है, वह व्यक्ति के माध्यम से भी समष्टि की स्थिति का संकेत कर सकता है यानी वह लेखन का कोई भी मॉडल या प्रणाली अपना सकता है, पर प्रेमचन्द की दृष्टि और मानवसंवेदना यदि विस्मृत न हो, उनकी मूलचेतना या स्पिरिट कायम रहे तो नवीन प्रयोग, प्रगतिशीलता में बाधक नही होंगे।

हिन्दी मे जीवन और सामाजिक-राजनैतिक असंगतियों की मार से प्रेमचन्द की वापसी हुई है और उनके तथा उनसे प्रेरित यथार्थवादियो के सामने प्रेमचन्द परम्परा-के विरोधी लेखक बेदखल हो रहे है। यह प्रेमचन्द की प्रासंगिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है !!

□□□

14 | प्रेमचंद की प्रासंगिकता-II

प्रासंगिकता किसी ठोस जीवन प्रसंग में तं होती है और दिक्कालातीत सार्व-भौमिक मानवसत्य के रूप में भी। उदाहरण के लिये, जो लोग और लेखक वर्गवर्णहीन समाज की परिकल्पना को सभी विसंगतियों–वैषम्यों और असंगतियों का इलाज मानते है, उन्हें प्रेमचंद की सिर्फ कुछ ही रचनाएं प्रासंगिक नहीं लगती बल्कि प्रेमचन्द का समूचा साहित्य ही प्रासंगिक लगता है क्योंकि उसमें 1857 की प्रथम क्रांति की असफलता के बाद द्वितीय जन उभार का सांगोपांग प्रतिबिम्बन है और यह कि प्रेमचन्द ने ही दो महायुद्धों के बीच की कालावधि मे इस देश की परिवर्तन के लिए बेचैन जनता और शासक–शोषक वर्ग की भिड़न्त का चटख रंगों में (कहीं कहीं तो छायाचित्रात्मक भी) वर्णन किया है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी से लेकर आज के आधुनिक ह्रासवादियों (डिकेडेंट्स) तक, अनेकों ने प्रेमचन्द को इस कारण 'गए-बीते' कह कर टालने की कोशिश की है कि प्रेमचन्द की कृतियो से, कोई सार्वभौमिक (यूनीवर्सल) प्रत्यय और प्रतीति नहीं उभरती किंतु प्रेमचन्द के साहित्य का फलक अत्यन्त विस्तृत होने और सर्वत्र सामग्रिकता में, चीजों-शक्तियों और व्यक्तियों के अन्तस्सम्बन्धो पर निगाह जमाए रखने के कारण, प्रेमचन्द के उपन्यासों के अन्त मे, बुराई और भलाई के बीच शाश्वत संघर्ष की प्रतीति उभरती है। यह अवश्य है कि यह सामग्रिक-सार्वभौमिक प्रतीति, ठोस जीवनस्थितियो और संघर्षशील राजनैतिक सामाजिक शक्तियों की गतियों के अंकन पर आधारित है, अमूर्त, विच्छिन्न और विखण्डित संवेदना पर नहीं। इसलिए प्रेमचन्द कालांकित भी है, कालातीत और कालजयी भी।

इसके सिवा, मैं यह अन्यत्र दिखा चुका हूँ कि प्रेमचन्द की जटिल को सरल रूप मे पेश करने की शक्ति और जीवन्त वास्तविकता मे से सजग अंश-चयन द्वारा उनकी रचनाओ में एक सर्वकालीन प्रत्यय और प्रतीक उदित होता है जो जो स्वत. स्फूर्त और अनारोपित होता है। जैसे शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'दो बैलों की कथा' जैसी अनेक कहानियो मे। कला की द्वन्द्वात्मकता का यह एक और सबूत है कि यदि लेखक में उलझी हुई, बहुस्तरीय वास्तविकता में से, सही टुकड़े के चयन की प्रतिभा है और वह असलियत के उस अंश और पात्रों की आमा-

णिक तस्वीर पेश करता है तो स्वतः उसकी रचना प्रतीकत्व पा जाती है। यथार्थवाद और प्रतीकवाद का विरोध प्रेमचन्द में समाप्त हो जाता है, इस कलारहस्य की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि बलात् लाए गए प्रतीकों, दूरागत बिम्बों और नवीनता के नशे में अमूर्त आकारों की भरमार से एक किमाकारता बढ़ी है जबकि प्रेमचन्द में चित्रित यथार्थ अनायास और स्वयमेव प्रतीक में बदल जाता है और आज सभी 'शतरंज के खिलाड़ी' लगने लगते हैं। राजनीति, समाज और यहां तक कि साहित्य, शिक्षा, न्याय और अन्य-चेतन क्षेत्रों में भी शतरंज का खेल जारी है।

प्रेमचन्द की प्रासंगिकता की खोज हो रही है और लोग अपनी अपनी दृष्टि और समझ के अनुसार उसे पा भी रहे हैं। उदाहरण के लिए वर्गचेतना के विरोधी कि प्रेमचन्द में करुणा या अमूर्त मानवतावाद के कारण उन्हें प्रासंगिक मानते हैं जबकि मार्क्सवादी लेखक प्रेमचन्द को मूर्तमानवतावाद के कारण उन्हें सामाजिक यथार्थवाद का प्रवर्तक कहते हैं और यह भी कहते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर सामाजिक चेतना के चित्रण का भव्य महल प्रेमचन्द के चेतनात्मक-आधार पर खड़ा है और नींव सर्वदा प्रासंगिक रहती है।

प्रेमचन्द की सरल द्वारा जटिल की अभिव्यक्ति का मार्ग न अपना कर अथवा सामूहिक शक्तियों की दशा और दिशा से अपने को काट कर, अंतर्मुख-अजनबी-अद्वितीय बन कर अजीब और असामान्य अनुभूतियों-अहसासों और व्यक्ति के निजी चेतनाप्रवाहों एवं क्षण में कौंधते अनुभवों तक ही अपने को सीमित करने वाले लेखकों-समीक्षकों को भी प्रेमचन्द की मानवसंवेदना की प्रासंगिकता को मानना पड़ा है। लेकिन वे यह कभी नहीं कहते कि प्रेमचन्द की मानवसंवेदना और यथार्थ दर्शिता, उनका वर्गबोध और जनपक्षधरता ही समकालीन संघर्षशील कविता, कहानी और नाटक में व्यक्त हो रही है अतः षष्ठदशक में, व्यक्तिवादियों और समाजवाद-साम्यवाद विरोधी लेखकों-कवियों द्वारा प्रेमचन्द को अंशतः या पूर्णतः उपेक्षित किया गया किंतु यथार्थ के धक्के से, व्यापक मोहभंग के कारण, साठोत्तर सृजन में प्रेमचन्द की मूल वर्गचेतना और व्यापक मानव की पुनः वापसी हुई है और आज स्थिति यह है कि साहित्य में प्रेमचन्दीय सामाजिक-बदलाव की मुख्य धारा अधिक प्रबल और प्रशस्त हुई है। इस धारा के ही विभिन्न आलोड़न, तरंगाघात और भंवर, ग. मा. मुक्तिबोध, धूमिल जैसी कवियों और ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी जैसे कहानीकारों में दिखाई पड़ते हैं।

मुक्तिबोध ने, अपने माध्यम से, सघनीकृत शैली में प्रेमचन्द जैसे लेखक के देहावसान पर ही मानो यह लिखा है :—

असल बात यह है कि कोई (अर्थ) मर गया
देखते ही देखते
लेकिन वह जिन्दगी का नक्शा पेश कर गया

उसका यह प्रस्तुतीकरण भी सही है
संविदन यही है, संवेदन का निवेदन यही है।

(भूरी 2 खाक धूल)

मुक्तिबोध की कविता–'जिन्दगी का रास्ता' का 'रामू' नामक पात्र, गोदान के गोबर का अगला सिलसिला सा लगता है और यहां वही व्यक्ति और व्यवस्था का विकट द्वन्द्व है जो गोदान में मिलता है। अन्तर यही है कि मुक्तिबोध के 'रामू' को झूठ के बीच सत्य की शक्ति मिल गई है और हिम्मत भी, जबकि प्रेमचन्द का होरी एक ट्रैजिक पात्र है, जो मुक्ति की कोई राह नहीं देख पाता क्योंकि कृषकवर्ग की यही टिपीकल समझ थी कि कोई विकल्प नहीं है।

प्रेमचन्द ने कृषकजीवन के बेचारेपन को दिखाया है जो तब वास्तविकता थी। इसके स्थान पर समकालीन सृजन मे विद्रोह और क्रांति का ताप और त्वेष है, आक्रामकता और व्यंग्यविद्रूप भी। किंतु समकालीन संघर्ष शील लेखन में, नए नए कथन प्रकारो और रचनापद्धतियों (फतासी, चेतना प्रवाह, विन्यास विच्छिन्नता, अमूर्तन, अति यथार्थवाद आदि) के बावजूद प्रेमचन्दीय जनवेदना है, जिसे मुक्तिबोध ने बोध और वेदना का सम्बन्ध दिखाते हुए यों कहा है:—

'फोड़ा वह सिद्धांत के अन्दर बैठा हुआ
एक काम सिद्धांत का यह था कि
परवरिश करे वह फोड़े की
जम गया पपड़ी का ढक्कन तो जबर्दस्ती खोल दे।'

(भूरी भूरी खाक धूल)

प्रेमचन्द के सिद्धांतों के भीतर उनके अंतःकरण में यह वेदना का फोड़ा टीसता था। पर, यह फोड़ा व्यक्तिसीमित और रोमांटिक वेदना वाला नहीं था, अनवेदना का फोड़ा था, जो आज हर उस रचनाकार के भीतर टीस रहा है, फट फूट रहा है, जिसमें कुछ भी मनुष्यता शेष है।

किसी को प्रेमचन्द की प्रारम्भिक गाधीवादी विचारणा से मतभेद है तो किसी को उनकी अंतिम वैचारिक परिणति या मार्क्सवादिता से किंतु प्रेमचन्द सर्वत्र अपने विचार से अपनी जनवेदना को पुष्ट करते हैं और गोदान और 'मंगलसूत्र' में यह पपड़ी का ढक्कन भी खोल देते है, 'कफन' और 'पूस की रात' में भी। यहां संवेदना पक्षाघातित करती है और विकल्प ढूंढने को विवश भी करती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द की वैचारिक–परिणति कम महत्वपूर्ण है अथवा प्रेमचन्द विचारों के संदर्भ मे पिछलग्गू थे। प्रेमचन्द की वैचारिकता की स्वायत्तता का यह प्रमाण है कि वह गाधी जी द्वारा बार-बार सत्याग्रह स्थगित करने पर बिगड़ते थे और जनसाधारण की दृष्टि से राष्ट्रीय कांग्रेस की पूंजीवादी प्रवृत्तियों पर चोट करते हैं (द्रष्टव्य, 'गोर्की और प्रेमचन्द' में 'जागरण' से उद्धृत

अंश) प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' और मंगलसूत्र' में स्पष्टतः वर्तमान राजनैतिक-सामाजिक संरचना की प्रतिक्रियावादिता का भण्डा फोड़ किया है और इसीलिए मार्क्सवादी प्रेमचन्द को 'अपना' लेखक मानते है। इस बात पर ध्यान न देने से, अज्ञेय, गोविन्द मिश्र, कमलकिशोर गोयनका और महीपसिंह जैसे लेखको को लगता है कि प्रेमचन्द की खींचतान हो रही है। "संचेतना" के ताजे अंक के सम्पादकीय में तो भगतसिंह को समाजवादी क्रांतिकारी न मान कर अकाली सिद्ध किया गया है और प्रेमचन्द को आर्यसमाजी बताया गया है!

प्रेमचन्द में विचारों का क्रमबद्ध विकास नहीं हुआ था बल्कि कई प्रभाव एक साथ चल रहे थे। मतलन् 'प्रेमाश्रम' में गांधीवादी परिणति है परन्तु बीच में बलराज का वक्तव्य है जो बल्गारिया में किसानों के राज्य की बात कहता है। रंगभूमि में पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव और उससे उत्पन्न अन्तर्विरोधों का रूपायन है तो 'कर्मभूमि' में राष्ट्रीय आंदोलन की गांधीवादिता के चौखटे के भीतर शिक्षा, न्याय आदि संरचनाओं की प्रतिक्रियावादिता रेखांकित की गई है। सामन्ती-पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ढांचे का यह विश्लेषण गांधीवादी या आर्यसमाजी नहीं है अपितु यह इस सिद्धांत पर आधारित है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी है और यह कि हर जगह गरीबों और अमीरों के हितों की टकराहट है। 'कर्मभूमि' मे शिक्षा और न्याय-संरचना पर प्रेमचन्द कहते हैं—

"और एक यह अध्यापक है जो किसी अंश में भी एक मामूली व्यापारी या राज्य कर्मचारी से पीछे नहीं। इसमें भी वही दम्भ है, वही धनमद है, वही अधिकारमद है·······इतनी अदालतों की जरूरत क्या? ये बड़े-बड़े महकमे किस लिए? ऐसा मालूम होता है, गरीबों की लाश नोंचने वाले गिद्धों का समूह है। जिनके पास जितनी ही बड़ी डिग्री है, उसका स्वार्थ भी उतना ही बढ़ा हुआ है। मानों लोभ और स्वार्थ ही विद्वत्ता का लक्षण है। गरीबों को रोटियां मयस्सर न हों, कपड़ों को तरसते हों, पर हमारे शिक्षित भाइयो को मोटर चाहिये, बंगला चाहिये, नौकरों की एक पलटन चाहिये। इस संसार को अगर मनुष्य ने रचा है तो वह अन्यायी है और ईश्वर ने रचा है तो उसे क्या कहें?" (पृष्ठ 91)

प्रेमचन्द इस प्रकार के विचारों के विन्यास द्वारा पाठक मे उच्चतम आदर्शों को उकसाते हैं और मनुष्य को पैसे के स्थान पर मूल्य के निकष पर कसते हैं।

यह मूल्यवादिता प्रेमचन्द मे सभी धरातलो पर है उनका साहित्य मन को मूल्यानुशासित करना चाहता है किन्तु ये मूल्य मानवीय हैं, समदर्शी, क्रान्तिकारी और अभिजनपरक (इलीट) नहीं। उनका मूल्यबिन्दु शोषित वर्ग पर केन्द्रित है अतः वह अभिजनों के प्रभुत्व के नैरन्तर्य के विरोधी है। यही दृष्टि आज प्रासंगिक है व्यापक जनसहानुभूति को मजबूत करती है।

प्रेमचन्द ने जनजीवन के भयंकर यथार्थ का साक्षात्कार कराया है और उनके उपन्यासों में, हृदयपरिवर्तनवाद, के बावजूद साधनहीनों की निराशाओं का उन्मीलन है। जीवन यथार्थजन्य निराशाओं के अनावरण से पाठक में क्रांतिकारी क्रोध भड़कता है। यथार्थवाद से ही क्रांति हो सकती है, यह सत्य अब समाजशास्त्री भी समझने लगे हैं।

Most studies of social change today assume that change is always initiated at the level of cultural system in the realm of ideas or values, only later does the change in values lead to change in norms or behaviour rules. This assumption neglects the Marxian analysis which suggests that change can ba initiated by frustration and/or opportunities inherent in the social stuation.[1]

प्रेमचन्द ने तिलिस्म और छायावाद की वायवीयता छोड़कर, परिवर्तन-चेतना के लिए भारतीय जीवनदशाओं की नारकीय निराशाओं को अपने सत्य और संवेदना से आलोकित किया जिसे पढ़कर आज भी प्रचलित के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न लगता है और आक्रोश उमड़ता है।

प्रेमचन्द ने साहित्य की भूमिका को बदल दिया, उसके पारम्परिक और रोमानी एवम् कलावादी मंसूबों को, जो सिर के बल खड़े थे, उन्हें धरती पर उनके पैरों के बल खड़ा कर दिया। उन्होंने स्वातंत्र्यसंग्राम को सर्वाधिक प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया। लगभग 6 हजार वास्तविक चरित्रो की रचना की और सहस्रो सामाजिक स्थितियो मे गतिशील, आंदोलित व्यक्तियों और दलों का द्वंद्व प्रदर्शित किया। प्रेमचन्द ने हिन्दी उर्दू मिश्रित सामाजिक भाषा का विकास किया, जिसमें जनवादी बुनावट है, मुहावरादानी है और प्रवाह है। सम्प्रेषण, सहजता और जटिल को सरल मगर संकेतात्मक ढंग से कहने के लिए आज भी लेखक प्रेमचन्द से सीख सकते है। ऐसा लगता है मुक्तिबोध के शब्दो में स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे हों—

अजी ! एक जन साधारण का अविरल फाउंटेन चल रहा
समाज के जितने भी निंदा-प्रवाद है
सब हमें याद हैं
हरेक का चेहरा व जीवनरहस्य हम जानते
अंधा कौन, बहरा कौन
एक नेत्र कौन कहाँ उठा है

1. Values in Models of Modernization.

—Ratna Dutta, Vikas, Delhi.

सब हमें मालूम
कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्ठा है
हमें सब मालूम
चाहो तो समाजी शोषण क्रिया की सब
पाचनक्रिया की सब अंतड़ियाँ
टेबुल पर रख दें
कि तुम भी निहार लो व हम भी निरख लें।
हम प्रथम विद्रोही थे, ज़माने से लड़े !!

□□□

15 प्रेमचन्द : रचना प्रक्रिया के अंतःसूत्र

प्रेमचन्द जन्मशताब्दी के प्रसङ्ग में प्रेमचन्द और उनके साहित्य पर इतना कहा और लिखा गया है कि दुहराव-दोहन से बचना कठिन हो रहा है।

लेकिन प्रेमचन्द को लेकर अनेक विचार-बिन्दु उठे हैं, क्या उनकी युक्ति-युक्तता पर व्यवस्थित विचार हुआ है ? यहां इस प्रकार के सभी मुद्दे तो आलोचित नहीं हो सकते किंतु जो बिन्दु मेरे ध्यान में खिंचे, उन पर सोचा जा सकता है।

प्रेमचन्द के विषय में प्रायः सर्वस्वीकृत मत यह है कि उनमें कथ्य सचेत होकर स्वयं कला बनता है। स्वयं प्रेमचन्द कला के प्रति अतिरिक्त प्रदर्शनप्रियता नहीं दिखाते, न उनमें सजावट और बुनावट है।[1] प्रेमचन्द की गद्य संरचना में जो आयासहीन ढब है, वह 'भारतीय गद्य में कहीं नहीं मिलता।'[2]

इसका कारण क्या है ? मेरी समझ से, किसी भी स्थिति, घटना, व्यक्ति और समूह के जीवन्त प्रकरण में अनेक जटिल जुड़ाव होते हैं। प्रेमचन्द वास्तविकता और आन्तरिकता के धरातल पर दृश्य-अदृश्य सम्बन्ध-सूत्रों, प्रतिक्रिया-प्रत्यूह और द्वन्द्वजाल से परिचित थे, पर वे उस विवरण-व्यूह में से आवश्यक को खींच कर पाठक के सामने लाते थे शेष घटनाजाल या चेतना-प्रवाह को छोड़ देते थे।

दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द तात्विक मुद्रा से बचते हैं। ऐसा नहीं लगता कि वह किसी वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य या भिड़न्त की प्रक्रिया में, आपबीती का रवैया अपनाते हों। नहीं, वह ऐसा नहीं करते। वह, सामान्य पाठक के रूबरू होकर सिर्फ आवश्यक कथ्य का चयन करते हैं और शेष कल्पना पर छोड़ देते हैं। इससे स्पष्ट है कि आवश्यक को अनावश्यक से अलग करते वक्त लेखक के मन में वर्ण्यविषय की पूर्ण जटिलता थी। यदि प्रेमचन्द के किसी ऐसे वाक्य को लेकर उस समय के सारे वर्ण्यविषय क्षेत्र की मानसिक-पुनर्रचना की जाए तो उनकी सहजकला के रहस्य का पता लग सकता है।

---

1. फिराक गोरखपुरी ने भी प्रेमचन्द के इस अनायास कौशल को सराहा है—स्मारिका, राजस्थान प्रगतिशील लेखक सम्मेलन, जयपुर पृष्ठ 33।
2. वही।

"गोलमेज सभा ने अपने तीनों पन भोग कर जीवनलीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा नहीं थी। लेकिन वह इस हद तक वन्ध्या होगी, इसका हमें ख्याल नहीं था। तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या, कुछ भी नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा होता, देखते कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है, लेकिन कुछ भी न हुआ।"3

धारावाहिक गद्य के सिवा यहाँ 'अपने तीनों पन' पर ध्यान जाना चाहिए—गांधीवादी शांतिपरक आंदोलन की एक-एक बात पर प्रेमचन्द की दृष्टि है, क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन ही, सामाजिक, राजनैतिक चेतना का निर्माण और विकास कर रहा था। 1930 के बाद पूँजीवादी व्यवस्था में जो तीव्र गतिरोध आया था, वही नहीं बल्कि देश में लम्बा वैधानिक गांधीवादी संघर्ष भी व्यर्थता की अनुभूति उगा रहा था। यह व्यापक घटना-समूह, वर्षों देखने के बाद प्रेमचन्द सिर्फ 'अपने तीनों पन' (तीनों आयुक्रम में) पद का प्रयोग कर, शेष सब पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं।

'कातिल' कहानी में धर्मवीर अपनी माँ से कहता है—

"वे हिन्दुस्तान उस वक्त छोड़ेंगे, जब उन्हें विश्वास हो जाएगा कि हम यहाँ एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकते। आज अगर हिन्दुस्थान के एक हजार अंग्रेज कत्ल कर दिए जाएँ तो आज स्वराज्य मिल जाए। रूस इसी तरह आजाद हुआ, आयरलैंड इसी तरह आजाद हुआ और हिंदुस्थान भी इसी तरह आजाद होगा।"4

यहां इतिहासद्रष्टा प्रेमचन्द की दृष्टि, इतिहास की आवश्यक या अनिवार्य गति के दीर्घ निरीक्षण और मन-ही-मन लम्बे चिंतन के बाद इस आवश्यक वाक्य को प्रस्तुत करती है। जिन कलाभिमानी लेखकों के लेखन में विचलनपरक संरचना पर ही ध्यान है वे कलात्मक आकर्षण की चकाचौंध तो पैदा कर जाते हैं, किंतु उनकी अतर्वस्तु में खोखलापन और विचार-दारिद्र्य छिपाए नहीं छिपता, किंतु प्रेमचंद के बारम्बार अध्ययन और मनन से आवश्यक बोध की पकड़ के कारण उनकी प्रत्यक्ष और सहज वाक्य रचना, अपने भीतरी समृद्ध विचारतत्त्व के कारण, आज भी विस्मित कर देती है, जबकि मात्र अभिव्यक्तिवादी लेखन के उपमान पुराने पड़ जाने पर उनकी ऊपरी आधुनिक बुनावट ठबक हो जाती है।5

---

3. गोर्की और प्रेमचन्द—मदनलाल मधु। मास्को, 1980.
4. वही।
5. यह दृष्टव्य है कि प्रेमचन्द के लेखन में आपाततः पुरानापन लगने पर भी, उसकी सन्दर्भों को विद्युतीकृत करने की शक्ति के कारण वह प्रेमचन्दीयलेखन वास्तविकता की चमक पैदा करता है (Reality shines throug his' writing) जबकि प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के विरोधी लेखन में वास्तविकता की मतिभ्रमात्मक तस्वीर मिलती है।

यह सच है कि प्रेमचन्द वैयक्तिक चेतनाप्रवाह और व्यक्ति-मनोविज्ञान-मनोविश्लेषण में नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि उनके लिए साहित्य सामाजिक-राजनैतिक *कायाकल्प का माध्यम था, अस्त्र था अतः वह मात्र कला के औजार पैनाने या रंग-रोगन* में न लग कर सामाजिक चेतना के बदलाव के लिए सचेत सृजन करना चाहते थे। अतः उनके वाक्यों में जो निरीक्षित या विचारित अनुभव हैं वह सामुदायिक प्रकार का है, *व्यक्तिगत और व्यक्तिवादी किस्म का नहीं। उनके वाक्यों में तत्कालीन* पूरा सामुदायिक संदर्भ कस-कस कर दबाया गया है उसी तरह जिस तरह शेक्सपियर के वाक्यों में—इतिहास को दाब-दाब कर भरा गया है। यह व्यापकजनसंदर्भ पुस्तकीय नहीं, स्वय के अनुभव और निरीक्षण पर आधारित है। प्रेमचन्द, इस तरह सर्वाधिक सामूहिक-प्रामाणिक-अनुभव के लेखक थे।

यह प्रेमचन्दीय अनुभव उस तथाकथित 'प्रामाणिक अनुभव' से भिन्न है, जिसमें वर्ण्यविषय को वैयक्तिक अनुभव तक सीमित कर दिया गया था और अवलोकन को अनुभव के दायरे में खदेड़ दिया गया था। फलतः प्रेमचन्द के विरुद्ध प्रतिक्रिया में कथा-साहित्य, व्यक्तिगत 'केस हिस्ट्री' अथवा अस्तित्ववाद की आयातित मनोदशाओं और परिप्रेक्ष्यो मे बदलने लगा।

प्रेमचन्द सामूहिक मनोवेत्ता थे। अतः प्रेमचन्द के वाक्यों से तात्कालिक सामूहिक मनोविज्ञान की रचना हो सकती है, उस समय के इतिहास और वैचारिक सघर्ष को स्पष्टता और पर्याप्तता दी जा सकती है।

मैं अन्य लेखों में यह कह चुका हूँ कि प्रेमचन्द जीवन्त-यथार्थ मे से 'आवश्यक' की चयनशक्ति से समृद्ध होने के *कारण, तात्कालिकता का अतिक्रमण करते थे।* वे अपनी रचना को अनायास या विषय के साथ खेलते हुए प्रतीक मे बदल देते थे, जैसे—'शतरंज के खिलाड़ी' और 'नशा' वगैरह में है। ऐसी रचनाओं मे दस्तावेज़ी नहीं, दिक्कालवेधक तत्त्व हैं। जिस तरह उपर्युक्त वाक्य इतिहास की आवश्यक गतिबोध से संयुक्त होने से आज भी सच है (कातिल कहानी के वाक्य) उसी तरह 'शतरंज के खिलाडी' [*के व्यसनप्रिय वर्गों और व्यक्तियों के* मानसिक आच्छादन (आब्सैशन) और तज्जन्य मूल्यहीनता को आज के आधुनिक उच्च मध्य वर्गों और व्यक्तियों को आत्मकेन्द्रीयता मे देखा जा सकता है। 'नशा' में—आजादी के बाद होने वाली नीचे से ऊपर के विकास में तरक्की पा गए लोगो का मनोविज्ञान है।

अतः किसी लेखक के पिछड़ जाने की स्थिति वही उन्ही रचनाओं में होती है, जहां वे यथार्थ के जीवन्त और प्रतिनिधि अंश नहीं चुन पाता और जहा वह मूर्तित और सवाक् नही होता। प्रेमचन्द ने ऐसी रचनाएँ दी है या रचनाओं में ऐसे अंश हैं, किंतु ऐसी कहानियों-उपन्यासो को प्रचारात्मक कह कर अपनी कमजोर कण्टेंट मगर ऊपरी नाज़ोअन्दाज के नएपन को अधिक मूल्यवान सिद्ध करने लिए खारिज करना असगत है, क्योंकि प्रचारात्मक या आदर्श से आरोपित रचनाओं के

भी ऐसे हवाले और अभिव्यक्तियां हैं जो साभिप्राय वाक्य संरचना की दृष्टि से मूल्य रखती है।

सामाजिक शैलीविज्ञान (सोशल स्टाइलिस्टिक्स) तथा सामाजिक मनोविज्ञान : शैली विज्ञान की पद्धति से प्रेमचन्द का विश्लेषण हो और मूल्यांकन तब तक स्थगित रहे या उसे प्राक् निर्णय मानकर उसकी भी वस्तुगत परीक्षा हो, तभी प्रेमचन्द की प्रतिभा के साथ न्याय हो सकता है।

जो लोकप्रियता और कला में विरोध मानते हैं और अपनी प्रतीतियों को बिम्ब-रचनात्मक बनाते हैं, अल्प परिचित अप्रस्तुतों का प्रयोग करते हैं, उन्हें अपनी प्रतिभा की चमकों में प्रेमचन्द की सम्प्रेषण-समर्थ कला का ज्ञान नहीं रहता जिसमें जन-बिम्बों-जनोक्तियों का स्वाभाविक अवतरण होता है, उन्हें खींचकर नहीं लाया जाता। ये व्यक्तियों के जनमय होने से होता है। 'आत्म-इलीटीकरण'[6] से सृजन आकं तो हो सकता है किंतु वह मुक्तिबोधक नहीं रहता। नागार्जुन ने इस विषय में अभी एक साक्षात्कार में कहा है कि हम 'प्रगतिशील लेखक' जरूरत पड़ने पर अन्त-वंस्तु से आगे रूप या कला का बलिदान कर सकते है—

"कथ्य और शिल्प दोनों में से किसी एक को बलि देना पड़े तो हम कथ्य पर शिल्प को बलिदान कर देंगे।"[7]

लेकिन शिल्प की अतिरिक्त चेतना मन में न रहे और कथ्य स्वतः रूप खोजता चले जैसे जल प्रवाह अपनी गति-रीति खोज लेता है तब इस मत की क्या प्रासंगिकता है ?

'मुझे लगा कि उसके आने से पहले मैं किसी अँधेरे कोने में नींद में पड़ा था—उसने मुझे जगाकर प्रकाश में पहुँचा दिया, मेरे इर्द-गिर्द की हर चीज को एक धागे में पिरो दिया, मेरे गिर्द रंग-बिरंगा ताना-सा बुन दिया।"

'हर चीज को एक धागे में पिरो दिया' यह एक महत्त्वपूर्ण और गहरे परिप्रेक्ष्य का सबूत है—लेकिन इस मानसप्रत्यक्ष या बिखराव में एक सिलसिला उभरने के निरीक्षण और उसकी परिचित बिम्ब वाली संरचना में अतिरिक्त रूप चिंता का अन्तराल नहीं है, लगता है परिप्रेक्ष्य स्वतः जनोक्ति में ढल गया है। प्रेमचन्द में ऐसी कला है जो बोध को आच्छादित नहीं करती अपने रोजमर्रापन के साथ उपस्थित हो जाती है।

प्रेमचन्द की अपनी विशिष्ट रचना प्रक्रिया है जो औरों से अननुकरणीय है। कहानियों और निबन्धों में, प्रतिक्रियाओं और वक्तव्यों में प्रेमचन्द दाग़ की तरह सीधे लक्ष्य की तरफ चलते है, किंतु उपन्यासों में वे पुराणों जैसी कथा-श[illegible]

6. सेल्फ—इलीटीसाईजेशन।
7. "आजकल" अक्टूबर, 1981.

और फारसी तथा उर्दू की कई कथाएँ और पात्र लेकर चलने की रीति अपनाते हैं। वे अपने ढीले-ढाले भारतीय उपन्यासों में केन्द्रीय एकसूत्रता रखते हैं और इनके आद्यो-पान्त निर्वाह के बाद फिर विस्तार या कार्य-बहुलता या पात्र-बहुलता की चिंता नहीं करते। मुझे लगता है कि प्रेमचन्द ने कई कथाओं, अनेक पात्रों और सामुदायिक शक्तियों तथा उनके आंदोलनों की भारतीय पुरा कथाओं (पुराणों) और कथा से कथा निकालने वाली फारसी उर्दू शैली का एक विशिष्ट प्रयोग किया है। मिथक कथा की पद्धति से सामाजिक यथार्थ को उसके पूरे रंग-ढंग और बदलाव की प्रक्रिया में उसकी बहुआयामी कृतियों का रचाव—एक ऐसा कार्य था, जिसने सामाजिक यथार्थवाद की सशक्त परम्परा को जन्म दिया और आज कला के प्रति अतिरिक्त चेतना और नए प्रयोगों के बावजूद हिन्दी कथा-साहित्य की मूलधारा, समकालीन व्यवस्था विरोधी, विद्रोही और क्रांतिकारी लेखन में नवीन तरंगापात पा रही है।

यह न देख पा सकने के कारण यथास्थितशील लेखक कहते हैं कि प्रेमचन्द 'करुणा' के लेखक थे। प्रेमचन्द के सृजन के मूल में मानव प्रेम है, वह सूत्र की तरह सर्वत्र है, किन्तु वह यथास्थितशील प्रेम या करुणा नहीं है। प्रेमचन्द करुणा के साथ 'उपाय' की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। अतः संवेदना और अनुचिन्तन तक ही नहीं, संघर्ष के कथात्मक प्रतिरूप या मॉडल पेश करते हैं। चूंकि ये नमूने जीवित और वास्तविक जीवन के प्रतिरूप हैं, अतः वे सिर्फ करुणा के वाहक नहीं, 'उपाय' के कार्यक्रमों के एलबम हैं, अतः औपचारिक, मानव चिन्ता रहित, अमूर्त और असां-मान्य लेखन प्रेमचन्द की तुलना में प्रासंगिक और जीवन्त नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से देखें तो प्रेमचन्द के उपन्यासों के विषय में जो संरचनात्मक अन्तर्विरोध, न्यूनताएँ, पात्रहत्या या ऐसे ही अन्य आरोप इस पूर्वाग्रह के कारण लगते हैं कि कला, मनोधारा या मनोचिन्तनधारा की अभिव्यक्ति नहीं दिमागी कस-रत और कारीगरी है, कौशल है, जादू और जलवा है। यकीनन कला यह भी है, किंतु प्रेमचन्द की कला को न खोजकर जो प्रेमचन्द में नहीं है, उसे उनमें खोजना ऐसा ही है कि ऐसे लेखकों में प्रेमचन्द को खोजा जाए और यदि वे वहां न मिलें तो उन्हें खारिज कर दिया जाए।

प्रेमचन्द की दो-चार—मनोनुकूल कहानियों और 'रंग-भूमि' और 'गोदान' के बाद उन्हें समूचा आत्मसात् करने की कोशिशें अधिक नहीं हुई अतः उनकी रचनाओं की विशेष प्रक्रियाएँ अदृश्य रहती हैं और आलोचकों और अध्यापकों की, लक्ष्यातीत चोटों (ओवर शूटिंग) से प्रेमचन्द का या तो महात्म्य-गायन होता है या अवमूल्यन।

क्योंकि प्रेमचन्द में समूचे समाज और 1857 के विद्रोह के बाद भारतीय जन-विद्रोह की द्वितीय धारा (1905 से 1936 तक) का वस्तुगत प्रतिबिम्बन है, इसलिए यह लेखक वास्तविकता और बदलाव की क्रमिक प्रगति या अवरोध का

जीवित चित्र देता है। वह सिर्फ दस्तावेज ही नहीं है, वह सामूहिकद्रवण और दीप्ति का चेतनापुंज भी है। इसीलिए मात्र स्थिति के प्रतिबिम्बकों से, गति के प्रतिबिम्बक प्रेमचन्द से तुलना युक्तियुक्त नहीं है।

एक और मुद्दा यह उठाया गया है कि प्रेमचन्द सामाजिक सम्बन्धों के तो विशेषज्ञ थे किन्तु कोमल सम्बन्धों में वे तुलसीदासनुमा लेखक थे, किन्तु जिस तरह कलात्मक विकास की सर्वोच्च भूमि में पहुँचकर प्रेमचन्द की रचनाएँ पूर्णता पाती हैं, उसी तरह नारी-पुरुष सम्बन्धो मे प्रेमचन्द शरदचन्द्र के समस्तर दिखाई पड़ते है। 'गोदान' में विक्टोरिन रुझान के बावजूद प्रेमचन्द के मेहता और मालती क्रमशः सम्वाद और मेल-मिलाप में स्वतन्त्र हैं—योन स्वातंत्र्य और नारीविमुक्तिआन्दोलन की दृष्टि से उन्हें बुर्जुग्रवारी न बता कर, उनके वैचारिक संघर्ष का सिलसिला देखना चाहिए। पर अन्त में यह संघर्ष मार्क्सवाद और जन-क्रांति की ओर उन्मुख हो जाता है और नर-नारी सम्बन्धो में स्वतन्त्रता और अनुशासन के द्वन्द्व को समाज-शास्त्रीय दृष्टि से समझा जा सकता है। प्रेमचन्द का वैचारिक विकास इस समझ को काटता नहीं, बढ़ाता है।

प्रेमचन्द के साहित्य का परिवर्तनकारक बन जाना उन्हें चिढ़ाता है जो साहित्य पर बदलाव का दायित्व नहीं डालना चाहते है। उनके अनुसार वह साहित्य द्वितीय श्रेणी का होता है जो समूह को प्रेरित करता है या समाज की शक्तियों तथा स्थितिशीलताओं को वस्तुगत दृष्टि से देखता है। ये कला और साहित्य को "नाजुक" माध्यम मानते हैं और उसे विचारधाराओं और तजन्य मूल्यों, ममत्वों तथा संघर्ष से दूर रखकर, उसे मात्र कलावस्तु बनाना चाहते है। प्रेमचन्द ऐसे मतिभ्रमों से ग्रस्त लेखकों तथा आलोचकों से कहीं ज्यादा जानते थे कि साहित्य और उसमें भी कथा-साहित्य की तीव्रता और शक्ति कथ्य और रूप, मानव समाज की मूल्य चिन्ता, मुख्य संघर्ष या केन्द्रीय अन्तर्विरोध में निहित है। समाज के मुख्य मुद्दे को तरह देकर तरह-तरह के प्रयोग कौतुक की सृष्टि तो कर सकते हैं पर उनके साथ पाठक की चेतना का गम्भीर आलोड़न-विलोड़न सम्भव नहीं है। उसमें व्यक्ति को व्यक्ति से, व्यक्ति को समष्टि से, विचार को भाव से, कल्पना को यथार्थ से, परम्परा को आधुनिकता से सर्वथा विच्छिन्न रूप से देखा जाता है। वह मानव-अलगाव का सामूहिक अस्तित्व तथा व्यवस्था से अन्ततः सम्बन्ध न बिठा पाकर द्वैतवादी और अणुवादी दृष्टि से सर्जनात्मक संगति की कल्पना नहीं कर पाते जो प्रेमचन्द के लेखन मे है। उसमे प्रारम्भ से अन्त तक व्यक्ति को उसके वृत्त और वर्ग में, उसके देश के लोगों की स्थिति और नियति के साथ जोड़कर देखा गया है। अतः प्रेमचन्द मे देश और काल दोनों बोलते है, उनमें यथार्थ की सम्पूर्णता है, सह-अनुभवो का पूरा संसार है।

'महान' शब्द सामन्ती-सा लगता है उसमें कल्पना गौरव है किंतु आलोचनात्मक सावधानी के साथ भी प्रेमचन्द एक बड़े लेखक थे; सामाजिक, राजनैतिक लेखन की परम्परा के प्रवर्तक भी। द्वितीय श्रेणी का लेखक यह कार्य नही कर

सकता था । द्वितीय श्रेणी का लेखक अनुकरणशील, आधुनिकों की तरह आयातित नमूनों और मनोनुभूतियों में फेर-बदल कर सकता है, परन्तु एक पूरे युग का पुनर्जागरण और संघर्षकाल का वैतालिक और व्यञ्जक नहीं बन सकता था ।

जो प्रेमचन्द के व्यक्तिगत, विचारगत और व्यवहारगत अन्तर्विरोधों को तूल दे रहे हैं, उन्हें आत्मनिरीक्षण के अतिरिक्त यह भी सोचना चाहिए कि प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना में गत्यात्मकता और विकासशीलता है—मसलन् वे आर्यसमाज, गांधीवाद और सोवियत राज्य क्रांति या वर्ग संघर्ष के सिद्धांत से प्रभावित थे । यह भी सही है कि प्रेमचन्द सुधारवादी और आदर्शवादी भी थे पर इस तरह देखना एक व्यक्ति के विकास और युग चेतना की चाल का अध्ययन नहीं, मनोगत पूर्णता की कल्पना के आधार पर एक बड़े लेखक के मानसिक, बौद्धिक संघर्ष और उसकी अन्तिम परिणति की उपेक्षा है । आज भी व्यक्तियों और लेखकों पर कई प्रभाव एक साथ पड़ रहे हैं और उनकी विभिन्न परिणतियाँ भी हो रही हैं । मैंने व्यवस्थाविरोध के तेवर वाले कई लेखकों, पत्रकारों, बौद्धिकों को प्रत्येक सरकार के साथ बदलते देखा है । इस प्रकार के व्यक्ति प्रेमचन्द की निंदा में अपना औचित्य खोजते हैं । जो भयंकर प्रतिक्रियावादी है, वे प्रेमचन्द में अन्तर्विरोध बता रहे हैं । यह नहीं कि प्रेमचन्द में अन्तर्विरोध नहीं थे, किंतु वे अमुख्य, व्यक्तिगत और विकास के क्रम में हुए अनुभव थे । प्रेमचन्द की परिणति गोदान और मंगल-सूत्र में है और उनके विचारों की परिणति 'महाजनी सभ्यता' वाले लेख में । इसे नकारा नहीं जा सकता और न प्रेमचन्द की क्रांतिकारी प्रासंगिकता को नकारा जा सकता है ।

जिस तरह प्रेमचन्द की परिणति समाजवैज्ञानिक वर्गबोध में होती है, उसी तरह आपाततः प्रतीति को कलावस्तु माननेवालों के, सृजन और साहित्य-चिंतन को टते हुए समकालीन रचनाकार और आलोचक प्रेमचन्द को सामाजिक चेतना के तिबिम्बन की परम्परा का बड़ा आदिस्रोत मानकर उनकी प्रत्यभिज्ञा की प्रक्रिया है और पुनर्मूल्यांकन इसी कशमकश का परिणाम है ।

प्रेमचन्दीय सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा का प्रस्फुटन और पल्लवन सर्वज्ञात होने से यहाँ उल्लेखनीय नहीं है पर इतना कहना जरूरी है कि प्रेमचन्द का आदिस्रोत—यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर वगैरह से गुजरता हुआ साठोत्तर साहित्य में सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन का व्यापक और गम्भीर माध्यम बन गया है और जिसकी सबसे उग्र तरङ्ग जनपक्षधर साहित्य में मिलती है । इस अग्निखोर-परम्परा की विभिन्न मात्राएँ या तेजी की लपटें लेखकों में उठ रही है । महाश्वेता देवी का 'अग्निगर्भ' उपन्यास मुझे 'गोदान', 'झूठा और सच', 'कब तक पुकारूँ', 'बूंद और समुद्र' आदि की शृङ्खला में चमकदार रत्न-सा प्रतीत होता है । हिन्दी की कविता और कथा-उपन्यास साहित्य की मुख्यधारा में प्रेमचन्द अनेक मुखों से बोल रहे हैं । वही चेतना अनेक गुणात्मक विकासों के साथ समकालीन संघर्षशील लेखन में बज रही है और यह तब तक नए-नए स्वरों में बजती रहेगी जब तक इस देश और विश्व में, मनुष्य व्यवस्था की संगति की उपलब्धि नहीं कर लेता ।

□ □ □

16 प्रेमचन्द : सार्वभौमिकता

प्रेमचन्द भारतेंदु-युग से शुरू होकर छायावाद के अंतिम सोपान तक साहित्य का समाजीकरण करते है और यह समाजीकरण की प्रक्रिया प्रेमचंद के बाद तीव्र से तीव्रतर होती गई है ।

प्रेमचन्द ने एक ओर तो खयाली पुलावों या मुक्त कल्पना या तिलिस्मी फंतासियों के कथा-साहित्य को अपदस्थ किया और दूसरी ओर छायावादियों की रंगीन, रोमानी कल्पना और रिरिसा के सृजन के समानांतर सामाजिक यथार्थ के कथा-साहित्य की सृष्टि की । अतएव प्रेमचन्द ने सामंती और रोमानी, दोनों प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों की धारा को पलट दिया और सर्वदा के लिए यथार्थवाद को साहित्य की वर्ण्य वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । अतएव प्रेमचन्द ने उर्दू और हिन्दी साहित्य में युग-प्रवर्तन किया ।

समाजवादी समाज की कल्पना : किसी युग-प्रवर्तक और वह भी यथार्थवादी युग-प्रवर्तक साहित्यकार और साहित्यिक पत्रकार की अप्रासंगिकता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रेमचन्द के साहित्य मे वे विचार बीज रूप में और कहीं-कहीं पल्लवित रूप में उपलब्ध है जो आज के सामाजिक कायाकल्प के लिए प्रेरक है । उदाहरण के लिए, भारतीय गणतंत्र की केंद्रीय इच्छा और संकल्प देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना है और प्रेमचन्द के साहित्य में प्रारम्भ से ही समाजवादी संकल्प और सवेदना ध्वनित होती है । दरअसल, यह शुद्ध भ्रम है कि प्रेमचन्द के गोदान मे ही समाजवादी वर्ग-दृष्टि है, जबकि प्रेमचन्द के साहित्य में आरम्भ से ही अर्थात् सोवियत रूस की 1917–18 की राज्यक्रांति के बाद से ही लगातार समाजवादी विचार बुने गए है । प्रेमचन्द पर गाधीवाद का निश्चय ही प्रभाव था और वह अनेक दुष्ट पात्रों का हृदय-परिवर्तन भी करा देते है, किंतु भविष्य के सामाजिक लक्ष्य की दृष्टि से प्रेमचन्द समाजवाद और वर्गहीन समसमाज की सरचना की संकल्पनाएँ ही प्रस्तुत करते है ।

प्रेमचन्द का उपन्यास प्रेमाश्रम 1918–19 मे लिखा गया था, यानी सोवियत क्रांति के तुरंत बाद इस उपन्यास की रचना हुई थी । इसमे अनेक प्रासंगिक समाजवादी संकल्पनाएँ है :—

"चुनाव के समय भिखारियों की तरह द्वार-द्वार घूमते-फिरते हैं, लेकिन मेंबर होते ही राजा बन बैठते है। उस कठिन तपस्या का फल यह निर्वाण पद प्राप्त हो जाता है। यह बड़ी भूल है कि मेम्बरों को एक निर्दिष्ट काल के लिए रखा जाता है। वोटरों को अधिकार होना चाहिए कि जब किसी सदस्य को जी चुराते देखें, तो उसे पदच्युत कर दें।" (प्रेमाश्रम, संस्करण 1979, पृष्ठ 32)।

इसी उपन्यास मे जमींदार-परिवार में प्रेमशंकर अपनी वर्गच्युति (डी-क्लास) करके गाव मे जाकर प्रेमाश्रम बनाते हैं और किसानों को सगठित करते हैं, उनमें घुल-मिल जाते है और दुष्ट जमींदार अपने भाई ज्ञानशंकर के पुत्र मायाशंकर को भी इसी समाजवादी मार्ग पर डाल देते हैं जो किसानों को अपनी जमींदारी की भूमि पर स्वामित्व दे देता है। इस उपन्यास का एक पात्र बलराज किसानों के सामने सोवियत क्रांति का चित्र रखता है—"रूस काश्तकारों का राज्य है, वह जो चाहते हैं, करते हैं। उसी के पास कोई देश बलगारी (बलगेरिया) है। वहां अभी हाल की बात है कि काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।" (वही, पृष्ठ 52)

"यह सब रंगे हुए सियार है, लुटेरों का जत्था है। किसी को खबर नही कि ग़रीबों पर क्या बीत रही है। किसी के हृदय मे दया नही : कोई राजा है, कोई ताल्लुकेदार, कोई महाजन, सभी गरीबों का खून चूसते है, गरीबों के झोंपड़ों में सेंध लगाते है और यहां आकर देश की अवनति का पचड़ा गाते हैं।" (वही, पृष्ठ 102–3)

क्या यह विश्लेषण आज की राजनीतिक स्थिति की दृष्टि से प्रासंगिक नही है ? आजादी के बाद जमींदारों की जगह बड़े भूमिधरों, बड़े-बड़े कृषि फार्म के मालिको और बड़े किसानों की चौधराहट कायम हो गई है, अतः न वे सहयोगी कृषि व्यवस्था की स्थापना करने देते हैं, न आवश्यक भूमि सुधार। 'महाजनी सभ्यता' पर तो प्रेमचन्द का प्रसिद्ध निबंध ही है, जिसमें वह यह दिखाते हैं कि उद्योगपतियों-व्यापारियो और दलालों के दबदबे वाली व्यवस्था मे मानवीयता रह ही नही सकती और आम आदमी के शोषण और खास वर्गों-व्यक्तियों के भ्रष्टाचार पर ही 'महाजनी सभ्यता' चलती है। इस स्थिति मे विशेष अंतर अभी नहीं आया है।

'किसी युग-प्रवर्तक और वह भी यथार्थवादी युग-प्रवर्तक साहित्यकार और साहित्यिक पत्रकार की अप्रासंगिकता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रेमचन्द के साहित्य में वे विचार बीज रूप में और कहीं-कहीं पल्लवित रूप में उपलब्ध हैं जो आज के सामाजिक कायाकल्प के लिए प्रेरक हैं।'

सेवासदन मे भी प्रेमचन्द वर्ग-दृष्टि का परिचय देते है और वर्ग-विश्लेषण आज भी यथावत् सही साबित होता है—

"हम अपने राम का नाम लेते हैं, अपनी गाय पालते हैं और गंगा में नहाते हैं और हम यदि उन्नत विद्वान और ऐश्वर्यवान हैं, तो बहुत गुलाम हैं जो विदेशी भाषा सीखते हैं, कुत्ते पालते हैं और अपने देशवासियों को नीच समझते हैं।"

(पृष्ठ 178)

समूह में निष्ठा : व्यक्तिवादी विचारक और लेखक अपनी अहंग्रस्तता के कारण यह मानते हैं कि मनुष्य स्वार्थी है, कृतघ्न है, अपरिवर्तनीय है, लेकिन प्रेमचन्द की समूह में निष्ठा थी। यदि हमारा हृदय शुद्ध है, स्वार्थरहित है, तो हमारा प्रभाव जनता पर अवश्य पड़ेगा। इस संबंध में प्रेमचन्द गांधीजी की यह बात मानते थे कि यदि किसी का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ता, तो उसे यह मानना चाहिए कि उसकी चपरास साफ नहीं है। इस संदर्भ में प्रेमचन्द के विचार उन अहंग्रस्त, महत्त्वाकांक्षी और मतलबपरस्त लेखकों के लिए भी प्रासंगिक हैं जो आत्मनिरीक्षण न करके 'भीड़' को कोसते रहते हैं और अपने प्रभाव या यश के लिए साधनसंपन्नों के साथ सांठगांठ करते हैं—"हममें कितने ही ऐसे सज्जन हैं, जिनके मस्तिष्क में राष्ट्र की सेवा करने का विचार उत्पन्न होता है लेकिन बहुधा यह विचार ख्याति-लाभ की आकांक्षा से प्रेरित होता है। हम वह काम करना चाहते हैं, जिसमें हमारा नाम प्राणिमात्र ही जिह्वा पर हो, कोई ऐसा लेख अथवा ग्रन्थ लिखना चाहते हैं, जिसकी लोग मुक्त कंठ से प्रशंसा करें और प्रायः हमारे स्वार्थ-प्रेम का कुछ न कुछ बदला भी हमको मिल जाता है लेकिन जनता के हृदय में हम घर नहीं कर सकते। कोई मनुष्य, चाहे वह कितना ही दुःख में हो, उस व्यक्ति के सामने अपना शोक प्रकट नहीं करना चाहता, जिसे वह सच्चा मित्र न समझता हो।"

(वही, पृष्ठ 229)

सेवासदन के विट्ठलदास और कायाकल्प के चक्रधर और रंगभूमि के सूरदास इसी प्रकार पारदर्शी जनवादी पात्र हैं।

प्रेमचन्द ने रंगभूमि में यह भी लक्ष्य किया था कि वह साम्यवाद असली नहीं होता जो ईर्ष्या पर आधारित होता है। साम्यवाद वही है जो मानव-प्रेम और सामाजिक चेतना पर आधारित हो। वह कहते हैं—'ईर्ष्या की व्यापकता ही साम्यवाद की सर्वप्रियता का कारण है!' (रंगभूमि, पृष्ठ 52)

सामाजिक और वैज्ञानिक चेतना में मुख्य बाधा, मजहबी मानसिकता है। प्रेमचन्द धर्म को भय की परिणति मानते हैं—"धर्म का स्तम्भ भय है।" (वही, पृष्ठ 74)

हमारी न्याय-व्यवस्था के विषय में प्रेमचन्द कहते हैं कि इसमें न्याय नहीं मिलता और यह व्याख्या सापेक्ष होने से इसमें अन्याय होता है—'यह न्याय का गोरखधन्धा है।' (वही, पृष्ठ 180)

प्रेमचन्द का साहित्य मनुष्य पर मुद्रा या धन के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष करता है। उनकी मुख्य लड़ाई इसी पैसे से थी जो महाजनी सभ्यता में मनुष्य को गुलाम बना देता है, अतएव रंगभूमि में एक सच्चा पात्र (राजा महेन्द्र) कहता है—"जनवाद और साम्यवाद का सम्पत्ति से वैर है। मैं उस समय तक साम्यवादियों का साथ न दूंगा, जब तक मन में यह निश्चय न कर लूं कि अपनी सम्पत्ति त्याग दूंगा। मैं वचन से साम्यवाद का अनुयायी बनकर कर्म से उसका विरोधी नहीं बनना चाहता।" (वही, पृष्ठ 183)

प्रेमचन्द गांधीजी की जनजागरणकारी राजनीति के समर्थक थे किंतु, गांधीवादियों की साम्राज्यवाद से समझौते की नीति के विरोधी थे। वह पूर्ण स्वराज्य के पक्षधर थे और इस पूर्ण स्वराज्य में वह किसान-मजदूरों को निर्णायक अधिकार दिलाना चाहते थे। जब 1930 के गांधीवादी अर्द्धस्वराज्य (डोमीनियन स्टेट्स) चाहते थे, तब प्रेमचन्द गरीबों के स्वराज्य की वकालत कर रहे थे—"स्वराज्य में किश्तों की गुंजायश नहीं ......स्वराज्य ...गरीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा।.......स्वराज्य गरीबों की आवाज है।" तथा 'स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आंदोलन है।' ('राष्ट्रीय संस्कृतियों की रक्षा तथा शांति और निःशस्त्रीकरण शिक्षा' विषय पर हुए अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद 'प्रेमचन्द जन्मशताब्दी स्मारिका' में अमृतराय के आलेख से उद्धृत हंस की पहली संपादकीय टिप्पणी)।

प्रेमचन्द साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र बनाने पर बल देते थे। साठोत्तर समकालीन साहित्य में सचाइयों का चित्रण अधिक हो रहा है, किंतु इसकी शुरुआत प्रेमचन्द ने की थी —'साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो ......नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों, रंगे सियारों, हथकंडेबाजों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध आवाज उठा रहा है।' (वही)

जीते-जागते पात्रों की सृष्टि—अब प्रश्न यह है कि इस जनवादी और यथार्थवादी दृष्टि से लिखे गए प्रेमचन्द के साहित्य का कला की दृष्टि से भी कुछ महत्त्व या प्रासंगिकता है, अथवा वह केवल विचारों की दृष्टि से ही उपयोगी है?

सामाजिक सचाइयों का जो विवरण और चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है, उसकी विशेषता यह है कि वह हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का कलात्मक प्रतिबिम्बन है और इसलिए उसका स्थायी महत्त्व है। राष्ट्रीय आंदोलन के किसी भी इतिहास में जनमानस की छवियां नहीं हैं, न उनमें वह वर्ग-चेतन दृष्टि है; न उसके लिए संघर्षशील और जीवंत पात्र हैं, अतः प्रेमचन्द के औपन्यासिक संसार में, उनके हृदय-परिवर्तनवादी भटकावों के बावजूद सचाइयों, संवेदनाओं और आंदोलनों की रोचक दास्तानें हैं। वे आज भी पढ़ने में दिलचस्प लगती हैं। और उनमें प्रेम-

चन्द की जीते-जागते पात्रों की सृष्टि करने की कला प्रभावित करती है। इनमें गोदान तो प्रारम्भिक उपन्यासों की हृदय-परिवर्तनवादी कमजोरियों से भी मुक्त है और यथार्थवादी रचना का उच्चतम मयार कायम करता है।

यहां मैं उन दिग्भ्रमित आधुनिकतावादियों का ध्यान इस बिंदु की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द की कला यथार्थवादी (रियलिस्टिक) होने पर भी प्रतीक में परिणत होकर तात्कालिकता, सुधारवाद, उपयोगितावाद और प्रचारात्मकता का अतिक्रमण कर, मानव-जीवन की स्थायी वृत्तियों-प्रवृत्तियों की व्यंजक बन जाती है। रंगभूमि या गोदान सिर्फ सामाजिक सचाइयों का ही रेखाचित्र नहीं है, अपितु वह भलाई और बुराई के सनातन और सार्वभौमिक संघर्ष का भी प्रतीक है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थता प्रतीकत्व में स्वयमेव बदल जाती है। उदाहरण के लिए 'शतरंज के खिलाड़ी', 'नशा', 'कफन', 'पूस की रात', 'दो बैलों की कथा' जैसी अनेक कहानियों में एक सार्वभौमिक संदेश या संवेदना उभरती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' को पढ़कर आज के उस व्यसनप्रिय, भोग-विलास-ग्रस्त उच्चवर्ग की आत्मघाती प्रवृत्ति सामने आ जाती है, जिसे देश और समाज की चिंता नहीं है। अतः 'शतरंज के खिलाड़ी', अपने समय और स्थान के आरपार जाकर 'आधुनिक नवाबों' पर भी लागू होती है।

'नशा' में वर्ग-संक्रमण का स्थायी सत्य है कि किस प्रकार एक निम्नवर्ग का व्यक्ति उच्चवर्गीय स्थिति में पहुँचकर उच्चवर्गीय दंभ का शिकार हो जाता है। 'पूस की रात' में दुर्दशा की अति में किसान नींद के मूड को नहीं छोड़ता और कोई विकल्प न रहने पर ही श्रमिक बनने को प्रस्तुत होता है। 'कफन' में आर्थिक दुरावस्था की अति में मनुष्य किस प्रकार मूल्य-ममता और आत्मसम्मान से खारिज हो जाता है, यह दिखाया गया है। ये स्थितियां आज भी हैं, क्योंकि इस देश में आधे से अधिक लोग गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन जी रहे हैं। अतः ये कहानियां आज भी प्रासंगिक हैं। इनमें यह सार्वभौमिक सत्य भी है कि मानवीय परिस्थिति की सृष्टि किए बिना अमानवीकरण से नहीं बचा जा सकता।

महाजनी सभ्यता या पूँजीवादी समाज में शोषण और अलगाव (एलियनेशन) के सभी शिकार बनते हैं। 'दो बैलों की कहानी' कहकर प्रेमचन्द पशुओं में अपने प्रेमी संरक्षक के लिए प्रेम दिखाते हैं, जो आज दुर्लभ है। प्रेम के स्थान पर पूँजीवादी समाज में प्रपंच का राज्य हो जाता है, अतः यह कहानी भी प्रतीकात्मक है।

यथार्थ को प्रतीक में बदलने की शक्ति उसी कलाकार में होती है जो वर्ण्य वास्तविकता में से अपरिहार्य और सांकेतिक अंश चुन सके। उदाहरण के लिए, 'शतरंज के खिलाड़ी' में प्रेमचन्द दो अतिव्यसनी व्यक्तियों को चुनते हैं और उनकी व्यसन-

निमानता का सजीव चित्र देते हैं। यथार्थ जीवन की इस सजीवता के कारण ही एक स्थान और काल में अवस्थित पात्र देश-कालातीत बनकर इस मानवीय सत्य के प्रतीक बन जाते हैं कि व्यसन मनुष्य का सर्वनाश कर देता है और उसमें दायित्व-बोध और मानवीय संवेदना का सत्यानाश हो जाता है।

इस प्रकार, प्रेमचन्द यथार्थ को प्रतीक में बदलने की कला में निपुणतम लेखक हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि आधुनिकतावादी विचारक उसकी कृति को कलापूर्ण और स्थायी महत्व का मानते हैं जो प्रतीक बन जाए, और इस निष्कर्ष पर प्रेमचन्द उत्कृष्ट कलाकार प्रमाणित होते हैं। अतएव, जो प्रेमचन्द को पिछड़ा हुआ लेखक सिद्ध करते हैं, वे कला के मर्म को समझते नहीं हैं।

प्रेमचन्द के बाद उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्रों में नवीनता और प्रयोग की मांग बढ़ी। सामूहिक मनोविज्ञान अथवा सामूहिक जीवन के संदर्भ में व्यक्ति के बदलते मनोविज्ञान के चित्रण की परम्परा तो यशपाल, रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और अमृतलाल नागर जैसे प्रेमचन्द-परम्परा के कथा साहित्य में विकसित हुई, किंतु व्यक्ति को, उसके जीवन संघर्ष और सामाजिक संघर्ष से पृथक कर उसकी अतृप्त कामेच्छाओं के अनावरण जैनेंद्र, अज्ञेय, धर्मवीर भारती (गुनाहों का देवता) और निर्मल वर्मा आदि व्यक्तिवादियों के उपन्यासों और कहानियों में प्रस्तुत किए गए। राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश आदि ने 'नई कहानी' के नारे के अंतर्गत कुछ यथार्थवादी कथाओं के साथ-साथ व्यक्ति की काम-वासनाओं, संबंधों में स्वतंत्रताओं और मूल्य और मन के अंतर्द्वंद्वों की कहानियां लिखीं और प्रेमचन्द की सिर्फ उन्हीं कहानियों से प्रेरणा ली जिनमें संघर्ष नहीं, मूल्य-हीनता की स्थिति थी। मसलन् 'नई कहानी' के लिए 'कफन' को नमूना बनाया गया, किंतु 'कफन' में मूल्यहीनता और बहकाव गरीबी के कारण था—यह भुला दिया गया। अतएव 'नई कहानी' के लेखन में ऐसा बहुत-कुछ है जो मूल्यहीन बहकाव या पथभ्रष्टता, संकल्पहीनता, कामपिपासा, स्वेच्छाचार और व्यक्तिवाद का पर्याय बन गया।

साठोत्तर कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की समष्टि चेतना की पुनः वापसी हुई, अतः 'नई कविता' और 'नई कहानी' के झंडा-बरदारों की पथभ्रष्टता पर प्रहार हुए।

आज स्थिति यह है कि यथार्थवाद का मार्ग छोड़कर मनोविश्लेषण, मध्यवर्गीय काम-कुंठाग्रस्तता और बाद में अस्तित्ववादी ऊहापोह के प्रभाव के कारण, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, भारती, निर्मल वर्मा जैसे लेखकों को अभिजन (इलीट) का और प्रेमचन्द और उनकी यथार्थवादी परंपरा के लेखकों को जनसाधारण का पक्षधर लेखक माना जाता है और 1960 के बाद की कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकों में तो प्रेमचन्द की 'स्पिरिट' (आत्मा) ही मुखरित हो रही है। प्रेमचन्द की 'स्पिरिट' का मतलब यह नहीं है कि यथार्थ का सपाट और सुधारवादी

अंकन हो। उसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों और शक्तियों से काटकर, उसे स्वयं अद्वितीय, निरपेक्ष और अजूबा मानकर चित्रित न किया जाए; लेखन में व्यक्ति और सामाजिक वास्तविकता की द्वंद्वात्मकता और अंतःसंबंध को नजरंदाज न किया जाए। ऐसा न होने पर कलात्मक वैचित्र्य या इच्छापूर्तिपरक साहित्य की सृष्टि तो हो सकती है, किंतु ऐसे साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती जो मानव चेतना को मुक्त करे और जो सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक अभावों तथा अलगावों से हमें स्वतंत्र कर दे।

प्रेमचन्द की यही प्रासंगिकता, गरिमा और गौरव है कि वह भ्रमों, अति-रंजनाओं, अतिकल्पनाओं और वासनाओं की अतिशयताओं से ऊपर उठाकर इस सार्वभौमिक मानव-सत्य और कला-सत्य का उद्घाटन करते है कि वास्तविक जीवन-पद्धति के अंतर्विरोधों के उन्मूलन से न केवल हम सामाजिक-आर्थिक शोषण को दूर कर सकते है बल्कि ऐसी कृतियों की सृष्टि कर सकते हैं जो प्रभाव में स्थायी हों, वर्गचेतन होकर भी सार्वभौमिक प्रतीकत्व पा जाएं और एक ऐसे समाज की संरचना मे प्रेरक हो सकें जिसमें समता, बंधुत्व औरस्वतन्त्रता हो।



17 निराला में हास्य और व्यंग्य

पदार्थ, जीवन, व्यक्ति और समाज का स्वभाव द्वन्द्वात्मक है। छायावादी कविता मे इन द्वन्द्वों का तीव्र बोध नहीं था, वहां विरुद्धातिशयी संगति, जिसे वे 'ब्रह्म' कहते थे, के प्रति जिज्ञासा और तादात्म्य था। जीवन में परस्पर विरोधी स्थितियां हैं, शक्तियां हैं किंतु जीवनातीत संगति की कल्पना मे सत्य, शिव और सौंदर्य है—तुम तुंग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता।

निराला में इस अभौतिक संगति या सामरस्य के साथ समागम (रहस्यवाद) के समानान्तर प्रारम्भ से ही जीवन और समाज के द्वन्द्वों का तीव्र बोध था, जो छायावादीकाल मे 'बादल' और 'भिक्षुक' जैसी कविताओं मे मिलता है किंतु छाया-वादोत्तर काल में जीवन और समाज के द्वन्द्वों और दुःखों को देखने का आग्रह बढ़ने लगता है, जो निराला में हास्य और व्यंग्य का समावेश करता है।

हास्य और व्यंग्य असंगतिबोध पर निर्भर है। असंगतियों का यह बोध निराला में तीव्रतम तो है ही उसके शिकार मनुष्य के प्रति उनकी गहन सह-अनुभूति के कारण भी उनका व्यंग्य-हास्य औरों से भिन्न है और इस बोध और वेदना एवम् वेदनाजन्य आक्रोश के कारण एक निरालेपन की रचना हुई है।

निराला, छायावादोत्तर गद्य और पद्य मे ठोस जीवन को देखते हैं मात्र उसकी भंगिमाओं को नहीं। यह प्रवृत्ति उसके गद्य साहित्य में अधिक है। कुकुरमुत्ता 1942 की प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य की रचना है पर 1930 से ही निराला जो कथा साहित्य लिखते चले आ रहे थे, उसमे हास्य-व्यंग्य भरा पड़ा है।

किसी कवि को समझने का अचूक उपाय है, उसके गद्य और पद्य को एक साथ पढ़ना। प्रसाद, निराला और मुक्तिबोध के विषय मे अनेक भ्रमों का कारण यह है कि उनकी कविता पढ़ते समय उनके गद्य मे व्यक्त चेतना की चाल को नहीं समझा जाता। अतः—इन कवियों के विषय मे, उनके संवेदन संसार के विषय में एकांगी समझ विकसित हो जाती है।

''अलका'' उपन्यास छायावादकाल की रचना है पर यहां निराला का द्वन्द्व-बोध देखने योग्य है और वास्तविकता में निहित विडम्बना-विरोधाभास (आयरनी) का समावेश भी:—

"इसलिए नेता मनुष्य नही, सभी विषयों की संकलित ज्ञानराशि का नाम नेता है। इसीलिए किसी भी तरफ का भरा-पूरा मनुष्य दूसरे किसी भी तरफ के बड़े मनुष्य की बराबरी कर सकता है। पर देश में यह बात नही हो रही.।. एक को पैत्रिक सम्पत्ति मिली। पूर्ण शिक्षा भी मिली। दो करोड़ रुपया अर्जित किया। अन्त में दस लाख दान कर दिया। पत्र यशोगान करने लगे। वह देश के नेता हो गये। एक दूसरे को केवल बैल, हल और मूसल पैत्रिक सम्पत्ति मिली और शिकमी जोत सिर्फ दस बीघे जमीन। (वह) एड़ी चोटी का पसीना एक करके मुश्किल से पेट भर पाता है। इन दोनों में कौन बड़ा है ?"

निराला में यह वर्गचेतना और अपने किसानवर्ग के लिए सह-अनुभूति ही उनके हास्य-व्यंग्य की कुंजी है। रस के साहित्य में निम्न जनता के कष्टों-दुःखों का तीखा एहसास नही आ पाता, अतः निराला अपने रस-रोमांस का अतिक्रमण कर वास्तविक जीवन को, उसके वस्तुगत (वह जैसा है) रूप में देखते हैं और जीवन और समाज व्यंग्यात्मक होता है, विशेषकर भारतीय समाज, जिसमें विसंगति ही नही, अभाव का दंश भी है। संवेदन यदि सघन है, क्रूर और रक्तशोषक विषम समाज-संरचना और तज्जन्य संस्कृति की अमानवीयता, अलगाव और भेदभाव तथा हिंसता का स्वाभाविक बोध है तो व्यंग्य और हास्य ही सर्वाधिक यथार्थ-व्यंजक लगेगा क्योंकि उसमें यथार्थ की जटिलता व्यंजित होती है। जीवन—यथार्थ में विरोध-अविरोध सुख:-दुःख के द्वन्द्व है। कोई किसी विवशता में व्यंग्य-हास्य के द्वारा ही अपने को रक्तचापवृद्धि या हृदय शूल से बचा सकता है। विरोधी स्थितियों में अपनी चेतना को बनाए रखने और प्रतिरोध को निरंतरता देने के लिए संघर्ष-शील और सहनशील जनसाधारण के लिए हास्य-व्यंग्य के बिना आत्महत्या और रुग्णता या उन्माद से बचने का और क्या उपाय है ? इसके सिवा प्रतिपक्ष को मजा चखाने का काम भी हास्य-व्यंग्य ही करता है। अतः हास्य-व्यंग्य वर्गशत्रुओं को निर्वसन करने का अमोघ अस्त्र भी है। निराला ने इसका कसकर प्रयोग किया है—

"विजयपुर के कुंवर साहब भी इन दिनों कलकत्ते की सैर कर रहे थे।.इन्हें स्टेट से छः हजार रुपया मासिक जेब खर्च के लिए मिलता था। वह सब नई रोशनी, नये फैशन में फूंक कर ताप लेते थे.......संगीत का अजहद शौक था। खुद भी गाते थे—पर आवाज जैसे ब्रह्मभोज के पश्चात् कड़ाह-रगड़ने की।"

(अलका; पृष्ठ 18)

निराला भी हास्य-व्यंग्य दो विरुद्धों को आसपास एकत्र कर देने की कला से रोचकता उत्पन्न करते है, "ब्रह्मभोज" और 'कड़ाह की रगड़" अथवा सुरीली आवाज और कड़ाह की रगड़ की आवाज का विरोध, समीपस्थ होकर ही कथन में आकर्षण लाता है।

"बाबू मुरलीधर अवध के आकाश के एक सबसे चमकीले तारे थे। विशाल

सम्पत्ति उनके पितामह ने अंग्रेज सरकार की तरफदारी कर प्राप्त की। फिर जब राय विजय बहादुर की फांसी के समय, उनके महान् भक्त होने के कारण, तीन बार फांसी की रस्सी कट-कट गई और गोरे बहुत घबराये तब उनके गले में फांसी लगने का उपाय उन्होंने यह बताया कि ये विष्णु भगवान के बड़े भक्त हैं, जब तक इनका धर्म नष्ट नहीं होगा, इन्हें फांसी नहीं लग सकती, इसलिए मुर्गी के अण्डे का छिलका इनकी देह से छुला दिया जाय। साहबों ने ऐसा ही किया, तब फांसी लगी।" (अलका, 19)

निराला हास्य-व्यंग्य इस ठोस जीवन की सीधी पकड़ के सिलसिले में; मुद्राओं की पहचान के आधार पर भी उपजाते हैं—

"हरपाल सिंह ने फटाफट तम्बाक झाड़ कर, फांक कर, जीभ से नीचे के होंठ में दबाते हुए, सीना तानकर, सिर के साथ बन्द पलकें एक तरफ मरोड़ते हुए कहा—"हूँ" !"

बंगालियों के प्रांतीयतावाद पर चोट करते हुए निराला व्यंग्य-संरचना इस तरह करते हैं—

"जाँच करने वाले ज्यादातर बंगाली सज्जन एक राय रहे कि एम. ए. में किसी तरह घिसट गया है—थीसिस चोरी की होगी। एक अस्थाई जगह लखनऊ विश्वविद्यालय में बाबू कामिनी चरण चटर्जी की छुट्टी से हो रही थी, वहां बाबू यामिनीशरण मुखर्जी आ गए। ये पी-एच. डी. ही थे पर इनकी पूंछ में बालों का मोटा गुच्छा मिला।" (निरुपमा)

निराला का व्यंग्य-हास्य, छिपी हुई अमानवीय वृत्तियों को खोलता है, खुले हुए को छिपाता नहीं है। इसी से वह सत्य और संवेदना से भरे सच्चे लोगों को प्रिय लगता है—

"नीम के नीचे बैठक है। गुरुदीन तीन बिस्वे वाले तिवारी हैं, सीतल पाँच बिस्वे वाले पाठक, मन्नी दो बिस्वे के सुकुल, ललई गोद लिए हुए मिसिर हैं, पहले पांच बिस्वे के पाडे, अब दो कट गए हैं—सब हल जोतते और श्रद्धापूर्वक धर्म की रक्षा करते हैं। बेनी वाजपेयी कानपुर के मिठाई वाले है पर धर्म की रक्षा करते हुए बीसो बिस्वे बचाये हुए हैं!"

निराला के शब्दों में "कान्यकुब्जकुलकुलांगार"—ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान का ऐसा तीखा और बेधक अनावरण और कहां है?

निराला जी बर्नार्ड शॉ के व्यंग्य की शक्ति से परिचित थे। उन्होंने निरुपमा में इस बात को स्वीकार भी किया है और शायद शॉ से प्रेरित होकर रोमासक-प्रसंगों में भी व्यंग्य का प्रयोग किया है—

"आजकल ब्यूटी सैटायर की हो रही है। शॉ की सारोविट, सैटायर में लगी हुई है!"

किन्तु इस व्यंग्य के प्रयोग में भी निराला का वर्गबोध जाग्रत रहता है—
"बड़ा अच्छा मौसम है। है न ?"
"हाँ, आकाश और पृथ्वी दोनों का पेट भरा हुआ है, इसीलिए हँस रहे है !"
(निरुपमा)

"कुल्लीभाट" को तो निराला ने "हास्यरसपूर्ण जीवनी" ही कहा है। यहाँ दो विरुद्ध बातों, वस्तुओं या स्थितियों को आसपास विन्यस्त कर देने की कला ही सर्वत्र प्रयुक्त हुई है—

"मैंने तुम्हारा ही मुँह देखकर विवाह किया है, तुम्हारे पिता की तोंद देख कर नहीं।" (कुल्लीभाट)

इसी विरोधी रंगों के एक साथ विधान से निराला दृश्यसंयोजन भी करते है—

"बाहर खाई पार करते ही लू का ऐसा झोंका आया, कि एक साथ कुण्डलिनी जैसे जग गई..........मुँह में क्रीम लगाया था, घाव पर जैसे आयडोफार्म पड़ा... ....सैकड़ों काँटे चुभे, धोती कीमती थी, खास ससुराल के लिये ली गई थी, जैसे प्रसिद्ध लेखक खास पत्र के लिए लेख लिखते है।"

"बिल्लेसुर बकरिहा" में भी यही कलाविधि है। आम-आदमी के पीड़ित जीवन मे भी रस-हास-व्यंग्य की सामग्री रहती है, रोचकता और आकर्षण मिल सकता है। साधारण जन मे भी एक असाधारणता होती है। निराला उन मार्क्सवादियों को अच्छी तरह जानते थे जो मात्र उद्धरणजीवी यानी बुद्धिजीवी है और जिन्हे आम आदमी के बीच न कभी रहना पड़ा है, न उसकी तरह जीवन-संघर्ष करना पड़ा है। निराला अपने हास्य-व्यंग्य से उन रसवादियों पर भी कटाक्ष करते हैं, जिन्हें साहित्य मे रस का अकाल दिखाई पड़ रहा है—

"हिन्दी भाषा साहित्य में रस का अकाल है पर हिन्दी बोलने वालो में नही। उनके जीवन मे रस की गंगा-जमुना बहती है। बीसवी सदी-साहित्य की धारा उनके पुराने जीवन में मिलती है, उदाहरण के लिए अकेला बिल्लेसुर का घराना ही काफी है।"

करुण, कष्टमय, पिछड़े हुए, अभाव-अत्याचारग्रस्त जन-जीवन मे भी हास्य और व्यंग्य एवम् 'रस' या रोचकता के लिए कितना अक्षय भण्डार है, यह बात निराला अपने अनुभव और—सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति से जानते थे। इधर—हमारे "जनवादी" कथाकारों की कहानियो-उपन्यासों मे जो जड़ता, नीरसता, ठसता और रोनापन की बाढ है, वह इसलिए कि उन्होने निराला के छायावाद के साथ-साथ लिखे गए उनके "जनवादी" चित्रणों को नही पढा या उनकी शक्ति पर ध्यान नही दिया।

यह क्या कारण है कि निराला के हास्य-व्यंग्यो से भरे 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर—बकरिहा' पाठक के मन मे रोचकता के साथ साथ अधिक करुणा और

त्रासदी की अनुभूति जगाते है जबकि समकालीन 'जनवादियों' के 'दल'—या मंद और उबाऊ लेखन मे न वह मुहावरे की पकड़ है, न जनजीवन में व्याप्त हासप्रियता और व्यंग्य-क्षमता का बोध है ? अतः दोष आम-आदमी का नही, 'आम-आदमी' को जीते-जागते रूप में न देख कर, उसे अवधारणा के रूप मे देखने और उस पर अपनी अमूर्त सहानुभूति बिखेर कर 'प्रगतिशील' या 'जनवादी' बन जाने की होड़ में फँसे लेखकों का दोष है।

दुर्दशा को साधारण जन अपनी परिहासप्रियता के बल पर सहता है और दुश्मनों को भी वह इसी अस्त्र से मारता है। बिल्लेसुर -हनुमान जी को अपनी बकरियो का रखवाला बनाते है पर लडके उनका एक बकरा चुरा लेते है। अब बिल्लेसुर की 'जनवादी !' प्रतिक्रिया का चित्र देखिए:—

"बिल्लेसुर की आंखो मे शाम की उदासी छागई महावीरजी का मंदिर दिखा। अधेरा हो गया था। मन्दिर की उल्टी प्रदक्षिणा करके पीछे महावीर जी के पास गये। लापरवाही से सामने खडे हो गए और आवेश में कहने लगे:— देख, मैं गरीब हूँ। तुझे सब लोग गरीबो का सहायक कहते है। मैं इसीलिए तेरे पास आया था...मेरी बकरियों... को देखे रहना। क्या तूने रखवाली की, बता, क्या थूथन-सा मुँह लिए खडा है? कोई उत्तर नही मिला। बिल्लेसुर ने आंखों से आंखें मिलाए हुए महावीर जी के मुँह पर वह डंडा दिया कि मिट्टी की तरह टूट कर बीघे भर के फासले पर जा गिरा!"

वर्गचेतना और जनवाद के नाम पर किताबी प्रचार भी जरूरी है पर उससे अधिक जरूरी है, जन साधारण के जीवन मे परिस्थितियो के दबाव से उत्पन्न स्वतः उच्छलित वर्गबोध और वस्तुबोध। बिल्लेसुर अपने बोध से ही समझ गया कि देवता उसकी रक्षा नही कर सकते!

कहानियों में भी निराला इसी अमोघ-अस्त्र व्यंग्य-हास्य से काम लेते हैं—

"वे पहले फटीचर थे पर अब अमीर बन गए है, दो मंजला मकान खड़ा कर लिया है, मोटर पर सैर करते है। मुझे देखते हैं जैसे—मेरा उनका नौकर मालिक का रिश्ता हो। नक्की स्वरो मे कहते है—"हा अच्छा आदमी है, जरा सनकी है!" ('देवी')

सर्वत्र निराला, विरोधी रगों की समीपसंगति से ही हास्य-व्यंग्य उपजाते है किंतु इसके मूल मे जनकरुणा या जन प्रेम है और क्रोध तथा प्रतिपक्ष के प्रति अवमानना का रुख भी इसी मानवप्रेम से फूटता है—

"(चतुरी चमार) उपानह-साहित्य मे आजकल के अधिकांश साहित्यिकों की तरह—अपरिवर्तनवादी हैं।" (चतुरी चमार)

"शास्त्री जी ने एक छात्र से पूछा—छायावाद क्या है ? लड़के शास्त्रीजी को गंगा मे ले गये और दो-चार गोते लगा कर बोले—'यही छायावाद है!" (गजानन्द शास्त्रिणी)

वक्तव्य ही नहीं, हास्य-व्यंग्यपरक उचित प्रसंगो की भी वास्तविक जीवन में कमी नहीं परन्तु जनवाद को मात्र राजनैतिकता तक सीमित कर देने से, उसकी व्यापकता कम होती है और एक जड़ तथा ज़िद्दी तेवर ही प्रधान हो जाता है। इसके विपरीत निराला, वर्गबोध-प्रकाशन के लिए, रोचक जीवन प्रसंगों को चुनते है। त्रासद (ट्रैजिक) अनुभूति जगाने के लिए ऐसे प्रसंगों का कलात्मक उपयोग कोई निराला जी से सीखे। एक कम्यूनिस्ट समझता था कि उसकी बीबी मर गई। एक माया नाम की मिस्ट्रेस को देख कर बरसो बाद उसे शक हुआ कि उसकी पत्नी यही है। किंतु उसके दोस्त ने यह बताया—

"पक्की छिनाल है। कानपुर के किसी गांव की रहने वाली है। कहते है, पति बदमाश था, उसे सजा हो गई। यह इधर-उधर फिरने लगी।"

यह याद रहे कि बहुत सा कथासाहित्य 'कुकुरमुत्ता' से पहले का है अतः उसमें जो काटक पछाड़क-भंडाफोडक लहजा और उखाड़ू अदाज़ है, गहरा पर्यवेक्षण है, तीव्र वर्गबोध है। उसका रिहर्सल, निराला कथासाहित्य में कर चुके थे। अतः कथा, कविता, आलोचना, रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाओं में जो परस्पर विरोध माना जाता है, विशेषज्ञता के तर्क पर एक विधा के विशेषज्ञ को दूसरी विधा में अनाड़ी सिद्ध करने का जो रवैया है, वह कितना गलत है, यह निराला की कथा और कविता में हास्यव्यंग्यमयी एकता के प्रमाण से स्वत. साबित हो जाता है।

'कुकुरमुत्ता' 1942 की कविता है। दरअसल, निराला की इसी व्यंग्य-हास्य-परक रचना से कविता-युग बदल गया था किंतु 'तारसप्तक' की किताबी प्रयोगशीलता के प्रचार से वह दब गया या पुराना मान लिया गया। यह गौरतलब है कि तारसप्तक में कविता की भाषा बनावटी है (राम विलास शर्मा को छोड़ कर, पर वह कवि के रूप में उतनी मान्यता प्राप्त न कर सके) जबकि 'कुकुरमुत्ता' की भाषा ठेठ खड़ी बोली है और उसका व्यंग्य ठेठ जनवादी व्यंग्य है, वस्तुतः जन-व्यंग्य है, 'वादी' नही। यही जन-व्यंग्य-क्षमता 'नई कविता' की कृत्रिम काव्यभाषा के बाद, धूमिल और अन्य समकालीनों की ठेठ खड़ी बोली में निखरी है। बात यह है कि बनावटी काव्यभाषा मे कलात्मक आकर्षण के बावजूद, उसमे यथार्थ को झेलने की शक्ति नही होती, अतः प्रयोगवादी रचनाओं में सचेत और कृत्रिम कौतुक अधिक आ गया और यथार्थ-संश्लिष्ट व्यग्यज बांकपन उसमें से गायब होता गया। आप अज्ञेय की काव्यभाषा और निराला के व्यग्य-हास्य में प्रयुक्त भाषा की तुलना कर इस अन्तर को समझ सकते है। निराला ने टी. एस. एलियट के अटपटे तथा प्रसंगगर्भ से बोझिल प्रयोगों का मजाक भी उड़ाया है—

"कही का रोडा, कही का पत्थर
टी. एस. ईलियट ने जैसे दे मारा।"

निराला का 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम सगीत', 'स्फटिक शिला',

'बेला', 'नएपत्ते' की 'देवी सरस्वती', और जवाहरलाल नेहरू पर व्यंग्य-कविता आदि को प्रयोगवादी कविता-नयी कविता के समानान्तर, ऐसी रचनाएँ समझी जानी चाहिए जिसमें काव्यभाषा, खड़ी बोली के व्यवहृत रूप से बहुत दूर नहीं जाती और उसकी असली शक्ति, मुहावेरदानी निराला की प्रयोगशील काव्यभाषा में बरकरार है जबकि वह जन-मुहावरा, (परिमलीय और मुक्तिबोध में भी) नयी कविता में गैरहाजिर है या यत्र तत्र ही है। अज्ञेय की तो वार्तालापात्मक-काव्य भाषा में भी बनावटीपन है। निराला का व्यंग्य-हास्य हिन्दी में समकालीन व्यवस्था विरोधी, विद्रोही और क्रांतिकारी चेतना से सम्पन्न लेखन का आदिस्रोत है। आज जो समकालीन कवि और गद्यकार कटुयथार्थ का विद्रूप पेश कर रहा है, व्यंग्य कर रहा है, वह सीधे 'कुकुरमुत्ता' परम्परा में ही है अतः मैंने एक बार यह प्रस्तावित किया था (किंचित् हास के साथ) कि छायावादोत्तर कविता के युग को 'कुकुरमुत्ता युग' कहा जाए।

मैं पुनः यही प्रस्ताव कर रहा हूँ। साथी विचार करें और निर्णय लें।



18 महादेवी का काव्य—महाश्वेता का आंसूभरा अंचल

उपमा प्रायः एकाङ्गी होती है, जब-जब मैं महादेवी जी के साहित्य को पढ़ता हूँ विशेषकर कविता, तब मुझे कादम्बरी की महाश्वेता स्मरण हो आती है। महादेवी जी के गीत महाश्वेता के अश्रु भरे अचल से प्रतीत होते हैं और उनमें अभिव्यक्त उनकी मूर्त्ति तपस्यादीप्त, संयम-पुलकित, उदात्त किन्तु साथ ही कोमल भावनाओं से सजल महाश्वेता से पर्याप्त सादृश्य प्रस्तुत करती है। फिर भी महाश्वेता अभिशप्ता नारी थी और महादेवी ने दीपशिखा के समान स्वयं तिल-तिल मिटकर मानवता के अंधकार को दूर करने का व्रत लिया है। वेदना वही वरेण्य होती है जो जागरूक होकर स्वीकार की गयी हो, अन्यथा वह निराशा की ही सृष्टि करेगी।[1]

यह स्थिति स्पष्टतः अतृप्तवासनावादी। मनोविज्ञान द्वारा यों समझायी गयी है कि महादेवी का काव्य उनकी दमित इच्छाओं का प्रकाशन है। उनकी उच्च चिंतन भूमि, व्यापक वेदना या पीड़ा, व्यक्तित्व को समर्पित न करने का आग्रह, प्रेम का अलौकिक रूप यह सब किसी लौकिक अभाव का ऊर्ध्वप्रक्षेपण मात्र है किन्तु इससे महादेवी की उत्कृष्ट कला का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, केवल कार्य-कारण-परम्परा स्पष्ट होती है। तुलसीदास के मानस में रत्ना द्वारा उपेक्षित उनकी चेतना का प्रभाव व्यक्त हुआ है; यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। साहित्कार और कलाकार तत्वज्ञानी नहीं होते, अवश्य उनके अपने जीवन की कामनाओं का सतरंगा वस्त्र ही उनकी कला है, यहां तक कि उनका ज्ञान भी भावनाओं के अनुरूप ही होता है किन्तु इससे उनके कृतित्व का स्वरूप अस्पष्ट ही रहता है। स्वयं महादेवी जी कोरे पुस्तकीय सिद्धांतों को अनुपयुक्त और हानिकर मानती है। उन्होंने बार-बार जीवन पर बल दिया है, यहां तक कि छायावाद-यथार्थवाद के सैद्धान्तिक संघर्ष में

1. जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण में निराशा का कुहरा है या व्यथा की आर्द्रता, यह दूसरे ही बता सकते हैं परन्तु हृदय से तो मैं आज निराशा का कोई स्पर्श नहीं पाती, केवल गम्भीर करुणा की छाया ही देखती हूँ।

—आधुनिक कवि, भूमिका, पृष्ठ 37

केवल किताबी दृष्टि को छोड़कर उन्होंने जीवन को समझने पर जोर दिया है।[1] अतः महादेवी के व्यक्तित्व को समझने के लिए किसी एकांगी मनोविज्ञान सम्प्रदाय से केवल "व्यक्तिगत कारण" पर ही प्रकाश पड़ता है और वह भी इतना धूमिल, अपर्याप्त और अशुद्ध कि हम यह कहने पर कुछ भी नहीं कहते कि महादेवी में अतृप्त इच्छाओं का ही उदात्तीकरण हुआ है। अतएव हमें उस काल के जीवन को देखना होगा जो किसी एक कवि की कामनाओं से सम्बन्धित नहीं होता; जिसमें कोटि-कोटि जनों की कामनाएं और धारणाएं टकरातीं, सामंजस्य पाती, विशिष्ट परिस्थितियों के कोड़ में आविर्भूत होती हुई और उन्हें प्रभावित करती हुई अपने अस्तित्व को सार्थक करती है। किसी व्यक्ति विशेष की चेतना और उसकी अभिव्यक्ति को समझने का एकमात्र उपाय इसी "संदर्भ" को समझना है। मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायें प्रायः इस संदर्भ की उपेक्षा करते हैं, वे व्यक्ति को सन्दर्भ से अलग करके, उसकी आदिम प्रवृत्तियों के आधार पर ही विचार करते हैं, उपलब्ध ज्ञान या विचार, भाव आदि उन्हें उतने महत्वपूर्ण और निर्णायक नहीं लगते, जितने प्रकृति द्वारा प्राप्त मनोविकार।

महादेवी काव्य में जितनी ही निजतायुक्त प्रतीत होती है, उतनी ही वे अपनी आलोचनाओं में वस्तुपरक हैं। उन्होंने स्वयं जीवन और कलाओं पर विचार किया है और छायावादी कविता तथा यथार्थवाद के संघर्ष में छायावादी कविताओं के उपयोग और स्थायित्व पर सोचा है, वस्तुतः इन्हीं स्थलों में हमें कवि की कला को समझने का सूत्र मिलता है।

महादेवी द्विवेदीयुगीन काव्य में सबसे बड़ा अभाव यह पाती हैं कि उसमें कवि की कोमल अनुभूतियों के लिए स्थान नहीं था; छायावाद ने इसी की क्षतिपूर्ति की, अतः छायावाद कवि की ही नहीं, व्यक्तिमात्र की मधुर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होने के कारण अमर है; उसका स्थायी महत्त्व है; क्योंकि मनुष्य की कोमल अनुभूतियों का स्तर स्थायी स्तर है, वह लाखों वर्षों के इतिहास के पश्चात् भी स्वरूपतः वही है। अपने गुणात्मक परिवर्तनों के बावजूद मानवीय चेतना का यह रागात्मक जीवन अब भी इतना भिन्न नहीं हुआ है जो पहचाना न जा सके। महादेवी इसी स्तर को सर्वाधिक महत्त्व देती हैं, क्योंकि व्यक्ति जब तक अनुभूति के स्तर पर किसी तथ्य का भोग नहीं करता, तब तक सिद्धांत-उपदेश ही जनता है और द्विवेदीयुगीन काव्य में इस निजता का सर्वथा अभाव है। वहां समाज का कल्याण व्यक्ति की निजी अनुभूति बनकर प्रस्तुत नहीं है। द्विवेदी युग और प्रगतिवादी युग के अभिव्यक्ति रूपों म काफी साम्य है, क्योंकि यथार्थ के प्रति कवियों की दृष्टि निजी पीड़ा या व्यक्तिगत संवेदना का रूप नहीं ले पाती। प्रचारात्मकता का अर्थ है कि सिद्धान्त आरोपित हो रहा है, वह जीवन के खटमिट्ठे अनुभवों के माध्यम से न गुजरकर

1. आज की सभी विकृतियों और संकीर्णताओं का एकमात्र उपाय जीवनमें घुलमिल जाना है। —दीपशिखा पृ. 56

सिर पर बँधे साफे की तरह भव्य और उदात्त लगाने पर भी, अवयवी का अंग नहीं बन पाता। महादेवी का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने सबके लिए उपयोगी इस कलारहस्य पर प्रकाश डाला है। फिर भी महादेवी जी ने, युगान्त-युगवाणी के पन्तजी की तरह छायावाद की सीमाओं को समझ लिया था। छायावाद के कवि को एक नये सौंदर्यलोक में ही वह भावात्मक दृष्टि-कोण मिला, जीवन में नहीं, इसीसे वह अपूर्ण है"[1] किन्तु साथ ही प्रयोगवाद और नयी कविता के आविर्भाव के पूर्व ही यथार्थवाद की बौद्धिकता को काव्य-प्रक्रिया के विरुद्ध जाते देखकर महादेवी ने किसी वाद के आधार पर नहीं, किन्तु जीवन के अनुभव के आधार पर स्पष्ट कहा था कि "छायावादी सौदर्यलोक के स्थान पर केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता में (उसे) देखना चाहेंगे, तो भी हम असफल रहेंगे" और जिस प्रकार प्रगतिवाद समाज के बौद्धिक समाधान को काव्य में निजी जीवन के माध्यम से पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सका, उसी प्रकार प्रयोगवाद बौद्धिकता के बोझ से कराह उठा। यही कारण है कि छायावाद का सीमित सौंदर्यबोध, उसकी आशा, मनुष्य के भविष्य में उसका विश्वास; मनुष्य की चेतना को जड़ बनाने वाले अवरोधों का उसके द्वारा किया गया विरोध और आकर्षक अभिव्यक्ति आज भी प्रिय लगती है और लगती रहेगी।

यथार्थवादियों और अब नये कवियों का एक बहुत बड़ा आरोप छायावाद की पलायन वृत्ति पर भी था। महादेवी ने इस आक्षेप के उत्तर के लिए भी जीवन को आधार बनाया है। प्रायः जिसे हम पलायन समझते है, वह आगामी संघर्ष के लिए तैयारी के रूप में भी समझा जा सकता है। "सत्य तो यह है कि परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाकर और इसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायन वृत्ति को दिया जा सकता है।"[2] उपनिषद् युग के ऋषि अभाव के कारण नहीं, यथार्थ से अतिपरिचय के कारण रहस्यमय तत्त्व की ओर उन्मुख हुए, गौतम बुद्ध भी इसी आधार पर गृहत्याग के लिए प्रेरित हुए। यही नहीं, महादेवी के अनुसार दैनिक जीवन में भी यह पलायनवृत्ति एक सीमा तक दिखाई पड़ती है—

"आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी चुराने वाले विद्यार्थी को जब हम खिलौनों से घेरकर छोड़ देते है, तब कुछ दिनों के उपरान्त वह स्वयं पुस्तकों के लिए विकल हो उठता है।"[3] इसी प्रकार महादेवी जी के अनुसार मचान पर स्थित कृषक फसल की रक्षा के लिए संघर्ष के गीत नहीं गाता; मिलन-विरह की स्मृति ही दुहराता है। इसी तरह "चक्की के कठिन पाषाण को अपनी सांसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई, दरिद्र स्त्री जब इस प्रयास को रागमय करती है तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्रवन में पड़े झूले

1-2-3-4. आधुनिक कवि पृ. 25, 26

की मार्मिक कहानी ही रहती हैं।"[4] इस प्रकार छायावाद के विरुद्ध आरोपों में सत्यांश है, किन्तु वे आरोप पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि "जीवन" को न समझने के कारण और योरोप में रोमांटिक आन्दोलन विरोधी नये आन्दोलनों का यथावत् अनुकरण के कारण हम छायावाद के शुभ पक्षों की भी आज निन्दा करते है।

महादेवी की विशेषता है, व्यक्तिगत दुःख को समष्टिगत गम्भीर वेदना में बदल सकने की क्षमता। यही कारण है कि उनके काव्य में यद्यपि कलागत चातुर्य अवश्य मिलता है किन्तु भावनागत कृत्रिमता नहीं मिलती। मीरा के साथ उनमें जो सादृश्य माना गया है, वह इसी कारण। काव्य की सफलता, किसी अनुभूति को तीव्रता के साथ अनुभव करके इस प्रकार व्यक्त करने में है कि वह मनुष्य मात्र की सम्पत्ति बन जाये, अपने अहंसापेक्ष अनुभव को अहंनिरपेक्ष करना ही कला की सफलता है, महादेवी जी मे यह क्षमता अत्यधिक है।

छायावाद का व्यक्तिवाद तात्कालिक यथार्थ की पूर्ति, यथार्थ में अभीप्सित परिवर्तन करने और नये सामाजिक सम्बन्धों की प्रतिष्ठा करने का काव्यगत प्रयत्न था। मध्यकालीन युग मे "नारी" और "निम्नवर्ग"—ये दो उत्पीड़न के शिकार थे। चिन्तन के स्तर पर यह उत्पीड़न 'कर्मवाद' और 'कर्मवाद' आत्मवाद : ब्रह्मवाद से समर्थित हुआ था। कला के स्तर पर नारी का समाज में स्वतन्त्र स्थान न होने के कारण उसे पुरुष की वासना के क्रोड में रखकर ही देखा जा सकता था। छायावाद ने इन सम्बन्धों के विरुद्ध संघर्ष किया था। समाजशास्त्रीय दृष्टि से नारी के लिए उनके पास कोई सही सैद्धांतिक समाधान चाहे न हो, किन्तु पल्लव, गुंजन, जुही की कली, राम की शक्ति-पूजा, तुलसीदास, कामायनी और महादेवी के गीतों मे सर्वाधिक बल नारी की रीतिकालीन मूर्ति के स्थान पर उसे एक दिव्य स्थान दिया गया है। सर्वत्र नारी के सौंदर्य का ही आरोप कर नवीन सौंदर्य की ही सृष्टि नहीं की गई है, अपितु इस प्रक्रिया में नारी पुरुष के भावनागत प्रेम और समानता के स्तर पर उनके परस्पर सम्बन्धों की प्रतिष्ठा भी की गई है। किंतु मध्यकाल से अभिशप्त निम्नवर्ग के लिये छायावाद मे विशेष भावुकता नहीं मिलती। यह कार्य प्रगतिवादियों ने पूरा किया; किन्तु छायावाद मे उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं हुई। निराला की "वह तोड़ती पत्थर" "विधवा", "बादल", "जागो फिर एक बार" आदि रचनाएं तो प्रसिद्ध ही है। पन्त, प्रसाद मे भी जो वेदना है, उसका एक अचल मानव को इस पीड़ा का भी स्पर्श करता है। महादेवी मे तो यह स्पर्श निराला से भी कहीं कहीं अधिक मात्रा मे मिलता है; गद्य के क्षेत्र मे तो महादेवी जी ने इसी दरिद्रता को वाणी दी है किन्तु पद्य मे भी प्रारम्भ से ही यह व्यापक करुणा का भाव कहीं अतर्द्वन्द्व के रूप मे और कहीं निरपेक्ष पीड़ा के रूप मे व्यक्त होता रहा है—छायावादियों की वेदना म इस प्रकार निजी पीड़ा और व्यापक पीड़ा का अंतर्भाव अवश्य हुआ है—

कह दे मां मैं क्या देखूं
देखूं खिलती कलियां या प्यासे सूखे ग्रधरों को
तेरी चिर यौवन सुषमा या जर्जर जीवन देखूं।[1]

फिर भी यह मानना होगा कि महादेवी के काव्य में युगों-युगों से ग्रभिशप्त नारी जाति के 'ग्रश्रु-रोदन ग्रौर साथ ही उज्जवल प्रेम का ही वर्णन है। गद्य में उन्होंने करुणा का द्वितीय रूप स्पष्ट किया है।

महादेवी जी के वैयक्तिक जीवन का ग्रसंतोष कटुता में परिणत न होकर सूक्ष्म रहस्यमय सत्ता के प्रति ग्रात्मनिवेदन के रूप मे परिणत हुग्रा है इसे देखकर ग्राश्चर्य होता है। किन्तु गद्य में कटुता की मात्रा ग्रधिक है। "शृङ्खला की कड़ियां" ग्रौर "नीहार-रश्मि-दीपशिखा"—इन दो रूपों मे, एक ही व्यक्ति के दो सधे हुए ग्रनुभूति-स्तर देखकर स्तंभित रहना पड़ता है; उसी प्रकार जिस प्रकार 'कामायनी' ग्रौर 'कंकाल' को एक ही लेखक की कृतियां जानकर हमे ग्राश्चर्य होता है। वस्तुतः ये दोनो परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएं न होकर एक दूसरे की पूरक है। गद्य मे जिस वेदना को उसके कार्य-कारण सहित विश्लेषण के रूप मे, ग्रपनी पूर्ण व्यापकता के रूप मे हम पाते हैं, कविता में वही करुणा निजी स्तर पर कार्यरत हुई है। 'ब्रह्म' में ग्रपना गन्तव्य पाकर लौकिक कटुता या ग्रभाव से पलायन के रूप में देखने पर भी हमें उसका महत्व नही भूलना चाहिये। यह टीस कविता मे कार्यकारण रहित रूप में ग्रौर इसलिए निरपेक्ष सी प्रतीत होती हुई है, किन्तु उचित सामाजिक समाधान का ग्रभाव उसकी ग्रभिव्यक्ति का केवल एक पक्ष है। प्रश्न वास्तव मे यह है कि यह वेदना ग्रभिव्यक्त तो हुई ही है, क्या यह कम महत्वपूर्ण बात है? छाया-वाद के पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य मे नवीन मानवीय सम्बन्धों की स्थापना की यह नूतन ग्राकांक्षा ग्रौर कहां है?

"ग्रश्रुमय कोमल कहां तू ग्रा गई परदेशिनी री"

इस पंक्ति के ग्राविर्भाव के पीछे भौतिक जीवन की कठोरता ग्रौर ग्रन्याय का दंशन तीव्रतम मात्रा में है, ग्रतः इसमें ऐसे समाज को गढ़ने की प्रेरणा भी है, जिसमें मनुष्य के कोमल भाव-जगत् का ग्रपमान न हो।[2]

इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवाद मध्ययुगीन रहस्यवाद से स्वरूपतः भिन्न है, क्योकि उसमें साधनात्मकता का ग्रभाव है ग्रौर इसमें तात्कालिक सामाजिक जागरूकता का बोध सहज भाव से इस प्रकार मिल गया है कि जो 'सर्वथा व्यक्तिगत' प्रतीत होता है, वस्तुतः उसकी पृष्ठभूमि में व्यक्ति ग्रौर परिस्थिति का द्वन्द्व ही

---

1. वही पृ. 37।
2. भौतिक के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण ग्रौर हिंसा से जर्जरित जीवन में व्यस्त युग को देखकर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन भी ग्रपनी करुण भावना से पूछना चाहता है, ग्रश्रुमय कोमल कहां तू ग्रा गई, परदेशिनी री—

समाहित है । यथार्थ के इसी स्पर्श को न समझने के कारण महादेवी जी के काव्य मे मध्यकालीन रहस्यवाद की यथावत् प्रतिध्वनि न पाकर क्रोध प्रकट किया गया है, जैसे कि यह महादेवी जी का अपराध था कि उन्होंने रहस्यवाद को अधिक सामाजिक क्यों बनाया है ।

काव्य की परख में पुराने और नये सांचो के मनमाने प्रयोग पर महादेवी जी ने इसीलिए आक्रोश प्रकट किया है कि हिन्दी के आलोचकों का 'समाज के विभिन्न स्तरों से सम्पर्क इतना कम और पीडित वर्ग से परिचय इतना बौद्धिक है कि व्यक्तिगत सिद्धान्त-प्रियता, समष्टिगत जीवन की उपेक्षा बन जाती है । उसका कर्तव्य वैसा ही निश्चित और एकरस है, जैसा अस्त्र रखने का लाइसेन्स देने वाले का होता है । लेने वाला यदि निश्चित नियमों की परिधि में आ जाता है तो वह अस्त्र पाने का अधिकारी है, चाहे वह उसे चींटी पर चलावे, चाहे तारे पर और चाहे मारने के लिये कुछ न रहने पर आत्मघात करे, देने वाले पर इसका लेशमात्र भी उत्तरदायित्व नहीं ।"[1]

आलोचको की इस भूल का क्या कारण है ? परम्परावादी पुराने सूत्रों में सब कुछ समेटना चाहते है और यथार्थवादी नये सूत्रों में तथा नये कवि अति नये सूत्रों में । जीवन में वैविध्य है; यह उपेक्षणीय हो जाता है । महादेवी जी का ध्यान इस तथ्य पर भी गया है कि साहित्य-स्रष्टाओं और आलोचकों की आर्थिक स्थिति मे अन्तर है । "कवियों मे एक-दो को अपवाद छोडकर शेष ऐसी अनिश्चित स्थिति में रहे और रहते आ रहे है, जिसमे न लिखने का अनिवार्य परिणाम उपवास-चिकित्सा है । इसके विपरीत आलोचको मे दो-एक अपवाद छोड़कर शेष की स्थिति इतनी निश्चित है कि लिखना, अध्यापन और स्वाध्याय का आवश्यक फल हो जाता है । वे अपने उच्च-वर्ग की गृह-परिग्रह-जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ देख कर खिन्न होते हैं अवश्य, पर यह खिन्नता जीवन की विशेष गहराई से सम्बन्ध नही रखती, अतः उनका कार्य प्रस्ताव के अनुमोदन से अधिक महत्व नही रखता । एक दीर्घकाल से हमारा बुद्धिजीवीवर्ग जीवन के स्वाभाविक और सजीव स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है । परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारो की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है । आलोचक भी इसी वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण मानसिक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्र्य साथ लाये बिना न रह सका ।[2]

रूपवादी और परम्परागत आलोचना पर यह यथार्थ व्यंग्य है । छायावादी कविता में व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष और सामंजस्य अथवा दूसरे शब्दों मे

---

1. दीपशिखा, पृ. 54-55 । आधुनिक कवि—38 ।
2. दीपशिखा—पृ. 54 ।

यथार्थ के प्रति कवि की एप्रोच को सर्वाधिक महत्व न देने के कारण प्राचीन रस, अलकार, रहस्यवाद आदि के सिद्धान्तों पर इस काव्य को परीक्षित करने का परिणाम निराशाजनक और कवियों के लिए अपमानजनक ही हो सकता है।

छायावाद में सर्ववाद या प्रकृति में किसी अलक्षित सत्ता के आभास की अधिकता मिलती है। रहस्यवाद में इसी "छाया" को प्रेमपात्र बनाकर उसके साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर मिलन-विरह के गीत गाये जाते है। किन्तु महादेवी के छायावाद-रहस्यवाद की विशेषता यह है कि इस अलक्षित सत्ता को चित्र के लिए चित्रफलक की तरह, एक आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका अर्थ यह नही कि उनका दिव्य सत्ता में विश्वास नही है, किन्तु वह काव्य मे विश्वास के सिवा, भावनाओं के आधार रूप में प्रस्तुत होने के कारण कला-प्रक्रिया के अंग के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। अतः यह सर्ववाद (पैंथीइज्म) प्राचीन दार्शनिक विश्वास से भिन्न है; "भावों के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखंड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है, जैसी कही रंगीन, कही सितासित, कही सघन, कहीं हल्के, कही चादनीधौत और कही अश्रु-स्नात बादलो से छाये आकाश की होती है।"[1]

अतः ब्रह्म या दिव्य सत्ता का नाम आते ही न तो अंधविश्वास के आधार पर इसकी उपेक्षा हो सकती है, क्योकि कला-प्रक्रिया की दृष्टि से उसका महत्व है और साथ ही उसके आधुनिक रूप मे प्रयोग होने के कारण भी उसका उपयोग है, और न इस आधार पर वह निन्दा का विषय है कि उसके प्रति कबीर और मीरा जैसा सर्वसमर्पण नही है। आधुनिक परिस्थितियों में—छायावादी युग में साम्राज्य-वादी संस्कृति के विरुद्ध भारतीय संस्कृति की धारणाओं को नवीन रूप मे अपनाना क ऐतिहासिक प्रक्रिया थी, और दूसरी ओर पुराने रहस्यवाद का अनुकरण भी म्भव नही था, इसीलिए ब्रह्म से महादेवी का आत्मनिवेदन नीहार मे भी नवीन र में है—

ऐसा तेरा लोक,
वेदना नही, नहीं जिसमे अवसाद
जलना जाना नही,
नही जिसने जाना मिटने का स्वाद
क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव अरे!
यह मेरे मिटने का अधिकार।

यह बात बार-बार महादेवी जी दुहराती है, यहां तक कि पुनरावृत्ति की भी

1. वही, 58।

चिन्ता नहीं करती, आखिर क्यों ? इसलिए कि वह बीसवीं शताब्दी के एक विशिष्ट सामाजिक सोपान के लिए नूतन रहस्यवाद की रचना करना चाहती हैं, अतः मीरा कबीर और जायसी के सादृश्य के बावजूद वह अपनी विशिष्टता पर बल देती है और 'सांचावादी' आलोचक इसी बात पर नाराज़ है कि वे कबीर और मीरा का यथावत् अनुकरण क्यों नहीं करतीं।

नई कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव के कारण अस्तित्वरक्षा का ध्यान अधिक रहता है। सामूहिक आन्दोलनों से नए कवि को व्यक्ति के अस्तित्व का भय है, तब महादेवी को ब्रह्म से प्यार करके भी यदि अपने अस्तित्व से प्रेम है, तो यह आधुनिक नारी की विशिष्टता को व्यक्त करता है या महादेवी जी के व्यक्तिगत अहंकार को ? महादेवी जी की उपलब्धि ही यही है कि पुराने गंतव्य को मानकर भी उनकी 'यात्रा' या गति की विशिष्टता सुरक्षित है और यह विशिष्टता उनका व्यक्तिगत अहंकार नहीं, जातीय दुर्दशा को देखकर उत्पन्न स्वाभिमान मात्र है।

एकाकीपन आज की कविता का एक विशेष वर्ण्य विषय है। किंतु महादेवी जी को इस अनुभूति का बोध बहुत तीव्रता के साथ हुआ है। ब्रह्म के साथ अस्तित्व-सम्पर्क की तरह यह सूनापन भी महादेवी जी का विशिष्ट अनुभव है, जो पुस्तकीय न होकर जीवनगत है। यह सूनापन विरहजन्य भी है और उसके साथ-साथ नारी जाति की सर्वत्र उपेक्षा के कारण भी यह उत्पन्न हुआ है, अतः यह अकेलापन, यह ऊब, अधिक प्रभावशाली प्रमाणित हुई है—

उस सोने के सपने को, देखे कितने युग बीते
आँखों के कोष हुए हैं, मोती बरसाकर रीते
अपने इस सूनेपन की, मैं हूं रानी मतवाली
प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती रखवाली।

ऊब का यह वर्णन अंतर्निहित रागसूत्र के कारण जीवन से असम्पृक्त नहीं महसूस होता, वह अनुभूत लगता है। नये कवि जब छायावाद पर आक्रमण करते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि उनकी प्रिय 'ऊब' का एक रूप छायावाद में भी मिलता है। यह सूनापन केवल एक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना मे ही सीमित नहीं है, वह एक व्यापक पीड़ा या जनसंवेदना से सम्बन्धित है—

चिंता क्या है, हे निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा
हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा।

मानव की दुर्बलताओं का तीव्र दर्शन ही इस दुःखवाद का कारण है। यह इसीलिए दार्शनिक दुःखवाद नहीं, जीवन की अपूर्णता को देखकर उत्पन्न मानवीय संवेदना है। महादेवी जी का कथन है कि यद्यपि वह गौतम बुद्ध के दुःखवाद से प्रभावित हैं, तथापि सुख से अधिक दुःख को वे इसलिए भी महत्वपूर्ण मानती है, क्योंकि सुख व्यक्तिवादी और दुःख समष्टिवादी होता है, तभी तो दुःख को बांट कर भोगने

की प्रवृत्ति होती है, अतः कादम्बरी की महाश्वेता के दुःख से महादेवी जी का दुःख अधिक व्यापक है। वह अनेकार्थक होने के कारण अधिक सार्थक है और अपने समय की व्यष्टि-समष्टि की वास्तविकता को अधिक सूक्ष्म और फलीभूत रूप मे व्यक्त करता है।

वास्तविकता के प्रति इसी जागरूकता के कारण तथा निजी अभाव को साधारणीकृत कर सकने के कारण महादेवी जी का कला-स्वरूप भी विशिष्ट हो गया है। प्रायः गीत सन्ध्या या रात के चित्रण से प्रारम्भ होते है, (अधिकतर गीत रात में ही लिखे गये हैं) और जहां प्रातःकाल के अरुण-बाणों की चुभन का वर्णन है, वहां भी 'सजल-गान' के निर्झर ही प्रवाहित होते है अतः जहां पन्त जी की कला पल्लवों के समान किसलयी कला है—चिरमधुर मधुर, कोमल-कोमल—वही निराला की कला में घनीभूत रंगों के चित्र है और महादेवी में एक धूमिलतायुक्त सन्ध्या के समान सितारों जड़ी सारी पहने चन्द्रमुखी कला प्रायः निशा का आकर्षक रूप ही प्रस्तुत करती है। वह निशा की तरह अधिक रहस्यमयी और सांकेतिक भी है और साथ ही पन्त जी जैसा चटक रंग भी वहां नही है, प्रसाद जैसी मादक रहस्यमयता भी वहां नहीं है; एक करुण रागिनी गाती हुई सुन्दरी रजनी के समान ही महादेवी की कला है और उसका कारण जानबूझ कर अपनाये गये बिम्बों के उत्पादन में नहीं, अपितु वास्तविकता के प्रति कवयित्री की दृष्टि के कारण ही कला का यह स्वरूप प्रस्तुत हुआ है।

यह अभी तक अदेखा ही रह गया है कि महादेवी जी की रचनाओं में लोक-गीतों का स्पन्दन अन्य छायावादियों से अधिक है। छायावाद की अलंकृति तो महादेवी में बाह्य आभूषणवत् हैं, उसका प्राण तो लोकगीतों की सुरभि ही है। विशेष रूप से नारियों द्वारा गाये गये गीतों का संवेदन उनमें अधिक है। संवेदन ही नही, वर्ण्य विषय भी बहुत कुछ एक जैसे हैं—

''अनेक बार उनके (लोक बालाओं के) लोकगीत सुनकर ऐसा भी लगा है कि यह भाव मेरे गीत में होता! 'एक कदम की डार बसे दो पंछियां', गाने वाली ग्रामीण सखी इस गीत को अपने जीवन की अन्योक्ति बनाकर गाती है। साधारण शाब्दिक अर्थ में यह गीत दो विहगों के करुण बिछोह की कथा है। परन्तु अलौकिक अर्थ मे ग्रहण कर लेने में मुझे कोई कठिनाई नही होती। अपने छोटे घर के द्वार पर टेढ़ा-मेढ़ा स्वस्तिक बनाकर उसके दोनों ओर हाथ की छाप लगाने वाली सरल गृहिणी की कल्याण-कामना चाहे बहुत स्पष्ट न हो, पर मूलतः यह मेरी उस भावना से भिन्न नहीं; जिसके कारण मैं शून्य भित्ति पर बुद्ध का चित्र बना देना चाहती हूँ।''[1]

1. दीपशिखा, 62।

इस साम्य पर अब आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए। छायावाद को मात्र अलौकिक समझने का ही कारण है कि भारतीय उपेक्षिता नारी की विश्वासमयी, सहनशीला और अश्रुस्नाता मूर्ति ही महादेवी के काव्य में चित्रित होकर भी, उनके काव्य को पूर्वनिश्चित रहस्यवाद के मापदण्डों के अतिरिक्त किसी जीवनजन्य मापदण्डों मे नापने की ओर हमारी प्रवृत्ति ही नही होती।

महादेवी जी ने कहा है कि उनकी कविता में चाहे नवीन प्रभात के वैतालिकों का स्वर न हो, परन्तु उनकी यह दीपशिखा की लौ रात के तमस् की सघनता को नष्ट करने मे अवश्य समर्थ है। रात के अंधकार को दूर करने की तीव्र कामना महादेवी की कविता को इस देश की मानवतावादी परम्परा को मजबूत करती है और वस्तुतः इसी कल्याणमयी भावना के कारण उसमे इतनी उदात्तता है कि मूलगत अतृप्त वासना खाद बन गयी है और उसने जिस पुष्प की सृष्टि की है, उसे देखने में मुग्ध दर्शक का ध्यान यदि 'खाद' की ओर नही जाता, तो कोई हानि नहीं है। यह तो साधारण सत्य है कि पुष्प के लिए भूमि, जल और खाद की आवश्यकता है। यदि महादेवी जी महाश्वेता अथवा मीरा न होकर, राधा होतीं तो निश्चित रूप से उनकी कला का स्वर भिन्न होता, किंतु यदि उन्होंने अपने जीवन की विषम परिस्थिति से आघात खाकर, अपने हृदय-राग को सारे विश्व के लिए अर्पित कर दिया, तो यह साधारण उपलब्धि नहीं है। उस समय जैसे गाँधी जी 'राग' को व्यापक बनाने में सफल हुए थे, उसी प्रकार भाव के क्षेत्र मे छायावादी कवि अपनी निजी आशा-आकांक्षाओं के माध्यम से सारे समाज के स्वप्नों और वेदनाओं को वाणी दे रहे थे। महादेवी मे भी इसी निजता और समाज का, अंतर्मुखता और बहिर्मुखता का, पलायन और संघर्ष का, स्नेह और करुणा का, लोकगीतों की मधुर सरलता और राजमहलीय अलंकृति का, भाव और कल्पना का, यथार्थ की कसक और स्वप्नों के माधुर्य का तथा गति की चेतना और गंतव्य के आकर्षण का कुछ ऐसा विशिष्ट समन्वय हुआ है कि उनकी गीतियाँ हिन्दी में अपनी अद्वितीयता के लिए प्रसिद्ध है।

निस्सदेह महादेवी जी में एकरसता है, वैविध्य भी अधिक नहीं है किंतु इसीलिए केन्द्रीयता भी उनमें सबसे अधिक है। उनका अपना मार्ग है, अपनी सचिक्कण पदावली है, अपने प्रतीक है, बिम्ब है, जिनका वे बार-बार प्रयोग करती हैं, किंतु उनमें पुनरावृत्ति भले ही मिल जाये, भावना की कृत्रिमता नहीं है। उनके गीत वस्तुतः जीवन की कठोरता से श्रान्त, किसी बन्द कमरे में स्थित दुःखी व्यक्तियों के लिए एक ऐसे वातायन के समान है, जो इस जगत् के सम्पूर्ण कार्य-कलाप के आधारभूत तत्त्व की ओर उन्मुख करके हमें सतही दृष्टि से न देखने के लिए प्रेरित करते हैं, जो बाहर की मुक्त वायु के शीतल झोंके से हमें आगामी संघर्ष के लिए प्रस्तुत करते हैं, जो वैयक्तिक कटुता और दुर्व्यवहार से चेतना को कुण्ठित न करके, व्यापक सामाजिक कारणों को खोजकर, एक ऐसे समाज की रचना का संदेश देते हैं, जो मानवीय करुणा पर आधारित हो, केवल बाह्य साम्यविधान पर नहीं —

"एक बहुत बड़े मानव समूह को हमने ऐसी दुर्दशा में रख छोड़ा है, जहां साहित्य का प्रवेश कल्पना की वस्तु है। वह समाज, हृदय की बात समझता है, पर व्यक्ति के माध्यम से। ऐसे समाज में काव्य पहुँचाने से अधिक महत्त्व का प्रश्न मनुष्य पहुँचाना है जो अपनी सहज संवेदना से उनके हृदय तक पहुँचकर बुद्धि की खोज खबर ले सके।"[1]

यह सहज मानवीय संवेदना ही महादेवी जी की कविता का प्राण है; इसी से उसे विशिष्टता प्राप्त हुई है; इसी के कारण उनकी कला, उनकी कविता को सर्व-साधारण के योग्य बनाये रखती है, इसी के कारण वह मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण करुण भावना को जाग्रत करती है। क्रौञ्चवध से दंशित बाल्मीकि की चेतना की अभिव्यक्ति से जिस मानवतावादी काव्य का जन्म हुआ; उसका दूसरा छोर छाया-वाद में प्रकट हुआ है। जब तक मनुष्य को मनुष्य से प्यार रहेगा, जब तक नारी और पुरुष के भावुक हृदय, उदात्त प्रेम और परस्पर सम्मान के भाव से झंकृत होते रहेंगे; जब तक प्रकृति की अनेकानेक भव्य छवियाँ हमें मुग्ध करती रहेंगीं और जब तक मनुष्य अपनी वैयक्तिक चेतना तथा सामूहिकता के अंतर्विरोधों के विरुद्ध जाग-रूक होकर उनका समाधान प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहेगा, तब तक इस युगानुयुगों से चले आने वाले अनादि संघर्ष की प्रक्रिया में महादेवी जी का कृतित्व एक पाथेय का कार्य करता रहेगा और जब कभी मनुष्य अपनी सम्पूर्ण असंगतियों पर विजय प्राप्त कर लेगा, तब भी स्नेह से भीगे इन गीतों का आनन्द हमें अवित करता रहेगा; मानवता की यह अमर निधि कभी विस्मृत नहीं हो सकती—

दूसरी होगी कहानी शून्य में जिसके,
मिटे स्वर धूलि में खोई निशानी।
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित।
मोतियों की हाट और,
चिनगारियों का एक मेला।

1. दीपशिखा 63।

19 डॉ. रांगेय राघव की समीक्षा

स्वर्गीय डॉ. रांगेय राघव का सम्पूर्ण साहित्य आलोचनात्मक है, दूसरे शब्दों में काव्य, नाटक, उपन्यास और कथाओं में उनकी दृष्टि भावात्मक नहीं, आलोचनात्मक है। भाव को भी दृष्टि आलोचना ही देती है। डा. रांगेयराघव का भाव प्रवृत्तियों से रञ्जित नहीं आलोचना से आलोचित है, इसलिए उनके साहित्य को समझने के लिए उनकी स्वतन्त्र रूप में लिखी गई आलोचना को समझना आवश्यक है।

रांगेय राघव की आलोचना में प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, भारतीय चिन्तन, सङ्गम और संघर्ष, गोरखनाथ और उनका युग, काव्यकला और शास्त्र तथा आधुनिक काव्य से सम्बन्धित उनके दो ग्रन्थ (सौंदर्य और शैली से सम्बन्धित) उल्लेखनीय हैं, इनमें नवीनतम ग्रन्थ है, "हिन्दी कविता में विषय और शैली"। इनके अतिरिक्त कतिपय आलोचना ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं।

डा. राघव की आलोचना 'समाजवादी यथार्थवाद', 'समाजवादी मानवता' अथवा 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' पर आधारित है। उनकी नवीनतम कृति को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि डा. राघव अन्तिम सांस तक साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारक रहे, साम्यवादी दल की कई नीतियों से तथा सहकर्मी आलोचकों से गम्भीर मतभेदों और फलस्वरूप लम्बी बहसों के बावजूद उन्होंने समाजवादी मानवता को कभी नहीं छोड़ा, इस तथ्य को सर्वदा स्मरण रखना होगा क्योंकि उनके साहित्य और आलोचना की यही आधारशिला है जिस पर उनकी आलोचना का भवन खड़ा हुआ है।

दो चार वर्षों से (मृत्यु से पूर्व) मुझे रांगेय राघव "संशोधनवादी समाजवादी" से प्रतीत होने लगे थे। उन्होंने पत्रों के रूप में जो विचार प्रकट किए हैं उन्हें डा. राघव ने मुझे पढ़ने को दिया था। इस अप्रकाशित[1] पुस्तक में लगता है, उन्होंने अपने जीवन-दर्शन में कुछ संशोधन प्रस्तुत किया है किन्तु प्रकाशित साहित्य से यही प्रमाणित होता है कि वह प्रारम्भ से अन्तिम समय तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ही रहे। उनके संशोधन भी वस्तुतः दिग्भ्रमित करने वाले नहीं हैं।

1. अब प्रकाशित

वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिकतम साहित्य तक डा. रांगेय राघव ने साहित्य को भारतीय समाज के द्वन्द्वात्मक विकास के साथ सम्बद्ध करके देखा। इस लम्बे विकास में प्रत्येक युग के साहित्य के प्रगतिशील तत्व को इसके प्रतिक्रियावादी तत्वों से फटक कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। उनकी आधुनिक साहित्य की व्याख्या अतीत के इन प्रगतिशील तत्वों से अविच्छिन्न रूप से सम्पृक्त की गई है और अतीत की व्याख्या इसलिए की गई है ताकि अपने साहित्य और समाज के विकास को समझकर हम अपने वर्तमान के साहित्य और समाज को वांछनीय दिशा दे सकें। अतः उनकी आलोचना में जो 'समग्रता' है, वह आज के किसी भी आलोचक के लिए स्पृहणीय है। किसी भी वस्तु को सही तौर पर समझने का अर्थ है, उसका अन्य वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इसे समझना और यह कि उस वस्तु का किस प्रकार विकास हुआ है और भविष्य में उसकी गति किधर है। आज की आलोचना में परम्परागत रस, अलंकार, छन्द की खोज या गणना करने वाले आलोचक इसीलिए डा. राघव की आलोचनाओं के महत्व को नहीं समझ पाते और इसीलिए भी कि उनकी ईश्वर, जीव और जगत सम्बन्धी धारणाओं पर भी प्रहार होता है।

"आओ ! लेखको ! मनुष्य की आत्मा के शिल्पियो ! अतीत के सारे लेखक हमारी ओर हैं और कह रहे हैं कि 'जितना हम मनुष्य के लिए अपने युग के बन्धनों में रह कर कर सकते थे, वह सब प्रगति हम तुम्हें देते हैं, उसे लो और मनुष्य के अन्तर्बाहर को सुन्दरतम बनाने के लिए, अपने व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थों को छोड़कर एक हो जाओ। उससे युद्ध करो, जो मनुष्य का शत्रु है, उन कारणों को मिटाओ, जिन्होंने आज तक के मानवतावादी मेधावियों और बलिदानी वीरों के तपस्पूत स्वप्नों को व्यर्थ कर दिया है, जिन्होंने बार-बार रूप बदल कर संसार को दुःख से भर दिया है।"

उक्त उद्धरण से रांगेय राघव की आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। कितना उदात्त और व्यापक स्वर है ! इसी के बल पर रांगेय राघव सीना तान कर नृसिंह के समान सभी प्रकार की बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष कर सके थे। उनका स्पष्ट कथन था कि वह सत्य के शोधक हैं, व्यक्तिगत विद्वेषी नहीं—"मेरे विरोधियों से मेरा कोई भी व्यक्तिगत वैमनस्य नहीं है"। सत्य के प्रति प्यास और हर हालत में अपना मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने लिखा है—

"मैं किसी पार्टी का सदस्य नहीं हूँ अतः जनता के प्रति वफादार हूँ"

आलोचना द्वारा उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपना प्रगतिशील चिन्तन लागू किया है। रस, सन्त सम्प्रदाय, गांधीवाद, भाषा, कम्यूनिष्ट पार्टी, प्रगतिशील आन्दोलन, ईश्वर, धर्म, प्रकृति, राजनीति, रोमांस, विभिन्नवाद, इतिहास—गरज़ कि कोई भी विषय अछूता नहीं रह गया है।

आलोचना के योगदान को वे स्वीकारते थे, वह यशपालजी की तरह पक्षपाती आलोचकों अथवा ईर्ष्या-द्वेष ग्रस्त समीक्षकों के विरोधी थे किन्तु आलोचना के योगदान को वह यशपालजी से अधिक समझते थे—वह कहते है कि क्रान्ति के पूर्व—"बौद्धिक परिवर्त्तन की जड़ें जमानी पड़ती है। एक विशेष अवस्था में जब समाज के विभिन्न वर्ग अपनी क्रान्तिकारी शक्तियो को काम मे लगा चुकते है, तब मजदूरवर्ग आगे आता है।"

सवाल यह है कि साहित्य और आलोचना द्वारा इस बौद्धिक जागरण का क्या स्वरूप रहा है। डा. राघव के अनुसार हिन्दी में प्रगतिशील आलोचन का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में रहा जो भारतवर्ष को समझ नहीं पाए, इसीलिए उनके अनुसार राजनीति और साहित्य—दोनो क्षेत्रों मे अन्धानुकरण अधिक हुआ—"हिन्दी में इस भावना (प्रगतिवाद) का विकास विलायत से लौटे हुए उन मध्यवर्गी या उच्चमध्यवर्गी युवको ने किया जो मार्क्सवाद से प्रभावित थे किन्तु जिनका ज्ञान भारत के विषय में नहीं के बराबर था। वे लोए भारत के इतिहास और संस्कृति को कुछ अंगरेजी अनुवादों के माध्यम से ही पढ़ सके थे"...जो नीव पड़ी, उसकी ईंट टेढ़ी गिरी और दुर्भाग्य से उसके ऊपर की इमारत भी ज़रा तिरछी ही उठी।"

इस कमी को पूरा करने के लिए उनकी आलोचना का लगभग एक तिहाई अंश भारतीय इतिहास और साहित्य की सही व्याख्या करने में लगा है। स्पष्टतः उनकी बहुत सी व्याख्याओं पर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ेगी किन्तु उनके प्रयत्न के पीछे कितनी व्यापक और दूर दृष्टि थी; यह भी स्पष्ट है। इस टेढ़ी इमारत को सीधा करने के सन्दर्भ मे ही डा. रांगेय राघव और डा. रामविलास शर्मा में लम्बी बहस छिड़ी जिसका अन्त स्वभावतः कटुता के साथ हुआ। किन्तु इस बहस को पढ़कर यह साफ लगता है कि प्रगतिवादी आलोचकों में सत्य के प्रति आग्रह इतना अधिक है कि वे आवश्यक शैलीसन्तुलन और शिष्टता की भी चिन्ता नहीं करते। रांगेयराघव की ऐसी आलोचनाएँ 'व्यंग्यात्मक आलोचना' अथवा 'तीखी नुक्ताचीनी' का दिलचस्प नमूना पेश करती है और इन आलोचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि देश की राजनीति के अतिरिक्त विश्व राजनीति को समझने में रांगेयराघव दक्ष थे। उन्होंने भारतीय साम्यवाद के कतिपय नेताओं और आलोचकों की अवसर-वादिता का पर्दाफाश करने में सीमाओं का भी ख्याल नहीं रखा है। इसका एक नमूना ही काफी है—

"युद्धोत्तर काल में (सन् 47 के बाद) भारतीय इतिहास और सामाजिक जीवन में नयी हलचल हुई और कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व अधकचरे भारतीय श्री पूरनचन्द जोशी के हाथ से निकलकर विशुद्ध आत्स्कीवादी श्री बी. टी. रणदिवे के ... चला गया और कम्यूनिस्ट पार्टी जनजीवन से दूर होगई और उसके बुद्धिजीवी

कुत्सित समाजशास्त्रियों ने भारतीय परिस्थितियों को बिल्कुल नहीं समझा और इस मोर्चे को (प्रगतिशील लेखक संघ) भयानक धक्का दिया और तोड़ दिया।''

प्रगतिशील चिन्तन को व्यापक बनाने के लिए डा. राघव ने मार्क्स की भारत सम्बन्धी धारणाओं में कतिपय धारणाओं को अस्वीकार किया और इतिहास की नवीन व्याख्या दी जो उनके 'भारतीय परम्परा और इतिहास' में पढ़ी जा सकती है किन्तु उनकी आलोचना-पद्धति यह थी कि प्रत्येक पुस्तक में वह ऐतिहासिक व्याख्या विस्तार से प्रस्तुत कर दिया करते थे। इस पुनरावृत्ति से ऊबकर कभी-कभी उनके मित्र खीझ उठते थे कि ''आप आलोचना लिखते हैं या इतिहास लिखा करते हैं?'' कुछ मित्रों का यह भी कहना था कि ''आपको आलोचना नहीं लिखनी चाहिये।'' इस सम्बन्ध में एक अपना अनुभव यों है—डा. राघव के 'काव्य कला और शास्त्र' प्रकाशित होने पर मैंने कुछ स्थापनाओं से मतभेद प्रकट किया। डा. राघव का आदेश हुआ कि 'लिखकर लाओ, मुंहजबानी आलोचना मैं नहीं सुनता।' मैंने एक निबन्ध प्रस्तुत किया तो पढ़कर बोले—''मित्र! मैं कुत्सितसमाजशास्त्र की जड़ता काटने के लिए लिखता हूं; तुम्हारा दृष्टिकोण भिन्न है।'' मेरा आग्रह था कि प्रगतिशील चिन्तन के प्रकाश में कला क्या है; कलाओं के उद्भव और विकास, व्यक्ति और समाज, चेतना पर बाह्यपरिस्थितियों के प्रभाव या स्वरूप और ऐसे ही अनेक प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया जाए और इस विचार के समय कुत्सितसमाजशास्त्र या राजनैतिक प्रश्नों को यथासम्भव अलग रखा जाए। उदाहरण के लिए प्रगतिवादी आलोचना में मार्क्सवादी सामान्य धारणाओं के अलावा साहित्य के मूल उपादानों पर तात्विक चर्चा हो और वह प्रचारात्मक शैली में न होकर गम्भीर शैली में प्रस्तुत हो। क्योंकि इस अभाव के कारण पुराने पण्डितों को यह कहने का अवसर मिलता है कि प्रगतिवादी आलोचना तात्विक कम और प्रचारात्मक अथवा ध्वंसात्मक अधिक होती है। रांगेय राघव इस आवश्यकता को महसूस करते थे और इन आधारभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र उन्होंने कतिपय सुझाव भी दिए हैं। उदाहरण के लिए यह कि व्याख्यात्मक आलोचना के लिए भारतीय काव्यशास्त्र की भौतिकवादी व्याख्या होनी चाहिए[1] और यह कि भारतीय काव्यशास्त्र का साधारणीकरण सिद्धान्त मान्य होना चाहिये तथा यह कि साहित्य में रस इसका मर्म है और काव्य-विधाओं में महाकाव्य सर्वश्रेष्ठ होता है। रसस्वाद स्वभावतः संशोधित रूप में उन्हें स्वीकार्य था क्योंकि रसवादी काव्य में चिन्तनात्मक तत्व का अभाव रहता है। आधुनिक युग में कोरे भावोद्गारों का साहित्य श्रेष्ठ रूप में स्वीकृत न हो सका। रस के सम्बन्ध में राघवजी का रसोदय सिद्धान्त उनकी इतिहास की व्याख्या से सम्बद्ध

1. यह कार्य मैंने, ''भारतीय काव्यशास्त्र—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में'' ग्रंथ में किया है, अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर, राजस्थान

है। रस के उद्भव (द्रष्टव्य, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ 304 तथा काव्य-कला और शास्त्र) के सम्बन्ध में उनका कथन था कि भरत का समय सामन्तवाद के उदय का समय था; इसीलिए आदि काव्य रामायण मे नए मानव ने भाग्यवाद को चुनौती दी और राम जैसे लोकनायक को जन्म दिया जो अपने पौरुष से समस्त विपत्तियों को मिटाता है।

रससिद्धान्त में 'सामान्य' मनुष्य की स्वीकृति है किन्तु इससे परिवर्तन स्पष्ट नही होता। साहित्य में इस युगानुरूप परिवर्तन पर राघवजी ने बहुत बल दिया है। प्रेम, क्रोध, भय आदि के विषय बदलते है और इनके चित्रण का स्वरूप युगानुरूप बदलता है। इसीलिए वह कहते है "मनुष्य सामान्य है और उसकी सामान्यता उसके चित्रण का आधार है, परन्तु वह (प्रगतिवादी) इतना ही खण्ड सत्य नहीं देखता। वह युग के अनुरूप परिस्थिति में रखकर मनुष्य के 'सामान्य' को देखता है। जिस प्रकार सामन्तकाल ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से धीरोदात्त आदि नायक की कल्पना की प्रतिष्ठापना की थी, उसी प्रकार नये रूपों को, नये सत्यों को प्रगतिशील लेखक स्थापित करता है, वह वर्गसंघर्ष को अपना और अतीत की सामाजिकता का वैज्ञानिक विश्लेषण मानता है। जब रसवादी कवि के वर्णित रस द्वारा युगान्तर तक पाठक में उसी भाव और रस के उदय की कल्पना करता है तब प्रगतिशील आलोचक उसे नहीं मानता।"

इस प्रकार रांगेय राघव की आलोचना में तात्विक चिन्तन का अभाव नहीं है किन्तु स्पष्टतः यह प्रारम्भिक स्थिति में है। उपर्युक्त व्याख्या के एक-एक बिन्दु को लेकर विचार की आवश्यकता है। इस प्रकार के सुझावों से रांगेय राघव की आलोचना भरी पड़ी है जो आगे के प्रगतिशील चिन्तकों के लिए आधार देते हैं और ऐसे स्थलो मे प्रचारात्मक तीखी शैली तात्विक शैली में परिवर्तित होती हुई दिखाई पड़ती है। वह ऐसे स्थलों में साहित्य के उस मर्म पर ध्यान देते है जिसके कारण वह स्थायी बनता है। 'मानवीयता' तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण साहित्य महान् बनता है, यह उनका मत है। वह कहते हैं कि साहित्य में केवल 'वर्ग संघर्ष' का वर्णन नही होता अपितु वह मानवीय भावनाओं की विभिन्न सीमाओं को छूता है, जैसे रवीन्द्र की रचनाओं में उर्वशी, सोनारतरी, देवयानी आदि।"

आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध मे डा. राघव ने भाषा के प्रश्न पर "प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड" में विचार किया है। खड़ीबोली और उर्दू के सम्बन्ध मे इतना सुलझा हुआ और सही दृष्टिकोण अन्यत्र दुर्लभ है, किस प्रकार एक ओर हिन्दूवादी लेखकों ने और "कुत्सितसमाजशास्त्रियों" ने इस प्रश्न को उलझाया है, यह दिखाने की डा राघव ने पूरी कोशिश की है और यह मत निर्धारित किया है कि संस्कृत और लोक परम्परा के आधार पर ही खड़ी बोली का विकास होना चाहिए। छायावाद के विषय में उनकी राय थी कि छायावाद में जनकल्याण का

नवीन आदर्श था, शुक्लजी ब्राह्मणवाद के कारण इसे स्वीकार नहीं कर सके। उसकी भाषा और शैली भी नवीन थी। छायावाद में पूंजीवादी समानता और स्वतन्त्रता व्यञ्जित हो रही थी, नए सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हो रही थी अतः फ्रायडवादी इसे जो कुण्ठा के रूप में देखते हैं, वह भी गलत है। प्रगतिवाद का वह कथा और आलोचना में कृतित्व स्वीकार करते है किन्तु काव्य के क्षेत्र में वह प्रगतिवाद को उतना सफल नहीं मानते, यों वह स्वयं एक अच्छे प्रगतिवादी कवि थे। उन्होंने डा. रामविलास शर्मा द्वारा निराला के प्रति अनुचित पक्षपात तथा महादेवी और पन्तजी की अनुचित निन्दा का घोर विरोध किया है।'

डा. रांगेयराघव की आलोचना उनके विशाल ज्ञान, गम्भीर चिन्तन, सुरुचि और सहृदयता की सुरभि से ओतप्रोत है, उससे सङ्कीर्णतावाद और अज्ञान से उत्पन्न अतियों का विरोध होता है, उससे हिन्दी साहित्य में शुक्लोत्तर आलोचना का प्रगतिशील पक्ष विस्तृत और पुष्ट हुआ है। साहित्य और जनजीवन में सब प्रकार के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष में डा. रांगेयराघव की समीक्षा एक प्रबल अस्त्र है, जिसकी धार तीखी है और जिससे प्रतिभाजन्य प्रकाश की किरणें विच्छुरित हो रही है।

□□□

20 | हास्य-व्यंग्यकार—हरिशंकर परसाई

हास्य और व्यंग्य के चुलबुले रूप रोज पत्र-पत्रिकाओं मे छपते रहते है किंतु परसाई के व्यंग्यो की प्रकृति भिन्न है। उनके व्यंग्य सोद्देश्य और साभिप्राय हैं और उनकी पृष्ठभूमि मे एक सुनिश्चित सामाजिक दृष्टि है।

लुसिएँ गोल्डमान ने अपने संरचनावाद (जैनेटिक स्ट्रक्चरलिज्म) की व्याख्या करते हुए किसी कृति की सार्थकता का निकष यह माना है कि उसमें या उससे एक सुसम्बद्ध विश्व (कोहरेंट यूनीवर्स) की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इस व्यक्त या अभिव्यंजित रचना—विश्व मे घटनाएँ, मानसिक दशायें, चरित्र-गठन आदि की एक रचनात्मक व्यवस्था मिली हो और इस रचनात्मकता के भीतर शैलीगत स्वतः स्फूर्तियो का सम्मिलन हो।[1]

यदि कोई सार्थक कृति एक सुविन्यस्त संसार है, अपने में एकान्वित है, तो उसकी आतरिक सरचना को देखना होगा और यह भी कि इस आंतरिक सृष्टि और बाह्य संरचना या बहिर्वृत्त या समाज के साथ उसका क्या संबध है?

हरिशंकर परसाई के व्यग्यों का केन्द्र बिन्दु उनकी यथार्थ को आर-पार देखने वाली दृष्टि है, जो 'मनुष्य' और 'समाज' का एक आदर्श सामने रखकर चलती है। परसाई के व्यंग्यों में सर्वत्र आज के बिगड़े हुए मनुष्य और विसंगत समाज का तिरस्कारक व्यंग्य, उपहास, प्रताड़ना और उच्चाटन है। उन्हें कहीं भी, कोई संगति, सामजस्य, समता, बधुत्व और सार्थकता नज़र नही आती। 'मुक्तिबोध' पर लिखे सस्मरण मे अवश्य उनकी धनात्मक दृष्टि उभरती है क्योकि मुक्तिबोध और परसाई, दोनो एक ही विश्वदर्शन के पक्षधर लेखक हैं और दोनों ने समाजवादी दृष्टि और सृष्टि के लिए आजीवन सघर्ष किया है, अतएव इस सस्मरण में परसाई सहानुभूति से सराबोर नजर आते है।

यदि 'शिकायत मुझे भी है' के व्यंग्यों के विषयो को ही देखा जाए तो मुक्तिबोध शीर्षक सस्मरण को छोड़कर अन्य सभी विषय सामाजिक यथार्थ से संबंधित हैं

1. The Sociology of Art—Milton C-Albrecht. London, Page 597, Part V, Lucien Goldmann.

और यह यथार्थ कहीं भी अमूर्त्त नहीं है, मूर्त्त और वास्तविक है। उनमें रोज-ब-रोज के जीवन के कष्टों, आडम्बरों और अनीतियों का उपहास है, जो लेखक की दूरगामी दृष्टि के कारण पाठक को झकझोरता है कि वह सोचे कि इस अन्तहीन यातना का कारण क्या है?

परसाई के व्यंग्यों में विद्ध यह दृष्टि ही उनकी रचनात्मकता का मुख्य घटक है। इसकी पहचान प्रायः नहीं हो पाती और साधारण पाठक सिर्फ अंतर्विरोधों के उद्‌घाटन के आंकपन या वक्रता का आनंद लेकर रह जाता है। मगर परसाई के व्यंग्य की चोट दुष्ट और भ्रष्ट समाज-व्यवस्था को नकार कर, उसकी जगह मानवीय समाज की स्थापना से सम्बन्धित है यानी परिणति की दृष्टि से परसाई का व्यंग्य मात्र नकार नहीं है, उसमें निषेध का निषेध है।

परसाई शैली की तात्त्विक दृष्टि से एक ही विधि सर्वत्र अपनाते हैं। इसे विरोधाभास उत्पन्न करने की विधि कहा जा सकता है। जो लेखक यथार्थदर्शी होते हैं और ऊपरी पाखण्ड को वेधकर भीतर की असंगति और अमानवीयता या कुरूपता को पहचान सकते हैं, उनकी मनोदशा सदैव लड़ाकू रहती है। इस मुकाबले की मनोगति में असंगति का दिग्दर्शन विरोधी तत्त्वों को एक साथ प्रस्तुत कर देने से सरलता से हो जाता है। अतः परसाई के सभी व्यंग्यों में संक्षिप्तता और सरलता के साथ विरोधात्मक वाक्यों या जुमलों का जमघट है।

विरोधात्मक रचना-प्रक्रिया से कहने के रवैये में ऊब नहीं रह सकती, एक फड़क उत्पन्न हो जाती है, एक काट आ जाती है जैसे ऊपर से दिल्लगी करते हुए कोई प्रतिपक्ष के मर्मस्थानों का मलीदा बना रहा हो। यह मजा ले लेकर, दुश्मन को मारने का तरीका 'विरोधात्मक' जुमलों और वाक्यों के बिना नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानात्मक लहजे में संकट यह होता है कि तात्त्विक लेखक वक्रता का प्रयोग न कर, धारणात्मक वाक्यों का प्रयोग करता है। इससे शैली भारी-भरकम होती है और साधारण पाठक ऊबता है; किंतु परसाई व्यंग्य के लिए विरोधी रंगों, पक्षों और प्रत्ययों को एक साथ प्रस्तुत करने की कला में अद्वितीय लेखक हैं।

आदर्शवाद (आइडियलिज्म) को निस्सार सिद्ध करने के लिए पोथे पर पोथे लिखे गये हैं, लेकिन हरिशंकर परसाई दो-चार भलीभांति तराशे हुए वाक्यों में, विरोधात्मक वाक्य-संरचना से आदर्शवाद को सारहीन सिद्ध कर देते हैं—

"मगर ज्ञानी न जाने क्यों मनहूस हो जाता है। फूल उसे दिखाओ तो वह उसकी जड़ का कीचड़ देखने लगता है और उदास हो जाता है, हाय, यह सौन्दर्य मिथ्या है। अज्ञानी, तब ज्ञानी से पूछता है—ज्ञानी जी, फूल ही मिथ्या है? कीचड़ मिथ्या क्यों नहीं है? ज्ञानी कहेगा—वत्स, ज्ञान का सार ही यह है कि जो

सुन्दर है, वही मिथ्या है ···तब अज्ञानी पूछता है—अगर सब मिथ्या माया है तो मठ की गद्दी के लिए शंकराचार्य हाई कोर्ट के मुकदमे क्यों लड़ते है?"[1]

'फूल और कीचड़' तथा 'शंकराचार्य और हाई कोर्ट के मुकदमों' का विरोधी रंग ही पाठक को चमत्कृत करता है किंतु यहाँ शैलीपरक चातुर्य मात्र नही है, इसके पीछे वह यथार्थवादी विश्वबोध भी है जो संसार को मिथ्या नही मानता और संसार को असार कहने वालों के निहित स्वार्थों और निम्नताओं को पकड़ लेता है—यह नुकीला बोध दृष्टिहीन व्यंग्यकारों में नही मिल सकता।

विरोधात्मक वाक्य संरचना हलकी पड़ जाती, यदि हरिशंकर परसाई, हमारी सामाजिक व्यवस्था की संरचना की असंगति से परिचित न होते, अतः परसाई के प्रहार गूँज पैदा करते हैं। पहले प्रहार नितान्त तात्कालिक अन्तर्विरोधों पर होते हैं लेकिन उनकी गूँज इस बोध तक जाती है कि यह सारा सामाजिक-राजनैतिक ढाँचा बदलना होगा क्योंकि सार्वभौमिक असंगति का उपाय ऊपरी सुधार नही, क्रांति है—

(1) "तुमने (विदेशों ने) गेहूँ दिया—लो चार वैज्ञानिक ले जाओ।" (पृष्ठ 9)

(2) "सुना है, इंगलिश चैनल, अपनी 'प्रॉपर चैनल' से कम चौड़ी है।" (पृष्ठ 10)

(3) "जिसने सबसे पहले पुलिस की लाठी के दोनों सिरों पर लोहे के गुट्टे लगाये, उसे भौतिक-शास्त्र का नोबुल पुरस्कार क्यों नही मिला?" (पृष्ठ 11)

(4) "सन्तों को परनिन्दा की मनाही होती है, इसलिए वे स्वनिन्दा करके स्वास्थ्य अच्छा रखते हैं।" (पृष्ठ 19)

(5) "मानवीयता उन पर 'रम' के 'किक' की तरह चढ़ती उतरती है।" (पृष्ठ 20)

(6) "कहीं न्याय 'सिक-लीव' पर तो नही चला गया?" (पृष्ठ 24)

(7) "झूठ बोलने के लिए सबसे सुरक्षित जगह अदालत है।" (पृष्ठ 29)

(8) "ब्लैकमेल को आजकल विद्रोह भी कहते हैं।" (पृष्ठ :1)

(9) "राष्ट्रीय पुरुष को मरघट मे 'सोर्स' मिल गया तो मुफ्त की लकड़ी में जिन्दा जल मरे।" (पृष्ठ 34)

(10) "अगर आप जूता मारना चाहते है तो कृपया पहले हमें सूचित कर दें, जिससे कार्यक्रम सुचारु रूप से चल सके!" (पृष्ठ 39)

---

1. "दूसरे के ईमान के रखवाले"

(11) मैंने अपनी सुविधा के लिए भाषण में हूटिंग के उपयुक्त कई स्थल रखे हैं।" (पृष्ठ 40)

(12) "जब-जब आदरणीय होने का खतरा पैदा होता तो कोई बेवकूफी या उचक्कापन कर जाता।" (पृष्ठ 45)

इसी तरह के विरोधात्मक कथन प्रकारों से हरिशंकर परसाई के व्यंग्यमय लेख भरे पड़े है। सर्वत्र एक ही रचना प्रक्रिया है, एक ही हस्तकौशल है, और वह यही कि उपहास या उच्चाटन के लिए उदात्त स्वर या लहजे के साथ अनुदात्त, गौरवमय भंगिमा के साथ अदेस और आदरास्पद रंग के साथ विडम्बक अदा का प्रयोग—यह विधि हरिशंकर परसाई को अब इतनी हिब्ज़ हो गयी है कि वह अपनी क्रीड़ाशील मनोवृत्ति बनाये रखकर किसी भी अवांछनीय प्रवृत्ति, अभिवृत्ति (एट्टीट्यूड) या गतिविधि का पर्दाफाश कर देते है और इसके लिए उन्हें बातों का बवंडर या भावुकता के भँवर भी नही बनाने पड़ते। सव्यंग्य मुद्रा में अपने को सदैव रखने वाला लेखक अपनी यथार्थवेधक दृष्टि और प्रत्युत्पन्नमति एवम् स्वराशील स्मृति के बल पर उपहास्य को उखाड़ने के लिए विरोधात्मक वाक्य गढ़ लेता है। प्रायः ऐसे वाक्य पूर्वदृष्ट असंगतियों के अनायास प्रस्फुटनों के रूप में उदित होते हैं।

पूर्व साक्षात्कारित यथार्थ का प्रवाह हरिशंकर परसाई के मन में लगातार चलता रहता है। इसे किसी भी प्रहारात्मक व्यंग्य में देखा जा सकता है—

"ना समझो, जिस लम्बी उज्ज्वल परम्परा की तारीफ कर रहे हो, वह तो चांदनी में छाता लगाकर चलती है। वह गुनगुने पानी के साथ तीन चुटकी त्रिफला खाकर बिस्तर पर लेटी है।"

जुकाम के डर से चांदनी में छाता लगाकर चलने वाले नबाबनुमा कोमल लोगों और बदहजमी के शिकार भारतीयों की भीरुता और 'डलनेस' को जो गौर से देख सकता है, वही उन्हें मस्त विदेशियों की तुलना में प्रस्तुत कर सकता है। आत्मग्रस्त, आत्मसम्मोहित व्यक्ति अपनी जीवन शैली को ही सराहते रहते है और कभी उनका ध्यान अपने सड़ेपन पर नहीं जाता। हरिशंकर परसाई इस सड़ेपन को सूँघ-सूँघकर उसे आत्मतृप्त लोगों को दिखाते है और उनकी आंखों में अँगुलियाँ डालकर कहते हैं कि—अपने को बदलो !

पर्यवेक्षणों की चुभनशीलता के अतिरिक्त परसाई के व्यंग्यों में कहीं-कहीं, विरोधपद्धति पर ही आधारित फंतासी भी है—

"सूर्य दिख जाता है। मुझे यह दृश्य अच्छा नही लगता। लगता है, कोई काली कुरूपा स्त्री माथे पर रेखड़ी पहने हो ""पिछले महीने, मैंने सूर्य को निकलते देखा तो लगा, राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। चन्द्रमा का सप्तर्षि मन्त्रिमण्डल और नक्षत्रों की विधानसभा भंग। संविद के घटकों में पटी नहीं। अब गृहमन्त्री का किरणों का डंडा है और हम !"

(पृष्ठ 52)

विडम्बना के रूप में भी फंतासी का यह रूप कितना कचोटक है—

"मेरे सामने झोपडी के सामने एक आदमी बैठा हुआ एकटक डूबते सूर्य को देख रहा था। वह बड़ा सौदर्य-प्रेमी मालूम होता है, पर ज्यो ही सूर्य डूबा, वह लोटा लेकर रास के नाले मे उतर गया !" (पृष्ठ 54)

सौंदर्यबोध के लिए भी आवश्यक सुविधाएँ चाहिये—इस जीवन-सत्य को सीधे न कहकर किस विडम्बक लहजे में कहा गया, यह देखने योग्य है। परसाई का ध्यान सर्वत्र मनुष्य की स्थिति पर रहता है और उनका यही मानव-प्रेम उनके व्यंग्यों को इतना प्रिय बनाता है। यहाँ यह भी व्यंग्य है कि हमारे शासक और धनीमानी लोग महान् स्मारकों की जगह यदि जनता के लिए शौचालयों का निर्माण करा देते तो जनता अधिक सौंदर्यप्रेमी होती।

विपरीत कथन-पद्धति सिर्फ बातें बनाने से नहीं आती, जीवन के निरीक्षण से आती है। कबीर की उलटबांसियों में जीवन और समाज की विचित्र स्थितयों का परिज्ञान छिपा हुआ है। जो सिर्फ बात से बात निकालते या कातते है, वे बातूनी या भांड़ कहलाते हैं और कुरूपता की सृष्टि करते हैं, जबकि हरिशंकर परसाई कुरूपता का अनावरण कर उसे दूर करने की प्रेरणा देते है; उनमे हलका हँसोड़पन नही, भंडाफोड़पन है, ऐसा जो प्रतिपक्षी को तिलमिला दे और फिर भी वह लेखक की वार्ताकला पर हँस पडे।

हरिशकर परसाई के व्यंगों की आन्तरिक संरचना और बाह्य यथार्थ में सीधा सम्बन्ध है। उनकी बात, यथार्थ के समानान्तर नही, यथार्थ से परदा उठाती हुई चलती है, वह यथार्थ की शल्यक्रिया करते है, उसे सहलाते नही है। परसाई का व्यग्य-लेखन मनोरंजनात्मक जनसघर्ष है। वह जनहित को केन्द्रस्थ कर जनशत्रुओ, उच्चवर्गों, शासकों आदि परजीवी लोगों को ही नही, अपने जनपक्ष के साथियो के अन्तर्विरोधो को भी नही बख्शते और यही चीज़ परसाई को बड़ा व्यग्यकार बनाती है।

कृतित्व के साथ ही, अन्त में, हरिशंकर परसाई के व्यक्तित्व की भी एक झलक देख ली जाए।

मैं परसाई के व्यंग्यों को पढता रहा हूँ पर उनसे मिलने का संयोग सिर्फ एक दो बार हुआ। भोपाल मे, घोर आपातकाल के समय श्री अशोक वाजपेयी ने एक लेखक सम्मेलन बुलाया था। श्री धनंजय वर्मा और श्री शानी के आग्रह पर मुझे भी आमंत्रित किया गया। मैं पहली बार अशोक वाजपेयी के समारोह में गया था, यों शकित था कि वहाँ सरकार-समर्थक लेखकों का जमघट होगा और उनके मध्य मैं क्या कर सकूँगा ?

तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने, उद्घाटन तथा पुरस्कार वितरण समारोह मे घोषित किया कि लेखक निर्भय होकर आपातकाल या 'अनुशासन

पत्रं' में सरकार की भूमिका और उपलब्धियों पर विचार करें और अपना मत प्रकट करें। लेखकों में कुछ जान आई पर धुकपुक भी लगी थी कि कहीं सरकार विपरीत मत प्रकट करने पर सख्ती पर न उतर आए।

प्रथम विचारगोष्ठी के तीन अध्यक्ष बनाये गये थे—श्री शिवमंगल सिंह सुमन, डॉ. नामवर सिंह और मैं। लेखक बहुत सहमे-सहमे बोल रहे थे। अचानक, एक लेखक ने मुझे एक तरफ बुलाया और कहा कि इस सरकार ने अभी एक लेखक को गिरफ्तार कर लिया है और यहाँ वह आप सबसे समर्थन बटोरना चाहती है। मैंने उस साथी से कहा कि आप हममें ज्येष्ठ अध्यक्ष, सुमन जी से कहें कि इस स्थिति पर विचार हो। सुमन जी ने मस्ती में अनुमति दे दी। नामवर सिंह चालाक चुप्पी धारण कर गये। उस लेखक ने सबके सम्मुख, कहीं मध्य प्रदेश में एक किसी लेखक की गिरफ्तारी की बात कही। मैंने कहा कि हम यहाँ आतिथ्य और किराया वसूली के लिए नहीं, लेखक के रूप में अपनी बात कहने आये हैं, अतः आप लोग निस्संकोच अपना अभिमत प्रकट करें।

उस लेखक की गिरफ्तारी पर चिन्ता प्रकट की गई और सत्ता के स्वरूप और भूमिका पर विचार करते हुए हरिशंकर परसाई ने कई बार कहा कि सरकार की भूमिका में कुछ उपलब्धियाँ और कई न्यूनताएँ हैं। परसाई, मेरे इस विश्लेषण से सहमत थे कि सरकार ने कुछ सुधारात्मक कदम उठाये हैं, उन्हें 'क्रांति' जैसा अतिगौरवपरक नाम देना ठीक नहीं है। क्रांति में सारे प्रयत्न और योजना, सूत्र और सुधार, एक आमूलचूल परिवर्तन की समग्र दृष्टि के अनुरूप होते हैं, अतः सत्ता का स्वरूप सुधारवादी है, क्रांतिकारी नहीं। इसके अतिरिक्त मंत्रियों की भी आलोचना की गई।

मैं यह देख रहा था कि हरिशंकर परसाई और नामवर सिंह के रवैये में इतना अन्तर क्यों है? अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह, सत्ता का अप्रत्यक्ष समर्थन कर रहे थे। नामवर ने तो प्रत्यक्षतः विद्रोह के साहित्य पर छींटाकशी की और सत्ता प्रतिष्ठान के विपक्ष में एक शब्द नहीं कहा जबकि हरिशंकर परसाई ने साफ कहा कि कोई जनक्रांति नहीं हो रही है, जहाँ तहाँ कुछ अच्छे कदम उठाये गये हैं पर कष्ट भी कम नहीं है।

व्यंग्यकार परसाई और मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक की भूमिका का अन्तर देखकर मैं आश्वस्त हुआ कि हमारे लेखक श्री परसाई किसी भी दशा में जनपक्ष को छोड़ने वाले नहीं हैं, आलोचक भले ही ठकुरसुहाती कहें।

इसी सन्दर्भ में यह जानना भी दिलचस्प है कि हरिशंकर परसाई को ही यह काम सौंपा गया कि वह मुख्यमन्त्री से मिलकर उस गिरफ्तार लेखक को मुक्त कराएँ और परसाई इस कार्य में सफल हुए। चूँकि, मैंने ही उस लेखक की गिरफ्तारी के विषय को उठवाने में मदद की थी, अतः शानी जी से जवाबतलब किया गया कि

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय को क्यों बुलाया गया, किसने बुलाया ? शासो को शर्मिन्दा होना पड़ा था।

डॉ. धर्मवीर भारती ने इस सब की पूछताछ न कर, 'धर्मयुग' के होली अंक (1979) में दिल्लगी की कि विश्वम्भर नाथ उपाध्याय आपातकाल में अफसरों द्वारा आमंत्रित सम्मेलन में गये, लेकिन यह नहीं लिखा कि वहाँ उपाध्याय जी ने क्या किया या क्या कहा ? सन्दर्भ को तोड़-मरोड़कर एक उद्धरण भी मेरे नाम पर यों चिपकवा दिया, गोया, मैं सरकार या उसके अधिकारी श्री अशोक बाजपेयी की प्रशंसा कर रहा था।

उस सम्मेलन में हरिशंकर परसाई और मैं ने ही, सत्ता की भूमिका का सही मूल्यांकन किया था। इस तथ्य को मैं अब लिख पा रहा हूँ, इसके लिए भी परसाई ही निमित्त बने।

परसाईजी के व्यक्तित्व के प्रति मेरा आदर तभी से बढ़ा यों मैं उनके व्यंग्यों की मार का कायल था।

श्री हरिशंकर परसाई के व्यंग्य, इसी ईमानदार, जनपक्षधर व्यक्तित्व से उदित होते हैं। इसी व्यक्तित्व ने अपने प्रगतिशील रुखों और विचारों के लिए बहुत कुछ सहा है, दक्षिणपंथी तत्वों से शारीरिक यातना भी भोगी है और इस विषय और विसंगत व्यवस्था में अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सतत संघर्ष किया है। व्यंग्य, इस संघर्ष से उत्पन्न तीखेपन से ही धारदार बनता है। परसाई की दिल्लगीबाजी के पीछे, जो आँच और दग्धता है, उसे लोग भूल जाते हैं। सार्थक लेखन कोई कल्पना-प्रसूत वस्तु नहीं होती, वह मात्र वक्ता की बाजीगरी नहीं है, उसमें लेखक की आतंरिक सरचना और बाह्यवृत्त का द्वन्द्व बोलता है और यह द्वन्द्व जितना ही दीर्घ और दाहकारक होता है, जटिल और जीवंत होता है, उतना ही वह प्रभावक होता है अतः परसाई का व्यंग्यमय लेखन, समझने में सरल मगर अनुभव और विश्लेषण में जटिल और विविधायामी है। उसमें एक प्रखर सामाजिक चेतना का वेधक परन्तु क्रीड़ाशील संचरण है और उसका प्रयोजन जनमुक्तिबोधक है।

जो गोली लम्बी नली म से सन्नाती हुई निकलती है, वह अधिक विस्फोटक होती है। मुझे हरिशंकर परसाई की लम्बी पतली काया बन्दूक की नली-सी लगती है, जिसमें से व्यंग्य सन्नाता हुआ निकलता है और जनशत्रु को छार-छार कर देता है।

लेखन-संघर्ष के इस साथी को और अधिक प्रहार-क्षमता की शुभकामनाओं के साथ इस अवसर पर सैल्यूट कर रहा हूँ।

□ □ □